दो शब्द

यह पुस्तक मेरी Banking Principles : In India नाम की पुस्तक का स्वतन्त्र अनुवाद है। कथित पुस्तक की लोकप्रियता इसी से सिद्ध होती है कि उसके इस थोड़े से समय के अन्दर ही चार संस्करण हो चुके हैं।

बैंकिंग का विषय उन विषयों में से है जिनके ज्ञान की आवश्यकता आजकल प्रत्येक व्यक्ति को है। अतः, इस पुस्तक की बहुत आवश्यकता थी। मैंने इसमें भारतीय बैंकिंग की मुख्य मुख्य समस्याओं पर यथेष्ट प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है और मैं यह आशा करता हूँ कि इसके पढ़ने से जनता के हृदय में इनके प्रति दिलचस्पी बढ़ेगी। इधर शिक्षा का माध्यम भी हिन्दी हो गया है। अतः, इससे अध्यापक और विद्यार्थी भी पूर्ण लाभ उठा सकेंगे।

लेखक

विषय-सूची

अध्याय १

विषय प्रवेश

बैंकिंग का विषय वास्तव में अर्थ शास्त्र के विषय का ही एक अङ्ग है। किन्तु आज-कल के आर्थिक संगठन मे इसका महत्त्व इतना बढ़ गया है कि हम लोगों के लिये इस पर विशेष ध्यान देना आवश्यक हो गया है। सच बात तो यह है कि किसी देश की औद्योगिक तथा व्यापारिक उन्नति इस समय अधिकांश मे उसके बैंकिङ्ग के संगठन की कुशलता पर ही निर्भर है। अतः, हम लोग यहाँ पर इसका अध्ययन पृथक रूप से ही करेंगे।

बैंकिंग का अर्थ

'बैंकिंग' शब्द एक प्रकार से द्रव्य (Money) के व्यवसाय के लिये प्रयोग में आता है। अब, इस द्रव्य के व्यवसाय में विशेषतया निम्नांकित बातें सम्मिलित हैं :—(१) द्रव्य का पारस्परिक विनिमय (Exchanging of Money), (२) द्रव्य उधार देना (Lending of Money), (३) द्रव्य जमा के रूप में लेना (Depositing of Money) और (४) द्रव्य को एक स्थान से दूसरे स्थानों को भेजना (Remitting of Money)।

अधिकांश देशों में उपर्युक्त कार्य उपर्युक्त क्रम से ही आरम्भ हुये हैं। हमारे ही देश मे वैदिक काल में, महाजन लोग भिन्न-भिन्न मुद्राओं (coins) को बदलने का काम किया करते थे। इसमें एक राज्य की मुद्राओं को दूसरे राज्य की मुद्राओं में बदलना और एक प्रकार की मुद्राओं को दूसरे प्रकार की मुद्राओं में बदलना दोनों ही सम्मिलित थे। साथ ही वे अपेक्षित (needy) लोगों को व्याज पर अथवा बिना व्याज के ही ऋण भी दिया करते थे। बाद मे, शायद मनु के बहुत पहिले वे लोग अपने यहाँ द्रव्य को जमा के रूप मे भी लेने लग गये थे और अन्त में उसको एक स्थान से दूसरे स्थानों को भेजने का काम भी करने लगे थे। इङ्गलिस्तान में भी सन् १३४४ में तृतीय एडवर्ड ने अपने यहाँ सोने और चाँदी की मुद्राओं को बदलने के लिये कुछ राजकीय महाजनों की नियुक्ति की थी। ये लोग प्रत्येक सौदे में १६ प्रति-

शत का लाभ लेते थे। साथ ही ये लोग वहाँ की मुद्राओं का अन्य देशों की मुद्राओं के साथ भी विनिमय करते थे। इसके लिये उनके यहाँ विनिमय की दरों की एक तालिका लटकी रहती थी जिसके अनुसार ही उनको विनिमय करना पड़ता था। उनके विनिमय के लाभ में राजा का भी एक भाग रहता था। वहाँ पर साधु एडवर्ड के समय में उधार देने की भी पद्धति चालू हो चुकी थी। यहाँ तक कि धीरे-धीरे यहूदी और रूसी लोग वहाँ के मुख्य ऋणदाता (Money-lenders) बन गये थे और जब इन लोगों को देश के बाहर निकाल दिया गया तब इनका स्थान वहाँ के सर्राफों (Goldsmiths) ने ले लिया। जमा लेने का काम अवश्य ही वहाँ पर सन् १६४० के बाद ही बढ़ा। उस समय तक जनता अपना द्रव्य राजकोष में ही जमा करती थी, किन्तु इस वर्ष प्रथम चार्ल्स ने उनके अपहरण की आज्ञा निकाल दी। इसमें सन्देह नहीं कि यह आज्ञा बाद मे वापस ले ली गई थी, किन्तु इससे राजकीय मर्यादा भङ्ग हो गई और लोग अपना द्रव्य राजकोष में जमा करने की अपेक्षा सर्राफों के यहाँ जमा करना अधिक पसन्द करने लगे। द्रव्य को एक स्थान से दूसरे स्थानों में भेजने के लिये पहिले तो मनुष्य काम में लाये जाते थे, किन्तु बाद में यह काम विनिमय के बिलों के द्वारा होने लगा, जिनको पहिले तो केवल व्यापारी वर्ग ही खरीदा और बेचा करते थे, किन्तु बाद मे महाजन वर्ग (Bankers) भी खरीदने और बेचने लगे। आधुनिक काल में बैंकिंग के अन्दर यह सभी काम सम्मिलित हैं और कुछ और भी जिनका अध्ययन हम उचित स्थान पर करेंगे।

बैंकिंग की उत्पत्ति

उपर्युक्त से यह स्पष्ट है कि बैंकिंग का काम किसी न किसी रूप मे भारतवर्ष में ही बहुत ही प्राचीन काल से होता आ रहा है। फ्रान्सीसी लेखक रेवलपुट का कहना है कि बैंक और बैंक नोट बेबीलोनिया में ईसा के ६०० वर्ष पूर्व भी प्रचलित थे। किन्तु बैंकिंग शब्द का पहिले-पहिल प्रयोग शायद इटली में ही मध्य काल में वेनिस के बैंक की स्थापना के साथ ही हुआ था। इस समय उस देश में बहुत से गण राज्य (city states) थे, जो आपस में लड़ा करते थे। सन् ११७१ में ऐसा हुआ कि वेनिस का राज्य अपने पड़ोसी राज्यों के साथ युद्ध

में फँसे रहने के कारण एक बड़े आर्थिक संकट में पड़ गया। जब परिषद् (Grand Council) के सामने और कोई चारा न रहा तब उसने प्रत्येक नागरिक से उसकी सम्पत्ति के एक प्रतिशत का अनिवार्य ऋण माँगा। इस पर पाँच प्रतिशत का वार्षिक व्याज भी रखा गया। ऋण दाताओं को व्याज देने का और ऋण पत्रों की लेवा-वेची का प्रबन्ध करने के लिये कमिश्नरों की भी नियुक्ति की गई। इटालियन भाषा में ऐसे ऋण के लिये 'मौन्टे' (Monte) नामक एक शब्द है। 'मौन्टे' के हिन्दी अर्थ पहाड़ है। वास्तव मे इस ऋण से जो द्रव्य एकत्रित हो गया था वह पहाड़ की ही तरह दिखाई पड़ता था। 'मौन्टे' के लिये ज्वाइन्ट स्टाक फण्ड (Joint Stock Fund) भी प्रयोग मे आता था। ज्वाइन्ट स्टाक फण्ड के हिन्दी अर्थ है सम्मिलित पूँजी कोष। वास्तव मे ऋण की रकम सम्मिलित पूँजी तो थी ही। इस समय मे इटली के एक बहुत बड़े भाग पर जर्मनी का अधिकार था। अतः, वहाँ पर 'मौन्टे' का जर्मन पर्यायवाची शब्द बैंक (Banck) भी प्रयोग मे आने लगा। धीरे-धीरे इटली वाले इसको बैंको (Banco), फ्रान्स वाले बैंके (Banke) और अन्त मे अँग्रेज इसको बैंक (Bank) कहने लगे। वेनब्रिग के लेखों से, जिनमे उसने वेनिस के सरकारी ऋणों का वेनिस के तीन बैंकों (Bankes) से संकेत किया है, यह पता लगता है कि अँग्रेज लेखक सत्रहवीं शताब्दी में भी बैंके (Banke) शब्द का ही प्रयोग करते थे। ऐसे बैंक बाद में इटली के अन्य नगरों मे भी स्थापित हो गये थे। इनमे मिलन का बैंक, फ्लारेन्स का बैंक और जनोआ का सेन्ट जार्ज बैंक, इत्यादि थे। क्रामवैल के समय मे इंगलिस्तान मे भी उपर्युक्त परिस्थितियों मे ही एक बैंक की स्थापना करने के लिये एक प्रस्ताव किया गया था, किन्तु जैसा कि हमको अगले अध्याय के अध्ययन से पता चलेगा, यह सन् १६९४ के पहिले सफलीभूत नहीं हो सका। इस वर्ष ऐसी ही परिस्थितियों मे जिन लोगों ने वहाँ की सरकार को ऋण दिया था उन सबों का एक बैंक "बैंक आफ इंगलैंड" के नाम से बना और उसको सरकार से एक वार्षिक आय दी जाने लगी।

इस शब्द की उत्पत्ति एक अन्य तरह से भी अनुमानित की जाती है। इसके अनुसार ऐसा कहा जाता है कि इस शब्द की उत्पत्ति 'बैंक' शब्द से है जिसका अर्थ एक ऐसी बेञ्च है जिस पर इटली के

महाजन अपने सामने भिन्न-भिन्न प्रकार के सिक्कों को इस बात को दिखलाने के लिये रखते थे कि वे उनका व्यवसाय करते हैं। किन्तु मैकलिओड अपनी पुस्तक 'बैंकिंग के सिद्धान्त और उनके प्रयोग' (Banking Theory and Practice) में इस विचार का बुरी तरह से खण्डन करता है। उसका कहना है कि यह उत्पत्ति बिल्कुल भ्रमोत्पादक है। यदि ऐसा था तो इन महाजनों को मध्यकाल में बैन्चियरी (Benchieri) क्यों नही कहा गया? उसने अपने कथन की सत्यता को प्रमाणित करने के लिये अन्य कई लेखकों द्वारा दिये गये प्रमाणों को भी दिया है। अन्त में वह कहता है कि यह विद्वान लेखक बहुत ही ठीक कहते हैं। बैंकों का वास्तविक अर्थ एक ढेर अथवा पहाड़ है और यह शब्द बहुत से लोगों के द्वारा एकत्रित किये गये एक सम्मिलित कोष का द्योतक है।

बैंकिंग की परिभाषा

बैंक अथवा बैंकर शब्द की अनेकों परिभाषाओं* के होते हुये भी विचित्रता तो इस बात की है कि आज तक इसकी कोई ऐसी सन्तोषजनक परिभाषा नहीं बनी है जो सर्वमान्य हो। इसका एक

* Definitions by eminent authorities on the subject:—

(1) The word bank expresses the business which consists in effecting on account of others receipts and payments, buying and selling either money of gold and silver or letters of exchange and drafts, public securities and shares in industrial enterprises—in a word—all the obligations whose creation has resulted from the use of credit on the part of states and societies and individuals—*Gautier*.

(2) No one and nobody corporate and otherwise can be a banker who does not (i) take deposit accounts, (ii) take current accounts, (iii) issue and pay cheques drawn upon himself, (iv) collect cheques crossed and uncrossed for his customers—and it might be said that even if all the above functions are performed by a person or body corporate, he or it may not be a banker or bank unless he fulfils the following conditions: (i) banking is his or its known occupation, (ii) he or it must profess to be a banker or bank and the public take him or it as such, (iii) has an intention of earning by so doing, (iv) this business is not subsidiary—*John Paget*.

मात्र कारण यही है कि वैकिंग में अनेकों प्रकार के कार्य्य सम्मिलित हैं, जिससे कि उन सब का एक परिभापा के अन्तर्गत लाना असम्भव सा है। अधिकांश देशों में तो यह विधानतः निर्धारित ढङ्ग से ही किया जाता है जिससे कि इसके वैधानिक अर्थ मे लेश मात्र भी सन्देह नहीं रह जाता है। किन्तु जितने लोग अथाव जितनी संस्थायें इस काम को करती हैं वे सब विधान की पकड़ मे नहीं आती। हमारे ही देश मे वैकिंग कम्पनी की एक परिभाषा सन् १९३६ के कम्पनी विधान की २७७वीं* धारा में दी हुई है, किन्तु रिजर्व बैंक आफ् इंडिया ने इस वात की अनेकों शिकायतें की थीं कि वहुत से बैंक उस धारा के अन्तर्गत दिये हुये कामों के न करने के कारण उनको अपने सम्वन्ध मे, जो सूचनाये उसको देनी चाहिये, नहीं देते थे। यही कारण था कि सन् १९४२ में उक्त धारा मे निम्न आशय का एक संशोधन जोड़ा गया था— 'यदि कोई कम्पनी अपने नाम के साथ बैंक अथवा वैकिंग शव्द का प्रयोग करती है तो चाहे उसके यहाँ चालू खातों मे द्रव्य जमा किया जाता हो अथवा नही वह वैंकिंग कम्पनी समझी जायगी।' संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में बैकों को संघ सरकार से अथवा किसी स्टेट सरकार से एक अधिकार पत्र प्राप्त करना पड़ता है। साथ ही उनके कार्यों को भली भाँति बता दिया गया है और उनको उन्हे विधानतः निर्धारित ढङ्ग पर करने के लिये वाध्य किया जाता है। स्थान-स्थान पर ऐसे निरीक्षक नियुक्त है जो उनकी

---

(3) A banker or bank is a person, firm or company, having a place of business where credits are opened by the deposit or collection of money or currency subject to be paid or remitted upon draft, cheque or order or where money is advanced or loaned on stocks, bonds, bullion and bills of exchange, and promissory notes are received for discount and sale—*Findlay Shirras.*

(4) Bank is an establishment which makes to individuals such advances of money or other means of payment as may be required and safely made and to which individuals entrust money or means of payment when not required by them for use—*Kinley.*

(5) A banker is one who, in the ordinary course of his business, honours cheques drawn upon him by persons from and for whom he receives money on current account—*Dr H. L. Hart.*

* परिशिष्ट 'अ' देखिये

देख-रेख करते हैं। किन्तु इतने पर भी अनेकों संस्थायें ऐसी बच जाती है जो किसी न किसी प्रकार का बैंकिंग का कार्य करती हैं और फिर भी विधान के अन्तर्गत नहीं आती हैं। इसके विपरीत इंगलिस्तान में कोई भी ऐसी वैधानिक परिभाषा नहीं बनी है। सन् १७४५ मे महासभा (House of Commons) में दी गई एक वक्तृता के निम्न आशय के अंश को गिल्बर्ट ने अपनी एक पुस्तक मे उद्धृत किया है— "हम बैंकर किसको कहते है? इस नगर में सर्राफों का एक गुट्ट है और अधिकांश मे जो बैंकर्स कहलाते हैं, इसी गुट्ट के अंतर्गत आते हैं, किंतु जहाँ तक मुझे ज्ञात है इनमे से कोई भी अपने को बैंकर नही कहता और न इस व्यवसाय का विधानतः कहीं वर्णन ही किया गया है। प्रचलित प्रथा के अनुसार हम ऐसे लोगों को बैंकर्स कहते हैं जिनकी दूकाने हैं, उनमे कटघरे है, काम करने वाले हैं, दूसरों का द्रव्य जमा करने के लिये और माँगने पर उनके वापस करने के लिए रजिस्टर हैं। जब कोई व्यक्ति ऐसी दूकान खोल लेता है तब चाहे उसके यहाँ रकमें जमा होती हों अथवा नहीं, इस बात की पूछ-ताछ किये बिना ही हम उसे बैंकर कहते है।" तब से अब तक स्थिति बहुत ही बदल गई है। सर्राफ महाजन (Goldsmith Bankers) समाप्त हो चुके हैं। अपने को बैंक कहने वाली कम्पनियाँ स्थापित हो चुकी हैं। किन्तु यह तो अब भी सत्य है कि वहाँ पर विधानतः बैंकिंग की आज भी कोई परिभाषा नहीं है। वाल्टर लीफ कहता है "तथापि कम से कम आज तो इंगलैण्ड मे सर्वसाधारण को बैंकिंग शब्द का एक बहुत ही स्पष्ट ज्ञान है। किन्तु यदि इसकी कोई परिभाषा बनाई जाय तो वह अवश्य ही उस परिभाषा से भिन्न होगी, जो अन्य किसी देश मे है अथवा इसी देश में एक सौ वर्ष पहिले होती। उसने जो परिभाषा दी है वह इस आशय की है 'बैंक वह व्यक्ति अथवा संस्था है जो सर्व-साधारण का द्रव्य चेक से माँगने पर तुरन्त ही वापस करने की शर्त पर जमा करने के लिये तय्यार रहता है अथवा रहती है।' इस परि-भाषा मे जैसा कि उसने स्वयम् कहा है बैंकिंग के व्यवसाय के केवल एक ही अङ्ग का उल्लेख है। किन्तु इंगलैण्ड में तथा उन सभी देशों में जिनमे इगलैण्ड की ही बैंकिंग के अनुरूप बैंकिंग की उन्नति हुई है और उनमे हमारा भारतवर्ष भी सम्मिलित है इसी एक काम के बहुत महत्त्वपूर्ण होने के कारण उक्त परिभाषा कम से कम आधुनिक काल मे

तो अवश्य ही ठीक मानी जा सकती है। किन्तु अन्य देशों में विशेषतया यूरोपीय देशों में, जहाँ चेकों का इतना चलन नहीं है, किसी अन्य काम को लेकर इस परिभाषा को बनाना पड़ेगा। फ्रांसीसी लेखक बैंक शब्द की अपनी परिभाषाओं में बिलों पर, अथवा अन्य प्रकार से ऋण देने पर अधिक महत्त्व देते है।

एक अन्य बात भी है जिसको कभी भी नहीं भूलना चाहिये और वह यह है कि बैंक बिलों पर अथवा अन्य प्रकार से केवल उतना ही ऋण देने की क्षमता नहीं रखते जितना उनके यहाँ जमा होता है। सत्य तो यह है कि वह ऋणदाताओं और ऋण लेने वालों के बीच में केवल मध्यस्थ ही नहीं है और यदि कोई परिभाषा ऐसा बताती है तो वह सन्तोषजनक नहीं ठहर सकती है। लन्दन के सर्राफों ने जो कि इंगलैंड के सर्वप्रथम महाजन (Bankers) थे अपनी उन्नति के प्रारम्भ ही मे इस बात को समझ लिया था कि उनके यहाँ जितना द्रव्य जमा किया जाता है उससे कई गुना अधिक वह ऋण दे सकते है। वास्तव में यही बैंकिंग के व्यवसाय की विशेषता है; यद्यपि बहुत बड़े-बड़े लेखक भी कभी-कभी इस बात को भूल जाते है। वे लोग जितना द्रव्य जमा हो उससे अधिक ऋण देने के सर्वथा विरुद्ध रहे है। वेनिस, एम्सटर्डम और हैम्बर्ग के बैंक उनमें जमा किये गये द्रव्य की सीमा के अन्दर ही अपने नोट निकालते थे। मिल ने लिखा है कि नोटों का चलन राष्ट्र के लिये हितकर है, किन्तु उनको जमा की हुई रकम से अधिक रकम मे निकालना एक प्रकार की ठगी है। वास्तव मे यदि आज-कल की बैंकिंग के सिद्धान्त को देखा जाय तो वह यही है और यदि मिल की बात मानी जाय तो ठग और ठगी सभी जगह प्रचलित हैं। बैंकिंग की सफलता तो उपलब्ध साधनों को कई गुना बढ़ा देने पर ही निर्भर है। इस सम्बन्ध की सारी स्थिति केवल इसी वाक्य से स्पष्ट हो जाती है कि दूसरों का द्रव्य और महाजनों की बुद्धि (The Bankers' brain and others' money) यही बैंकिंग का व्यवसाय है।

अभी यहाँ पर कुछ अन्य भ्रमोत्पादक विचारों का स्पष्टीकरण करना भी आवश्यक है। प्रथम तो यह कि ऋण देने के काम के बैंकिंग के मुख्य काम होने के साथ ही केवल यही उसके लिये यथेष्ट नहीं है। अतः, हम यह कह सकते हैं कि ऋणदाता केवल ऋणदाता होने

पर ही वैंकर नही कहे जा सकते है। बैंकर कहे जाने के लिये यह आवश्यक है कि वे द्रव्य को जमा के रूप में भी ले क्योंकि बैंकिंग के व्यवसाय मे द्रव्य का जमा के रूप मे लेना और ऋण देना दोनों सम्मिलित है। अकेले एक से बैंकिंग का व्यवसाय पूरा नहीं हो सकता है। दूसरी बात यह है कि साख (Credit) के उत्पादन का, जो बैंकिंग के कार्य का एक मुख्य अंग है, यह अर्थ नहीं है कि उसके लिये नोटों को चलाने के अधिकार का होना आवश्यक है। वास्तव मे इसी भ्रमपूर्ण विचार के कारण इंगलैण्ड मे सम्मिलित पूँजी की वैंकिग की बहुत दिनों तक उन्नति नही हो सकी। वैंक आफ् इंगलैण्ड के अधिकार-पत्र के परिवर्तन के सम्बन्ध मे सन् १७०८ मे जो विधान बना था उसने उक्त बैंक को छोड़कर अन्य किसी ऐसे वैंक को, जो छः व्यक्तियों से अधिक को मिलाकर वना हो, नोटों को चलाने के काम के करने को मना कर दिया था। किन्तु उस समय के लोगों का यह विश्वास था कि नोटों को चलाने के काम को छोड़कर कोई वैंक वैंकिंग का काम कर ही नहीं सकता है। अतः, उपर्युक्त मनाही के कारण उस देश में बहुत दिनों तक सम्मिलित पूँजी के किसी अन्य बैंक की स्थापना हो ही नहीं सकी। हाँ, सन् १८३३ के उस विधान मे जो बैंक आफ् इंगलैण्ड के उस वर्ष के अधिकार-पत्र के परिवर्तन के सम्बन्ध मे बना था, इस बात के स्पष्टीकरण के वाद कि नोटों को चलाने के काम को छोड़कर भी वैंकिंग का व्यवसाय किया जा सकता है, लन्दन मे सम्मिलित पूँजी के वैंक स्थापित किये गये। तब इन्होंने जमा लेने के और चेकों पर भुगतान देने के उस काम की उन्नति की जिसकी उन्नति स्वयं का काम करने वाले सर्राफ महाजन वहुत दिनों से करते आ रहे थे। कहना न होगा कि वहॉ पर चेकों का चलन आज-कल नोटों के चलन से भी कहीं अधिक है। लन्दन के वाहर सम्मिलित पूँजी के बैंकों की स्थापना सन् १८२६ ही से आरभ हो चुकी थी। उस वर्ष इस वात की घोषणा की जा चुकी थी कि वे लन्दन से ६५ मील के व्यास के क्षेत्र को छोड़कर अन्य किसी भी क्षेत्र मे अपने नोट चला सकते है।

उपसंहार

उपसंहार मे हम यह कह सकते है कि वैंकिंग शब्द पहिले-पहिल वारहवी शताब्दी मे ही प्रयोग मे आया। हाँ, वैंकिंग का व्यवसाय किसी न किसी रूप में अवश्य ही बहुत ही प्राचीन काल से होता

आ रहा था। पहिले-पहिल यह शब्द सम्मिलित कोष के आशय को व्यक्त करने के लिये ही प्रयोग में लाया गया था। बाद में द्रव्य को जमा करने और ऋण देने के काम को, जो आधुनिक बैंकिग के व्यवसाय के मुख्य अङ्ग माने जाते हैं, लन्दन के सर्राफ महाजनों ने प्रोत्साहित किया। किंतु वे द्रव्य जमा करने वालों और ऋण लेने वालों के बीच के केवल मध्यस्थ ही नही थे, वरन् जितना द्रव्य जमा के रूप में पाते थे उतने से कही अधिक द्रव्य ऋण के रूप मे देते थे। चेकों के प्रयोग को भी अवश्य ही उन्हीं ने प्रारम्भ किया था किंतु इसकी उन्नति बाद मे लन्दन के सम्मिलित पूँजी वाले बैंकों के द्वारा ही हुई। बात यह थी कि वे अपने नोट तो चला ही नहीं सकते थे, अतः, उन्होंने अपनी चेकों को चलाने के लिये उत्तरोत्तर प्रयत्न किये और वे इसमें सफल भी हो सके। उस समय से इसने इतना महत्व पा लिया है कि जब तक बैंक शब्द की परिभाषा में इसके ऊपर जोर नहीं डाला जाता, वह परिभाषा सन्तोषजनक नहीं मानी जाती। किन्तु यह उसकी परिभाषा के लिये सब जगह आवश्यक नही है। यह केवल इंगलैण्ड और उन सभी देशों मे बनी हुई परिभाषाओं के लिये आवश्यक है जिनके यहाँ बैंकिंग की उन्नति इगलैण्ड की बैंकिंग की उन्नति के सदृश्य ही हुई है। इससे यह स्पष्ट है कि बैंक शब्द की कोई भी परिभाषा सब देशों के लिये और सब समय के लिये उपयुक्त नहीं हो सकती।

प्रश्न

१. 'बैंक' शब्द के क्या अर्थ हैं? क्या इससे केवल बैंकों के जमा, प्राप्त करने और ऋण देने के कार्यों का ही बोध होता है?

२. आपके विचार से 'बैंक' शब्द की क्या उत्पत्ति है? क्या इसकी उत्पत्ति और इसका व्यवसाय दोनों समकालीन हैं?

३. 'बैंक' शब्द की परिभाषा बताइये। आपकी परिभाषा बनाने के सम्बन्ध की कौन-कौन सी कठिनाइयाँ हैं?

४. निम्नाङ्कित की आलोचना कीजियेः—

(अ) 'ऋणदाता बैंकर नहीं है'। (ब) 'बैंकर ऋणी और ऋणदाता के बीच का मध्यस्थ है'। (स) 'बैंकिंग का व्यवसाय नोट चलाने के अधिकार को पाये बिना नहीं किया जा सकता। (द) 'बैंक का व्यवसाय केवल धन को साख पत्रों में और साख पत्रों को धन में परिवर्तित करने का ही है'।

अध्याय २

अंग्रेज़ी बैंकिंग का इतिहास और उसकी उन्नति

अधिकांश देशों की और विशेषकर भारतवर्ष की बैंकिंग के अँग्रेजी बैंकिंग पर निर्भर होने के कारण यह अत्यावश्यक हो गया है कि हम अँग्रेजी बैंकिंग के इतिहास और उसकी उन्नति का अध्ययन तो पहले ही विशेष रूप से कर लें। अतः, इस अध्याय में हम इसी पर ध्यान देंगे।

प्रारम्भ

इंगलैंड मे आधुनिक बैंकिंग के बीज तो लौम्बर्डी के प्रसिद्ध बैंकरों ने ही सर्वप्रथम उस समय वो दिये थे, जिस समय उन्होंने लन्दन के उस स्थान पर बसेरा डाला था जिसको आज भी हम लौम्बर्डी स्ट्रीट के नाम से पुकारते हैं। हाँ, एक के बाद दूसरे आने वाले राजाओं ने दिन-प्रति-दिन उनके कार्यों पर जो बंधन लगाये थे उनके कारण वे वहाँ पर अधिक दिनों तक नहीं ठहर सके। किन्तु जैसा डावर ने कहा है लौम्बर्डी ने यद्यपि इंगलिस्तान को छोड़ दिया, किन्तु उस व्यापार का और बैंकिग का उत्तराधिकार, जो उन्होंने वहाँ चालू किया था उस देश को सदा के लिये धनी बनाता रहा। जो हो, आधुनिक बैंकिंग तो इंगलैण्ड में केवल सन् १६४० के बाद ही उस समय प्रारम्भ हुई जब वहाँ के सर्राफ महाजनों ने पिछले अध्याय में दी हुई परिस्थितियों के कारण जनता के द्रव्य को जमा के रूप में लेना प्रारम्भ कर दिया। उसके स्थान में पहिले तो वे ऐसी रसीदें देते थे जिनमें उनको मांगने पर वापिस देने का वचन दिया रहता था। कहना न होगा कि इस जमा में पाये हुये द्रव्य से वे अनेकों प्रकार के लाभ कमाते थे। उस समय की मुद्राओं में उनके हाथ से ढाले जाने के कारण धातु की अवश्य ही कुछ कमी और अधिकता होती थी। बस, ये सर्राफ महाजन इसको खूब समझते थे। अतः, वे जमा में पाये हुये द्रव्य में से उन मुद्राओं को छाँटकर निर्यात (Export) करके लाभ उठा लेते थे, जिनमें अधिक धातु होती थी। इसके अतिरिक्त वे उसको ऋण में

देकर और व्यापारियों के विनिमय के बिलों को डिस्काउन्ट करके अर्थात् समय से पहिले उनका उस समय का मूल्य देकर व्याज भी कमाते थे। उनके साधनों के कारण धीरे-धीरे उनके पास बहुत से धनी ग्राहक भी आने लगे। क्रौमवेल की और अन्य राजाओं की सरकार भी उनसे ऋण लेने लगी। अतः, इस व्यवसाय के लाभदायक होने के कारण उनमें द्रव्य को जमा के रूप मे लेने की प्रतियोगिता बढ़ने लगी, जिससे उन्होंने उस पर व्याज देना भी प्रारम्भ कर दिया। धीरे-धीरे उनकी रसीदें नोटों की तरह चलने लगीं और कुछ समय मे ही वे सुविधाजनक रकमों मे निकाली जाने लगीं। सर्राफ महाजन पास बुकों का भी प्रयोग करते थे। ये उनके लेजरों से दिन-प्रतिदिन तैयार की जाती थी। द्रव्य जमा करने वाले लोग जब चाहे तब इनको मिलान करने के लिये मंगवा लेते थे और इन्हीं के आधार पर अपने भुगतान के ड्राफ्ट (Draft) दे दिया करते थे। कुछ समय के उपरान्त ये ड्राफ्ट निर्धारित रकमों मे छपने लगे और द्रव्य जमा करने वाले लोगों को उनको अपने-अपने भुगतान करने के लिये दिये जाने लगे। वे लोग इन पर हस्ताक्षर करके उन व्यक्तियों को दे देते थे जिनको उन्हे भुगतान देना होता था। इस तरह से उनको हम आज-कल की चेकों के प्रतिरूप ही कह सकते है। सर्राफ महाजनों के द्वारा चलाई गई इस प्रणाली को धीरे-धीरे उनके अन्य धनिक पड़ोसियों ने भी अपनाना प्रारम्भ कर दिया। अधिकांश मे ये लोग शराब के अथवा कपड़े के ऐसे व्यवसायी थे, जिनका जनता मे यथेष्ट मान था और जो अपनी अच्छी साख के लिये भी कुछ प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे। किन्तु इन्होंने चेकों के प्रयोग को अधिक बढ़ाने का प्रयत्न नहीं किया। वास्तव मे बैंक आफ इंगलैण्ड के नोट तो केवल लन्दन मे ही बहुत चालू थे। उस समय उसकी शाखाये लन्दन के बाहर तो थीं ही नहीं, और न रेल इत्यादि साधन ही ऐसे थे कि जिनसे उनके नोट अन्य स्थानों में प्रचलित हो सकते। अतः, इन धनी व्यवसायियों के नोट उनके अपने-अपने स्थानों मे चलते थे और उन्हे चेकों के प्रयोग को बढ़ाने की आवश्यकता नहीं प्रतीत हुई। सत्य तो यह है कि पहिले तो लन्दन के सर्राफ महाजनों ने और फिर लन्दन के सम्मिलित पूँजी वाले बैंकों ने चेकों का प्रयोग खूब बढ़ाया।

बैंक आफ इंगलैण्ड की संस्थापना

इस बात का संकेत तो पहिले अध्याय में ही किया जा चुका है कि यद्यपि इटली के बैंकों की तरह ही इंगलैंड में भी एक बैंक की संस्थापना करने का प्रस्ताव तो क्रौमवेल के ही काल में किया जा चुका था, किन्तु उसकी संस्थापना केवल सन् १६९४ में ही हो सकी। तृतीय विलियम के सिहासनारूढ़ होने पर महासभा (Parliament) के अधिकार बढ़ गये और उसका राष्ट्रीय आय-व्यय पर भी नियन्त्रण हो गया। इसका संक्षेप में यह फल हुआ कि जो राजकीय मर्यादा पहिले के राजाओं के दुर्व्यवहार के कारण भङ्ग हो गई थी वह फिर से स्थापित हो गई। सचिव मण्डल (Ministry) को द्रव्य की बहुत आवश्यकता थी और जन-सम्मति उसको पूरा करने के पक्ष मे थी। इस सब का यह परिणाम हुआ कि विलियम पैटरसन की वह योजना जिससे कि वह जनता से १२ लाख पाउण्ड एकत्रित करके राज्य को देना चाहता था, सब को बहुत पसन्द आई और बैंक आफ इगलैण्ड की संस्थापना का बिल महासभा से पास हो कर २५ अप्रैल, सन् १६९४ को राजा द्वारा स्वीकृत भी हो गया। विज्ञापन के दस दिनों के अन्दर ही पूरा द्रव्य मिल गया और ऋण-दाताओं की बैंक आफ इंगलैण्ड के नाम से एक संस्था बन गई। इस संस्था को उपर्युक्त ऋण पर सरकार की ओर से ८ प्रतिशत का वार्षिक व्याज और ४००० पाउण्ड प्रति वर्ष प्रबन्ध के लिये मिलने लगे। इसको १२ लाख पाउण्ड तक के नोटों को चलाने की भी आज्ञा प्रदान कर दी गई।

प्रतियोगी बैंकों पर नोट चलाने के प्रतिबन्ध और उनका परिणाम

बैंक आफ़ इंगलैण्ड की सफलता महासभा के उदार दल (Whigs) की सफलता थी। अतः, जब शक्ति अनुदार दल (Tories) के हाथ मे आई तो उसने उसी प्रकार के एक भूमि बैंक (Land Bank) की संस्थापना के लिये प्रस्ताव पास कराया। किंतु यह योजना सफल नहीं हो सकी। अस्तु, बैंक आफ इंगलैण्ड के किसी प्रतियोगी बैंक की पुनर्स्थापना को रोकने के लिये उदार दल वालों ने पुनः शक्ति प्राप्त करने पर सन् १७०८ में उक्त बैंक के अधिकार-पत्र के

परिवर्तन के समय इस आशय का एक विधान वनाया कि जव तक उक्त बैंक आफ इंगलैण्ड काम करता रहे, इस वैंक के अतिरिक्त कोई भी ऐसा बैंक जिसमें छः से अधिक व्यक्ति सदस्य हों अपने विनिमय के बिलों और ऋण-पत्रों को इंगलैण्ड मे छः महीने से पहिले माँगने पर द्रव्य देने की शर्त पर न चालू कर सके। इसका परिणाम यह हुआ कि लन्दन मे और उसके समीपवर्ती स्थानों मे (उस समय वैंक आफ इंगलैण्ड का आफिस केवल लन्दन मे ही था) नोटों के चलाने का एक मात्र अधिकार विधानतः नही तो क्रियात्मक रूप से ही केवल वैंक आफ इंगलैण्ड ही के हाथ मे रह गया। यह सत्य है कि छः से कम व्यक्तियों के बने हुये वैंक लन्दन मे भी अपने नोट चला सकते थे। किन्तु वैंक आफ इंगलैण्ड के नोटों के राज्य द्वारा भी स्वीकृत हो जाने के कारण वे सर्राफ महाजनों के नोटों की अपेक्षा कहीं अधिक चालू थे। हाँ, लन्दन के वाहर अवश्य उनके नोट चलते थे। वैंक आफ इंगलैण्ड के नोट सन् १८३३ में विधानतः ग्राह्य (Legal Tender) भी वना दिये गये। अतः, यह स्पष्ट है कि सर्राफ महाजनों ने पहिले और अन्य सम्मिलित पूँजी वाले बैंकों ने सन् १८३३ के वाद जव वे लन्दन से ६५ मील के व्यास क्षेत्र मे नोटों को न चला सकने के प्रतिबन्ध के साथ वहाँ पर स्थापित हुए, नोटों के स्थान पर चेकों का प्रयोग बढ़ाने के निरन्तर प्रयत्न किये। आवागमन के साधनों के उन्नत दशा मे न होने के कारण बैंक आफ इंगलैण्ड ने अपना दफ्तर सन् १८२५ तक केवल लन्दन मे ही रक्खा। अतः, तब तक उसके नोट लन्दन से वाहर इतने परिमाण मे नही पहुँच सके कि वहाँ के महाजनों के नोट वहां पर न चल सकें। अतः, वहां के महाजनों ने वहां पर चेकों के प्रयोग के लिये कोई प्रयत्न नहीं किया।

प्रतिबन्ध का संशोधन

सन् १८२६ के विधान ने नोट चलाने वाले सम्मिलित पूँजी के बैंकों की संस्थापना की इस शर्त पर आज्ञा दे दी कि वे लन्दन में और वहाँ से ६५ मील के व्यास-क्षेत्र के अन्दर कहीं भी न तो अपने आफिस खोलें और न नोट चलावें। इसके फलस्वरूप देश मे लन्दन के वाहर महत्वशाली वैंक खुल गये। सन् १८३३ में इन्हें लन्दन में भी इस शर्त पर अपनी शाखायें खोलने की आज्ञा दे दी गई कि

वे वहा पर अपने नोट न चलायें। इससे यह बैंक वहां भी खुल गये।

बैंक आफ़ इंगलैंड का सन् १८४४ का विधान

अब हम बैंक आफ इंगलैण्ड के सन् १८४४ के उस विधान की ओर आते हैं जिसका अंग्रेजी बैंकिङ्ग की उन्नति में एक बहुत बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। इस विधान के पास होने के पहिले कुछ वर्षों से इंगलिस्तान की बैंकिग की अवस्था बहुत ही शोचनीय हो रही थी। उसमें अनेकों जोखिमें (Crises) उठानी पड़ रहीं थीं और एक के बाद दूसरा महाजन बराबर अपना दिवाला निकालता चला जा रहा था जिससे कि उनके नोटों को प्रयोग में लाने वाली जनता की निरन्तर हानि हो रही थी। अतः, वह उस विधान के विरुद्ध हो गई थी जिसके कारण सम्मिलित पूँजी वाले बैंकों की संस्थापना को प्रोत्साहन नहीं मिल रहा था। हम को यह तो विदित हो चुका है कि सन् १८२६ के विधान के अनुसार लन्दन के बाहर नोट चलाने वाले और सन् १८३३ के विधान के अनुसार स्वयं लन्दन मे भी नोट न चला सकने वाले सम्मिलित पूँजी के बैंकों की संस्थापना की आज्ञा दी जा चुकी थी। वास्तव मे यह इसी कारण वश थी। साथ ही बैंक आफ इंगलैण्ड को भी इसी कारण वश बड़े-बड़े प्रान्तीय नगरों मे अपनी शाखाओं के खोलने की और उनके द्वारा नोट चालू करने की मन्त्रणा मिल चुकी थी और उसने ग्लाउसेस्टर, मैनचेस्टर तथा स्वान्सी में अपनी शाखाये खोल भी ली थीं। इन सब बातों का एक मात्र उद्देश्य शक्तिहीन महाजनों के नोटों के चलन को कम करना था। जो हो, सन् १८४४ के विधान में इसके लिये कुछ बहुत ही स्पष्ट धारायें रख दी गईं। जहाँ तक नोटों के चलन के नियंत्रण का प्रश्न था, इस समय दो विचार-धारायें चल रही थीं, (१) करन्सी की विचार-धारा (Currency Principle) और (२) बैंकिंग की विचार-धारा (Banking Principle)। प्रथम के अनुसार केवल उतनी रकम के ही नोट चल सकते थे जितनी के मूल्य का सोना और चाँदी कोष में हो और दूसरेके अनुसार इनका परिमाण उतना हो सकता था जितने की सट्टेबाजी के लिये नहीं वरन् वास्तविक व्यापार के लिये आवश्यकता हो। बैंक आफ इगलैण्ड का सन् १८४४ का विधान प्रथम विचार-धारा के लोगों की जीत का द्योतक था। उसकी मुख्य-मुख्य धाराएँ निम्न आशय की थीं—

(१) बैंक कुल मिला कर १४० लाख पाउण्ड के नोट साख-पत्रों की जमानत पर चालू कर सकता था। कहना न होगा कि इस १४० लाख पाउण्ड की रकम मे १,१०,१५,१०० पाउण्ड तो उस ऋण के ही सम्बन्ध के थे जो बैंक ने समय-समय पर[1] इगलैंड की सरकार को दिये थे।

(२) १४० लाख के मूल्य के उपर्युक्त नोटों के अतिरिक्त बैंक को अन्य नोटों को चालू करने का तभी अधिकार था जब उनके लिये उसके पास शत-प्रतिशत मूल्य का सोने और चाँदी[2] का सुरक्षित कोष हो। हाँ, चाँदी के कोष का मूल्य किसी समय भी सोने के कोष के मूल्य से चतुर्थांश से अधिक नहीं हो सकता था।

(३) इस 'विधान के पास हो जाने के बाद केवल उन्हीं लोगों का[3] नोट चलाने का अधिकार रह गया जो छः मई सन् १८४४ को नोट चला रहे थे।

(४) बैंक आफ इंगलैण्ड को छोड़कर अन्य जो महाजन अथवा बैंक नोट चलाने का अपना उपर्युक्त अधिकार रखना चाहते थे उनके लिये यह आवश्यक कर दिया गया कि वे स्टाम्प कमिश्नर के पास यह सूचित करे कि २७ अप्रैल सन् १८४४ के पहिले १२ सप्ताहों के बीच में उनके चालू नोटों के मूल्य का क्या औसत[4] था। भविष्य मे उसका ४ सप्ताहों का औसत उपर्युक्त औसत से अधिक नहीं हो सकता था।

(५) यदि कोई बैंकर अपने दिवालिया हो जाने के कारण अथवा चौथी धारा को भङ्ग करने के कारण नोट चलाने के अपने अधिकार

---

१ बैंक सरकार को बराबर ऋण देती जाती थी। सन् १६९४ के १२ लाख पाउण्ड से बढकर इस समय तक यह १,१०,१५,१०० पाउण्ड हो गया था।

२ सन् १९२८ में चाँदी का सुरक्षित कोष ५५ लाख पाउण्ड का था। उस वर्ष से इसकी गणना साख-पत्रों की श्रेणी मे की जाने लगी।

३ उस समय इंगलैण्ड और वेल्स में इनकी संख्या २७९ थी।

४ सब का औसत मूल्य ८६,३१,६४७ पाउण्ड था।

को खो देता था तो फिर वह उसको कभी भी नहीं प्राप्त कर सकत था।

(६) यदि कोई बैंकर नोट चलाने का पना अधिकार खो देता था तो बैंक आफ इंगलैण्ड उस खोये हुये अधिकार के दो-तिहाई मूल्य के नोटों को स्वयं अपने साख-पत्रों पर निर्धारित नोटों के परिमाण को बढ़ाकर चला[५] सकता था।

(७) नोट चालू करने के अपने एकाधिकार के लिये और उन पर स्टाम्प लगने से मुक्त रहने के लिये बैंक को १,८०,००० पाउण्ड प्रति वर्ष सरकार को देना पड़ने लगा। १४०,००,००० पाउण्ड की रकम के अतिरिक्त अन्य नोट चलाने से बैंक को जो लाभ होता था यह सब भी उसको सरकार को देना पड़ने लगा। इसके लिये बैंक का नोट चलाने का और बैंकिंग के काम करने का ये दो भिन्न-भिन्न विभाग बनाये गये--(१) नोट चालू करने का विभाग (Issue Department) और (२) बैंकिंग विभाग (Banking Department)। इन दोनों विभागों का हिसाव-किताव भी अलग-अलग रहने लगा।

उपर्युक्त धाराओं का एक मात्र उद्देश्य महाजनों और सम्मिलित पूँजी के बैंकों के नोट चालू करने के अधिकार को छीन लेना था। किंतु इसमे बड़ा समय लगा और अन्तिम सफलता सन् १९२१ में श्री फाक्स फाउलर कम्पनी के लायड्स बैंक से एकीकरण हो जाने पर ही मिली। हाँ, चेक करन्सी अवश्य ही इससे बड़ी उन्नत अवस्था को प्राप्त हो गई।

सम्मिलित पूँजी के बैंकों के महाजनों का शोषण और पारस्परिक एकीकरण

जिस समय बैंक आफ इंगलैंड का सन् १८४४ का विधान पास

५ इस धारा के अनुसार बैंक आफ इगलैण्ड के साख-पत्रों पर निर्धारित नोटों का परिमाण बराबर बढ़ता गया और अन्त में सन् १६२१ में जब अन्तिम महाजन और बैंक का यह अधिकार छिन गया, यह रकम १,६७,५०,००० पाउण्ड हो गई थी।

हुआ था उस समय इंगलैंड में निम्न प्रकार के बैंक काम कर रहे थे :—

(१) बैंक आफ इंगलैंड—इसका मुख्य दफ्तर लन्दन में और दूसरी शाखाएँ प्रान्तीय नगरों मे थीं। इसके नोट दिन-प्रतिदिन प्रचलित हो रहे थे।

(२) लन्दन के सर्राफ महाजन—इनको नोट चालू करने का सीमित अधिकार था। किंतु ये विशेषतः चेक करेन्सी को प्रोत्साहन दे रहे थे।

(३) लन्दन के सम्मिलित पूँजी के बैंक—इनको नोट चलाने का अधिकार नहीं था। हाँ, ये भी चेक करेन्सी को प्रोत्साहन दे रहे थे।

(४) लन्दन के बाहर के महाजन—इनको नोट चलाने का सीमित अधिकार था।

(५) लन्दन के बाहर के सम्मिलित पूँजी के बैंक—इनको भी नोट चलाने का सीमित अधिकार था।

कुछ समय तक तो उपर्युक्त सभी महाजन और बैंक काम करते रहे। किन्तु बाद में उनमे एकाग्रता का भाव बढ़ा और वे शोषण (Absorption) और एकीकरण (Amalgamation) के द्वारा अपनी सख्या को तो कम करते गये लेकिन शाखाओं को फैलाते गये। इस सम्बन्ध की जेम्स डिक की तालिका, जिसको साइक्स ने भी अपनी पुस्तक में उद्धृत किया है, बड़ी ही रोचक है :

वर्ष	बैंकों की संख्या	दफ्तरों की संख्या	एक दफ्तर द्वारा सेवित व्यक्तियों की संख्या
१८८३	३१७	२,३८२	११,३१५
१८९१	२६१	३,२३१	८,९१५
१९०१	१७१	४,८७२	६,६६७
१९११	९९	६,४१३	५,६३०
१९२१	४०	८,०२२	४,७२२

यह अंक इंगलैण्ड और वेल्स के हैं और इनमें स्काच बैंक तो सम्मिलित है किन्तु अन्य विदेशी बैंकों की लन्दन स्थित शाखायें सम्मिलित नहीं हैं। वर्तमान समय में समस्त देश में एक दर्जन से अधिक बैंक नहीं हैं।

जिन कारणों से एकाग्रता का भाव बढ़ा उनका संकेत भी साइक्स ने अपनी पुस्तक में किया है। उसका कथन है कि लन्दन के सम्मिलित पूँजी के बैंकों ने लन्दन के बाहर के महाजनों का शोषण तो लन्दन के बाहर अपनी शाखाओं को बढ़ाने के उद्देश्य से और सम्मिलित पूँजी के प्रान्तीय बैंकों ने लन्दन के सर्राफ महाजनों का शोषण लन्दन में अपनी शाखायें खोलने के उद्देश्य से किया। साथ ही बड़े-बड़े बैंकों का पारस्परिक एकीकरण अपने को शक्ति-शाली बनाने और पारस्परिक प्रतियोगिता को दूर करने के लिये हुआ।

कहीं-कहीं ऐसी शंका की गई थी कि कहीं इस एकाग्रता का परिणाम बैंकिंग के व्यवसाय मे ऐसा एकाधिपत्य उत्पन्न कर देने का न हो कि वह जनता के लिये हानिकर सिद्ध हो। किन्तु ऐसा नहीं हुआ, वरन् इसके विपरीत इससे कार्य्य-संचालन में एकरूपता आ गई जिससे बैंकिंग का व्यवसाय एक बहुत ही कुशल ढङ्ग से होने लगा और उससे सुरक्षा बढ़ गई। फिर इससे एक लाभ और हुआ और वह यह है कि इनकी बहुत कम संख्या होने के कारण जब कभी भी सारे देश में एक प्रकार की ही नीति का पालन करने की आवश्यकता पड़ी तब इन्होंने शीघ्र ही उस नीति को परस्पर तय कर लिया जिससे कि जनता बहुत से आर्थिक संकटों का बड़ी ही आसानी से सामना कर सकी।

बैंक आफ इंगलैण्ड का राष्ट्रीयकरण

आज-कल लोगों का जो झुकाव समाजवाद की तरफ हो रहा है उसके कारण मजदूर दल के इंगलिस्तान में शक्ति ग्रहण करने के समय से ही बैंक आफ इंगलैण्ड के राष्ट्रीयकरण की माँग उत्तरोत्तर बढ़ती गई। अतः, १८ फर्वरी सन् १९४६ के एक विधान से इसको पूरा किया गया। उक्त विधान में मुख्यतः निम्न बातें दी हुई हैं :—

(१) बैंक के पूँजी पत्र (Capital Stocks) तत्काल ही राज-कोष के नाम हस्तान्तरित कर दिये जायँ।

(२) इंगलैण्ड का राजा बैंक के गवर्नर, डिप्टी गवर्नर और अन्य संचालकों को नियुक्त करे।

(३) राज-कोष के अधिकारी बैंक के गवर्नर के साथ मन्त्रणा करके उसका प्रबन्ध एक संचालक-मण्डल को सौंप दें।

(४) बैंक को इस बात का अधिकार है कि वह राज-कोष के अधिकारियों की इच्छा से किसी भी बैंक से कोई भी सूचना माँग ले और उसको किसी भी प्रकार की आज्ञा दे दे।

हरजाने की योजना के अनुसार बैंक के हिस्सेदारों को उनके १०० पाउण्ड के प्रत्येक हिस्सों के लिये ४०० पाउण्ड का एक ३ प्रतिशत वार्षिक व्याज का ऐसा सरकारी साख-पत्र दिया गया जिसका भुगतान राज-कोष के अधिकारी ५ अप्रैल सन् १९६६ के बाद जब चाहें तब उसका पूरा मूल्य दे कर कर सकते है। हिस्सेदारों को इस प्रकार अपने हिस्सों पर वह १२ प्रतिशत व्याज मिल रहा है जो उन्हे, जिस समय बैंक का राष्ट्रीय-करण हुआ था उसके पिछले २० वर्षों से मिल रहा था। बैंक को राज-कोष को उसके स्टाकों पर कोई लाभ नहीं वितरण करना पड़ता। हाँ, उसको उसे उतनी रकम अवश्य देनी पड़ती है जो राज-कोष उपर्युक्त सरकारी साख-पत्र पर व्याज की तौर पर देता है। हिसाब की दृष्टि से तो इस नई व्यवस्था मे केवल एक बहुत ही सीधे-सादे लेखे का परिवर्तन हुआ है किन्तु वास्तव मे बैंक को राज-कोष के अधिकारियों की इच्छा से अन्य बैंकों से जो किसी प्रकार की भी सूचना माँगने और उसको किसी प्रकार की भी आज्ञा देने का अधिकार मिल गया है वह सरकार के द्वारा जब भी वह चाहे तभी किसी भी राजनैतिक अथवा निजी कारणों से दुरुपयोग मे लाया जा सकता है। इतना अवश्य है कि इस सम्बन्ध का बिल जब महासभा के द्वारा पास किया जा रहा था तब उसमें सुरक्षा के आशय से कुछ संशोधन कर दिये गये थे जिनसे यह स्पष्ट हो गया है कि (अ) बैंकों से पृथक-पृथक खातों की स्थिति नही पूछी जा सकती, और (ब) कार्य रूप मे यह अधिकार राज-कोष के अधिकारियों के कहने से नहीं, बल्कि बैंक जब उचित समझे तभी प्रयोग में लाया जा सकता है।

प्रश्न

(१) सर्राफ महजनों के व्यवसायिक कामो का एक संक्षिप्त विवरण

दीजिये और यह बताइये कि उन्होंने नोटों के चलन की अपेक्षा चेकों के चलन पर क्यों अधिक जोर दिया ?

(२) उस परिस्थिति का वर्णन कीजिये जिसमें बैंक आफ इंगलैण्ड की संस्थापना हुई थी। इसको लन्दन में नोट चलाने का एकाधिकार कैसे प्राप्त हो गया ?

(३) बैंक आफ इंगलैण्ड का सम्मिलित पूँजी की बैंकिंग का एकाधिकार कब और कैसे छिन गया ?

(४) किन परिस्थितियों में बैंक आफ इंगलैण्ड का सन् १८४४ क विधान बना ? उसकी मुख्य-मुख्य धाराओं को बताइये और यह समझाइये कि उनका क्या प्रभाव पड़ा ?

(५) सन् १८४४ के विधान के पास होने के समय किन-किन प्रकार के बैंक इंगलैण्ड में काम कर रहे थे ? बाद में उनका क्या हुआ ?

अध्याय ३

बैंकों के भेद

आज-कल के हमारे आर्थिक जीवन के प्रत्येक भाग में विशिष्टता (Specialisation) की जो लहर दिखाई दे रही है वह बैंकिङ्ग मे भी भली-भाँति व्यक्त है। अतः, भिन्न-भिन्न आर्थिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिये भिन्न-भिन्न प्रकार के बैंक भी खुल गये हैं। किन्तु इसके यह अर्थ नहीं है कि यह विशिष्टता हर जगह पूर्ण रूप से सफल हो गई है और भिन्न-भिन्न प्रकार के बैंकों के कार्यों में पूरी-पूरी विभिन्नता है। हमको ऐसी अनेकों संस्थायें मिलेंगी जो बैंकिंग के साथ-साथ व्यापार भी करती है और एक प्रकार की बैंकिंग तो दूसरे प्रकार की बैंकिंग के साथ बहुत ही प्रचलित है।

व्यापारिक बैंक (Commercial Banks)

बैंकों मे सबसे महत्त्वपूर्ण व्यापारिक बैंक हैं। यहाँ तक कि जब भी हम किसी विशेषण का प्रयोग किये बिना ही 'बैंक' शब्द का प्रयोग करते हैं तब वह व्यापारिक बैंक का ही द्योतक समझा जाता है। इसके अतिरिक्त हम लोग अधिकांश में व्यापारिक बैंकों के ही

संसर्ग में आते हैं। जैसा कि इसके विशेषण से विदित हो जाता है यह बैंक विशेषतः व्यापारियों से ही सम्बन्ध रखता है। यह उनकी चालू पूँजी को जमा के रूप में ग्रहण करता है और उनके व्यापारिक लेन-देनों के सम्बन्ध की अस्थायी आवश्यकताओं के लिये आर्थिक सहायता प्रदान करता है। इसके यहाँ जो रकमें जमा की जाती है वह माँग पर देय होती हैं। अतः, यह लम्बी अवधि के लिये आर्थिक सहायता नही प्रदान कर सकता। इससे इस प्रकार के बैंक का यह नियम रहा है कि वह लम्बी अवधि का ऋण नहीं देता और न आय पर लगाने के लिये पूँजी की ही व्यवस्था करता है। साथ ही यह व्यापार के लिये भी स्थायी तौर पर पूँजी नहीं देता वरन् व्यापार करने में जो कभी-कभी पूँजी की कमी पड़ जाती है अथवा उसमें द्रव्य लगाना पड़ता है उसकी यह व्यवस्था कर देता है। इसको व्यापार के लिये ऋण लेने वालों और सट्टे के लिये ऋण लेने वालों के बीच मे भी भेद करना पड़ता है। एक व्यापारिक बैंक को व्यापार के लिये ऋण लेने वालों को तो प्रोत्साहन देना पड़ता है और सट्टे के लिये ऋण लेने वालों को रोकना पड़ता है। यह किसी दशा मे भी जोखिम नही उठा सकता और न अवसरवादी ही हो सकता है। इसके यहाँ द्रव्य जमा करने वालों का इस पर विश्वास रहता है और उस विश्वास को, इसको उनकी माँगों को पूरा करके निवाहना पड़ता है, यहाँ तक कि यदि यह उनकी एक माँग को भी नहीं पूरी कर सकता तो यह समाप्त हो जाता है। किन्तु इसके ऋण देने की क्षमता इसके यहाँ जमा किये हुये द्रव्य तक ही सीमित नहीं रहती। बैंक साख (Credit) उत्पन्न करते हैं। उनके अधिकांश ऋणों का नकदी मे भुगतान नहीं होता। यथा सम्भव वे उसी प्रकार से चेकों द्वारा सकारे (Honour) जाते है जिस प्रकार से उनके यहाँ के जमा के द्रव्य सकारे जाते हैं। इनको अनुभव से यह मालूम हो गया है कि एक तो सब लोगों की माँगे एक ही समय में नहीं आतीं और दूसरे जब एक तरफ इनके कोष से द्रव्य दिया जाता है तो दूसरी तरफ वह प्राप्त भी होता रहता है। इनको अपने ऊपर की सारी चेकों के लिये भी नकदी नहीं देनी पड़ती। उनमे से कुछ तो दूसरे बैंकों के द्वारा आती है और उन चेकों द्वारा सकर जाती हैं जो उन्हें उन्हीं बैंकों के ऊपर की अपने ग्राहकों से प्राप्त होती हैं। इससे यह स्पष्ट है कि वह उनके पास जितनी नकदी होती है उससे कहीं अधिक के मूल्य का

ऋण देने की जोखिम को ओढ़ सकते हैं। जहाँ तक यह प्रश्न है कि उनकी नकदी उनके ऋण की कितनी प्रतिशत हो, इसका उत्तर स्पष्ट शब्दों में नहीं दिया जा सकता। यह प्रत्येक बैंक के ग्राहकों की श्रेणी और उसके लागत (Investments) की श्रेणी के ऊपर निर्भर रहता है। कभी-कभी तो यह ऋतु के परिवर्तन के साथ-साथ भी परिवर्तित होता रहता है। फिर यह जनता के बैंकिङ्ग की आदत के वदलने से भी एक बहुत बड़े काल मे बदल जाता है। 'तथापि बैंकों के प्रत्येक व्यवस्थापक के मस्तिष्क मे उस प्रतिशत का अनुमान अवश्य रहता है जिसे उसको रखना चाहिये और जिसके कम कर देने से उसको जोखिम उठानी पड़ती है तथा बढ़ा देने से लाभ की क्षति होती है।' जिन कार्यों का विवरण ऊपर दिया जा चुका है उनके अतिरिक्त अन्य कार्यों को भी व्यापारिक बैंक करते हैं। इनका विस्तृत अध्ययन हम उचित स्थान मे करेंगे। हाँ, इतना अवश्य है कि ये कार्य हर देश मे समान नहीं हैं, कही कुछ है तो कहीं कुछ हैं। इनके काम करने के ढङ्गों के विषय में भी यही कहा जा सकता है। जब अंग्रेजी बैंक और विशेषतया लन्दन के बैंक लागत का व्यवसाय (Investment Banking) नहीं करते, जर्मन और फ्रान्सीसी बैंक ऐसा करते है। अंग्रेजी बैंक चेकों के प्रयोग पर भी बहुत जोर डालते हैं किन्तु जर्मन और फ्रान्सीसी बैंक ऐसा नहीं करते।

केन्द्रीय बैंक Central Banks)

यद्यपि केन्द्रीय बैंकों के कार्यों की क्रमिक उन्नति तो बहुत दिनों से होती आ रही थी किन्तु इस शताब्दी के प्रारम्भ तक वे स्पष्ट रूप से प्रकट नहीं हो पाये थे। प्रत्येक बैंक के व्यवस्थापक उस समय तक अपनी इच्छा के अनुसार ही मनमाने कार्य किया करते थे। बहुत से प्राचीन देशों मे तो एक बैंक धीरे-धीरे बहुत ही महत्त्वपूर्ण होता जा रहा था और विशेषत: नोटों के चलाने का और सरकार के बैंकिंग के कामों के करने का एकाधिकार अथवा मुख्य अधिकार प्राप्त करता जा रहा था। ये बैंक प्रारम्भ में केन्द्रीय बैंक न कहे जाकर नोट चलाने वाले बैंक (Bank of issue) अथवा राष्ट्रीय बैंक (National Bank) कहे जाते थे। हाँ, धीरे-धीरे इनके काम और इनके अधिकार बढ़ते गये तथा इनके साथ 'केन्द्रीय' शब्द एक विशेष अर्थ के साथ प्रयोग मे आने लगा। कहना न होगा कि बैंक आफ इंगलैण्ड ही शायद

ऐसा बैंक था जिसने सबसे पहिले केन्द्रीय बैंकों का काम करना प्रारम्भ कर दिया था। अतः, केन्द्रीय बैंकिङ्ग के सिद्धान्तों की व्याख्या करने के लिये इसी की उन्नति का इतिहास सर्वत्र अध्ययन किया जाता है। प्रसङ्गवश यही बैंक इंगलैण्ड का सम्मिलित पूँजी का सर्वप्रथम बैंक भी था। उन्नीसवीं शताब्दी मे भिन्न-भिन्न राष्ट्रों ने या तो अपने यहाँ के किसी पुरानी बैंक को ही नोट चलाने का एकाधिकार अथवा मुख्य अधिकार दे दिया था या किसी नये बैंक की संस्थापना करके उसको यह अधिकार दे दिया था। हाँ, नई दुनिया के सभी देश और पुरानी दुनिया के भारतवर्ष और चीन अवश्य ही ऐसे बचे थे कि जिनके यहाॅ इस शताब्दी के प्रारम्भ तक कोई भी केन्द्रीय बैंक नहीं खुल सका था। यहाँ तक कि आधुनिक काल के सबसे महत्त्वपूर्ण देश अर्थात् सयुक्त राष्ट्र अमेरिका मे भी सन् १९१४ तक कोई भी केन्द्रीय बैंक नहीं खुल पाया था। इस वर्ष वहाॅ पर भिन्न-भिन्न स्थानों के लिये १२ केन्द्रीय बैंक खुले जिनको फेडरल रिज़र्व बैंक्स (Federal Reserve Banks) कहते है। साथ ही इनके कार्यों के एकीकरण के लिये एक बोर्ड भी बनाया गया जिसको फेडरल रिज़र्व बोर्ड (Federal Reserve Board) कहते हैं। केन्द्रीय बैंकों ने प्रथम महायुद्ध के समय में और उसके बाद भी अपने-अपने यहाॅ के राष्ट्रों को इतना लाभ पहुॅचाया और सहायता दी कि अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक अधिवेशन ने, जिसकी बैठक सन् १९२० में ब्रूसेल्स मे हुई थी, सभी राष्ट्रों को अपने यहाँ इनको खोलने के लिये मन्त्रणा दी। अतः, तब से यूरोप में जो नये राष्ट्र बने उन्होंने और नई और पुरानी दुनिया के उन सभी राष्ट्रों ने, जिनके यहाॅ उस समय तक केन्द्रीय बैंक नहीं थे अपने यहाँ उनको खोल लिया है। चीन का सेन्ट्रल बैंक और भारतवर्ष का रिज़र्व बैंक क्रमशः सन् १९२८ में और सन् १९३५ मे स्थापित किये गये थे। वास्तव मे बैंकिङ्ग और वाणिज्य की आधुनिक परिस्थितियों के कारण प्रत्येक देश मे चाहे उसके आर्थिक उन्नति की कैसी भी दशा क्यों न हो, इस बात की आवश्यकता उत्पन्न हो गई है कि वहाँ की नकदी का कोष केन्द्रित रहे और करन्सी और साख के नियन्त्रण पर किसी न किसी प्रकार की राष्ट्र की देख-रेख और यथासम्भव उसका हाथ रहे। केन्द्रीय बैंकों के कारण भिन्न-भिन्न देशों के बैंकों के बीच में पारस्परिक सहयोग और सम्बन्ध की मात्रा भी बढ़ गई है।

विनिमय के बैंक (Exchange Banks)

विनिमय के बैंकों का एक मात्र लक्ष्य विदेशी व्यापार को आर्थिक सहायता पहुँचाना और भिन्न-भिन्न देशों के पारस्परिक लेन-देनों का भुगतान करना ही है। उनकी शाखायें सारी दुनिया में फैली रहती हैं और विशेपतया व्यापारिक देशों में तो अवश्य ही रहती हैं। शायद यही कारण है कि उनको बहुत अधिक पूँजी की भी आवश्यकता पड़ती है। फिर विनिमय का व्यवसाय कुछ पेचीदा भी है और उसको करने के लिये अनुभव और कार्य-कुशलता की आवश्यकता पड़ती है। इसमें जोखिम भी यथेष्ट है। हाँ, यह इधर विनिमय मान(Exchange Standards) के चलन से अवश्य कुछ कम हो गई है। इसके पहिले स्वर्ण मान (Gold Standard) और रजत मान (Silver Standar) वाले देशों के बीच की विनिमय की दरों में बहुत परिवर्तन होते थे और उनके विनिमय के सम्बन्ध एक प्रकार से बहुत ही जोखिम के होते थे। इन सब कारणों से साधारण व्यापारिक बैंक इस काम को कर ही नहीं सकते थे। अतः, इसके लिये एक विशेष प्रकार के बैंकों की आवश्यकता पड़ी। ये बैंक निर्यात करने वाले व्यापारियों से उनके विनिमय के बिलों को खरीद लेते हैं और उन पर वसूल हुई रकम को आयात करने वाले व्यापारियों के हाथ बेच देते है। अधिकांश निर्यात के लिये निर्यात करने वाले व्यापारी (Exporters) उनका आयात करने वाले व्यापारियों (Importers) के ऊपर विनिमय के बिल कर देते हैं और फिर उनकी वसूली के लिये न रुक कर उनको विनिमय के बैंकों के हाथ/या तो .बेच देते हैं या डिस्काउण्ट करा लेते हैं। अब, ये बैंक उन्हें या तो उनके भुगतान की तिथि तक अपने पास रखते हैं या उसके पहिले ही विदेशों में विशेपतः लन्दन और न्यूयार्क के बाजारों मे, जहाँ सदैव ही उनकी माँग रहती है, बेच देते हैं। जिन देशों में उनकी शाखायें नहीं होतीं उनमें उनके अढ़तिये होते हैं। अतः, वहाँ पर वह उन्हीं के द्वारा काम करते हैं। वे उन पर अपने विनिमय के बिल करते हैं और जिनको बाहर भुगतान करना होता है वह इन्हें उन लोगों के पक्ष में लिखवाकर ले लेते हैं, जिन्हें उन्हें भुगतान देना होता है। ये बैंक अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान के बचे-खुचे भाग का भुगतान सोना, चाँदी और

साख-पत्र मँगवाकर अथवा भेजकर करते है। अतः इस व्यवसाय से इन्हे इनका व्यापार करने का भी अवसर मिल जाता है। वे वायदे के विनिमय (Forward Exchange) का भी क्रय और विक्रय करते है जिससे भिन्न-भिन्न समय के विनिमय के भावों के बीच का अन्तर बहुत ही कम हो जाता है, और व्यापारियों की विनिमय की दरों के परिवर्तन से जो हानि होती है वह भी इनके अपने ऊपर जोखिम ओढ़ लेने के कारण बच जाती है। जहाँ तक इनकी स्वयं की जोखिम का प्रश्न है उसको भी ये लोग विरुद्ध सौदे करके अर्थात् क्रय के लिये विक्रय करके और विक्रय के लिये क्रय करके बचा लेते हैं। भारतवर्ष मे तो नही किन्तु अन्य देशों में तो विनिमय के वैकों के अतिरिक्त व्यापारी बैंक भी यह व्यवसाय करते हैं। यहाँ पर विनिमय के विदेशी वैक है जो इसको अपनाये हुये हैं।

औद्योगिक बैंक (Industrial Banks)

औद्योगिक वैक कृषि के अतिरिक्त अन्य सभी उद्योग-धन्धों की आर्थिक सहायता करते है और उन्हे अन्य प्रकार से भी मदद पहुँचाते है। व्यापारिक वक अपने विशेष उत्तरदायित्व के कारण इस कार्य को नहीं कर सकते। इसके अतिरिक्त उनके पास उद्योग-धन्धों का अनुभव रखने वाले व्यक्ति भी नही होते। औद्योगिक वैंकों के पास लम्बी अवधि के लिये जमा की हुई रकमे रहती हैं और साथ ही उनके पास ऐसे अनुभवी व्यक्ति भी रहते है जो उद्योग-धन्धों के पेचीदा प्रश्नों को समझते है। वे उन औद्योगिक कम्पनियों के ऊपर जो उनसे सहायता प्राप्त करती हैं, उनके यहाँ अपने प्रतिनिधि रखकर अपना नियन्त्रण भी रखते हैं। जब कोई औद्योगिक कम्पनी किसी औद्योगिक वैक से अपने हिस्सों और ऋण-पत्रों को जनता के सामने रखने में सहायता माँगती है तब वह वैक जो पहिला काम करता है वह उसकी योजना को समझने का तथा उसका विश्लेपण करके उसके भविष्य पर दृष्टि डालने का है। कभी-कभी जब किसी कम्पनी के निकाले हुये सब हिस्से अथवा उनका वह न्यूनतम भाग जो उसके विवरणपत्र (Prospectus) मे दिया रहता है जनता के द्वारा यथा समय नहीं ले लिया जाता तब यही वैंक उसको स्वयं ले लेते हैं। प्रायः नई कम्पनियों के हिस्सों की बिक्री का ये लोग प्रारम्भ ही से एक प्रकार का

बीमा कर देते है। ये अपने ग्राहकों को उनकी रकम लगाने के सम्बन्ध में भी सलाह देते है और जहाँ तक होता है उनको अच्छे लागत के चुनाव में सहायता पहुँचाते हैं। इनसे कारबारियों का भी यह लाभ होता है कि वे हिस्से बेचने के झंझट से मुक्त हो जाते हैं। सत्य तो यह है कि ये इस काम मे निपुण होने के कारण हिस्सों और ऋण-पत्रों के सम्बन्ध के विज्ञापन करने और उनको बेचने में कारबारियों से कहीं अधिक सफलता प्राप्त कर लेते हैं। जर्मनी, संयुक्त राष्ट्र अमेरिका और जापान, इत्यादि देशों की औद्योगिक उन्नति इन्हीं बैंकों के कारण हो पाई है।

कृषि बैंक (Agricultural Banks)

कृषि की अपनी समस्यायें होती हैं। अतः, उसकी आर्थिक सहायता करने के लिये पृथक बैंक भी होते हैं। इनके दो भेद हैं—(१) एक तो वे जो लम्बी अवधि की आवश्यकताओं (Long-term needs) को पूरी करते हैं और (२) दूसरे वे जो थोड़ी अवधि की आवश्यकताओं (Short-term needs) को पूरी करते हैं। लम्बी अवधि के ऋण-भूमि मे स्थायी सुधार करने के लिये, अधिक भूमि खरीदने के लिये और कृषि के अच्छे तरीकों और औजारों को प्रयोग मे लाने के लिये लिये जाते हैं। और थोड़ी अवधि के ऋणों का उद्देश्य कृषकों की दिन-प्रतिदिन की आवश्यकताओं को पूरी करने का है। इसमें बीज और खाद खरीदना, अपने खर्चें, मजदूरों की मजदूरी, सिंचाई तथा अन्य करों का भुगतान, इत्यादि सभी सम्मिलित हैं। कृषकों के पास जो जमानत (Security) रहती है और जिस अवधि के लिये उनको ऋण की आवश्यकता रहती है वह सब ऐसे हैं कि उनको व्यापारिक बैंक, विनिमय के बैंक तथा औद्योगिक बैंक सहायता कर ही नहीं सकते। अतः, इस काम के लिये भूमि-बन्धक बैंक (Land Mortgage Banks) और सहकारी बैंक (Co-operative Banks) है। भूमि-बन्धक बैंक तो लम्बी अवधि की और सहकारी बैंक थोड़ी अवधि की माँगों को पूरी करते हैं।

भूमि-बन्धक बैंक—ये बैंक भूमि से चालू साख-पत्र बना लेते हैं। ये शहरी और देहाती दोनों होते हैं। शहरी बैंक मकान इत्यादि बनाने में सहायता देते हैं। अतः, हम लोग यहाँ पर इनका अध्ययन

नहीं करेंगे। देहाती वैंकों की स्वयं की वहुत बड़ी पूँजी होती है। यह इनको हिस्सों अथवा ऋण-पत्रों की बिक्री से प्राप्त होती है। इनके अपनी पूँजी को रेहन पर देने के कारण उससे जो भूमि प्राप्त होती है उसकी जमानत पर यह जनता में अपने ऋण-पत्र चालू करते है। जब कुछ भूमि की जमानत पर चालू किये हुये ऋण-पत्रों से प्राप्त रकम अन्य भूमि के रेहन मे लग जाती है तब वही अन्य भूमि फिर नये ऋण-पत्रों की जमानत के लिये काम में आ जाती है और उससे नई पूँजी प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार यह चलता रहता है। ये केवल उत्पादन के लिये ही ऋण देते हैं और जो भूमि इनके यहाँ रेहन की जाती है उसका ये वहुत होशियारी से मूल्य निर्धारित करा लेते है। फिर उस पर ये काफी गुंजाइश (margin) रखकर ऋण देते है। इनके ऋण का भुगतान वार्षिक किस्त से होता है और वह एक वहुत लम्वी अवधि मे विभाजित कर दिया जाता है। उस पर उचित व्याज भी लिया जाता है। इनके द्वारा निकाले हुये ऋण-पत्रों के सुरक्षित होने के कारण वे बड़े प्रिय होते है और जनता मे उनकी यथेष्ट मॉग होती है। इनमे ट्रस्ट की और वीमे की रकमों को भी लगाने की आज्ञा दे दी गई है। भूमि और मकान, इत्यादि आसानी से नही विक पाते। इसमे अनेकों वैधानिक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती है। किन्तु इनसे जो चालू साख-पत्र निकाले जाते है वे आसानी से हस्तान्तरित किये जा सकते हैं। वे वाज़ारों मे बिकते भी है। अतः, इनके कारण उपर्युक्त कठिनाई दूर हो जाती है। फ्रान्स का क्रेडिट फौन्सियर (Credit Foncier) जिसकी संस्थापना सन् १८५२ मे हुई थी भूमि-वन्धक वैंकों का पिता कहा जाता है और वह जर्मनी, स्पेन, आस्ट्रिया, हंगरी और जापान के ऐसे ही वैंकों के साथ-साथ वहुत ही उन्नति कर रहा है। इंगलिस्तान का कृषिक भूमि वन्धक कारपोरेशन भी जो अव से कुछ वर्षों पहिले संस्थापित किया गया था वहुत काम कर रहा है। हमारे देश मे भी ऐसे वैंकों की संख्या वढ़ती जा रही है किन्तु यह अभी तक सन्तोष-जनक नहीं है। वास्तव मे इस देश के मुख्यतः कृषक देश होने के कारण और यहॉ की कृषि की अवस्था पिछड़ी होने के कारण यहाँ पर ऐसे वैंकों की वहुत आवश्यकता है।

सहकारी वैंक—ये वैंक कृषकों के स्वयम् के वैंक होते है। उनके दूर-दूर फैले रहने के कारण उनको थोड़े समय के लिये छोटी-छोटी

रकमों के ऋण को देना इतनी जोखिम का काम है कि उसको कोई भी आधुनिक बैंक नहीं कर सकता। इसमें सन्देह नहीं कि इसको करने के लिये महाजन हैं। वास्तव में उनका जो स्थानीय प्रभाव रहता है और वहाँ के लोगों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होता है उसके कारण वे लोग इसके लिये बहुत उपयुक्त हैं। किन्तु उनकी शर्तें इतनी कठिन रहती है कि वे कृषकों के मित्र नहीं वरन् उनके लिये जोंक के समान हैं। यदि देखा जाय तो इस काम में जितनी जोखिम है उसके लिये यह उचित ही है। जहाँ तक लम्बी अवधि के ऋण का प्रश्न है उसकी ज़मानत के लिये तो कृषकों की भूमि है किन्तु थोड़ी अवधि के लिये तो उनके पास उनके हल, बैल तथा झोपड़ी को छोड़कर कुछ भी नहीं बचता। अतः उनको इस मामले में स्वावलम्बी होना पड़ता है और सहकारिता की शरण लेनी पड़ती है। कहना न होगा कि इसका प्रारम्भ गत शताब्दि मे पहिले-पहिल जर्मनी में हुआ था। वहाँ की कृषि की दयनीय दशा का रैफेसिन के ऊपर गहरा प्रभाव पड़ा और उसने स्थिति को सुधारने के लिये सहकारी समितियों की संस्थापना की जो थोड़ी अवधि की आवश्यकताओं को पूरी करने के लिये धन एकत्रित करने के उनके स्वयम् के संगठन हैं। अपने सम्मिलित साधनों को एकत्रित करके अपने वैयक्तिक उत्तरदायित्व के सहारे वे द्रव्य के बाजार से द्रव्य उधार लेते हैं और उसको अपने में से जिन लोगों को आवश्यकता पड़ती है उनको कम ब्याज पर देते हैं। ऋण की अदायगी प्रायः मासिक किस्तों के द्वारा होती है और वह लेने वालों के प्रण-पत्रों की ज़मानत पर मिलता है। फिर इन पर कुछ अन्य सहयोगी सदस्यों के हस्ताक्षर कराके इनके द्वारा बाजार से और अधिक ऋण प्राप्त कर लिया जाता है। इस प्रणाली को ईमानदारी से पूँजी बनाने की प्रणाली (Capitalisation of Honesty) कहा गया है। इसके वास्ते वैयक्तिक ज़मानत एक बहुत बड़ी मात्रा मे बिकने योग्य जमानत मे परिवर्तित हो जाती है। कृषि की थोड़े समय की आर्थिक माँग के पूरा होने के साथ-साथ इससे अन्य भी बहुत से लाभ होते हैं। इससे सदस्यों के बीच में स्वावलम्बन और मितव्ययता का भाव बढ़ता है और उनको स्वशासन की कला की शिक्षा भी प्राप्त होती है।

सेविंग्स बैंक (Savings Bank)

ये बैंक सच पूछा जाय तो बैंक नहीं हैं। वास्तव में ये साधारण

स्थिति के लोगों में मितव्ययता का प्रचार करके उनकी थोड़ी-थोड़ी बचत को एकत्रित करके सुरक्षित रखने वाले संगठन हैं। इनके ग्राहकों द्वारा जमा की हुई रकम निकाली जाने वाली रक़म की अपेक्षा सम्भवत: कहीं अधिक रहती है। अत: इनको उस सबकी द्रवित दशा (liquid-state) में रखने की भी आवश्यकता नही रहती। इसी कारणवश इनको व्यापारिक बैंकों के समान-अपनी पूँजी को केवल थोड़े समय मे वापिस होने वाले ऋणों मे ही लगाने की आवश्यकता नहीं रहती। किन्तु यह उतने स्वतन्त्र भी नही रहते। इनको विधान अपनी पूँजी को केवल कुछ सुरक्षित लागतों मे ही लगाने के लिये बाध्य करता है। इनमे द्रव्य जमा करने के और उनसे निकालने के नियम भी भिन्न-भिन्न देशों मे भिन्न-भिन्न हैं। प्राय: कोई भी इनके यहाँ अपना खाता खोल सकता है। प्रत्येक ग्राहक को एक पास-बुक दी जाती है जिसमे बैंक में उसका जो खाता रहता है उसकी प्रतिलिपि होती है। द्रव्य प्राय: सप्ताह मे केवल एक अथवा दो बार ही निकाला जा सकता है और बड़ी-बड़ी रक़मों को निकालने के लिये पहिले से कुछ समय की सूचना देनी पड़ती है। जितनी रकम इनमें जमा होती है उससे अधिक निकालने की कभी भी आज्ञा नहीं मिलती। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका मे अनेकों प्रकार के सेविंग्स बैंक हैं। इङ्गलिस्तान मे डाकघर यह काम करते हैं और हमारे देश मे भी ऐसा ही है। किन्तु यहाँ पर व्यापारिक बैंक भी अपने यहाँ ऐसे खाते रखते है।

निजू बैंक (Private Banks)

उपर्युक्त सभी बैंक आधुनिक काल के बैंक है। किन्तु इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे निजू बैंक भी है जो व्यापार के साथ-साथ बैंकिंग भी करते है। इनके काम करने के ढंग भी बहुत पुराने है। इङ्गलिस्तान के ऐसे सर्राफ महाजन तथा अन्य महाजनों के विषय मे हम पहिले ही पढ़ आये है। हमारे देश मे इनकी संख्या आज भी बहुत है। वास्तव में ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ यह न पाये जाते हों। प्राय: कृषि के सारे धन्धे को और देशान्तर्गत व्यापार के एक बहुत बड़े भाग को यही आर्थिक सहायता पहुँचाते है। इनके सुधार की आवश्यकता तो अवश्य है किन्तु जैसा कि किसी विद्वान् ने कहा है यह हमारे आर्थिक संगठन के बहुत ही आवश्यक अङ्ग हैं और इनके बिना हमारा काम नही चल सकता।

साथ ही इनको समाप्त कर देने से न केवल भारतवर्ष ही को वरन् समस्त संसार के सभी देशों को एक बहुत बड़ी क्षति उठानी पड़ेगी। कहना न होगा कि कुछ ऐसे बैंकर आज भी सभी देशों में पाये जाते है।

अन्य प्रकार के बैंक (Miscellaneous Banks)

लोगों की विशेष आवश्यकताओं को पूरी करने के लिये आधुनिक काल मे स्थान-स्थान पर कुछ अन्य प्रकार के बैंक भी खुल गये है। उदाहरण के लिये इङ्गलैण्ड और अमेरिका में लागत लगाने वाले बैंक (Investment Banks) है जिनका काम पूँजी को अनेकों प्रकार के प्रयोगों मे विभाजित करना है। फिर अमेरिका मे मज़दूर संघों के अपने मजदूर बैंक (Labour Banks) भी हैं जिनमें उनके मज़दूर अपनी बचत जमा करते हैं। हमारे ही देश में कुछ बड़े-बड़े कालिजों मे विद्यार्थियों का द्रव्य जमा रखने के लिए विद्यार्थी बैंक (Student Banks) है। लन्दन के सौदागर महाजन (Merchant Bankers) और वहाँ की बिलों पर स्वीकृति देने वाली संस्थायें (Accepting Houses) एक अन्य प्रकार की ऐसी संस्थायें हैं जो एक विशेष प्रकार का काम करती है। आजकल व्यापार साख पर निर्भर है। किन्तु जब कोई व्यापारी विदेशों मे उधार माल बेचता है तब उसको इस बात की आवश्यकता पड़ती है कि वह अपने ग्राहकों की आर्थिक स्थिति पर बराबर ध्यान रक्खे। अतः, यह काम उपर्युक्त सौदागर महाजनों ने अपने ऊपर ले रक्खा है। उनका सम्बन्ध सभी देशों से रहता है। अतः, वे भिन्न-भिन्न देशों के ऊपर किये गये विनिमय के बिलों पर भी उनकी ओर से स्वीकृति दे सकते हैं। कभी-कभी वे इसके लिये विनिमय के बैंकों की मंत्रणा भी ले लेते हैं। इनके अतिरिक्त लन्दन मे कुछ डिस्काउन्टिंग संस्थायें (Discounting Houses) है जो सारे शहर मे ऐसे विनिमय के बिलों की तलाश मे रहती हैं जिनका उस समय का मूल्य वह दे देती है। उनके साधनों मे उनकी स्वयम् की पूँजी, जनता की उन्ही शर्तों पर जमा की गई रकम जैसी अन्य बैंकों की होती हैं, हाँ, ऊँची दरों पर अवश्य, और कभी-कभी बैंकों से सप्ताह भर के लिये अथवा रात्रि भर के लिये (Overnight) लिये हुये ऋण सम्मिलित रहते हैं। बिलों का उस समय का मूल्य प्राप्त

करने वाले लोगों और व्यापारिक बैंकों के बीच मे वे दलाली का भी काम करते है। ये सब थोड़े से उदाहरण हैं। संसार मे सभी जगह भिन्न-भिन्न प्रकार की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये अगणित प्रकार की बैंकिंग संस्थाये हैं।

प्रश्न

(१) 'बैंकिङ्ग मे भी विशिष्टता पाई जाती है, यद्यपि वह अभी पूरी तरह से सफलीभूत नहीं हुई है।' समझाइये।

(२) हमारे देखने मे अधिकाश मे किन-किन तरह के बैंक आते हैं? उनका संक्षिप्त विवरण दीजिये।

अध्याय ४

व्यापारिक बैंकों के काम (Functions)

जैसा कि हमको ज्ञात हो चुका है व्यापारिक बैंकों का प्रारम्भ लोगों का द्रव्य जमा करने के विचार से केवल उस समय के बाद ही हुआ था जब कि लन्दन की जनता ने वहाँ के सर्राफ महाजनों के पास अपनी रकम जमा करना प्रारम्भ कर दिया था। उनको इस बात को समझने मे भी अधिक देर नहीं लगी कि यदि वह जमा मे पाये हुये द्रव्य को वापस करने के समय के पहिले प्राप्त कर सकें तो उसको उधार देकर इस व्यवसाय को बहुत ही लाभदायक बनाया जा सकता है। धीरे-धीरे उनको यह भी मालूम हो गया कि उनके प्रतिदिन के भुगतानों के लिये उन्हें प्रति दिन ही यथेष्ट रकम प्राप्त हो जाती है, अत: इस बात की आवश्यकता भी नहीं है कि उधार दी हुई रकम जमा की हुई रकम की वापिसी के पहिले ही प्राप्त हो जाय। इसमें सन्देह नहीं कि उनको ऋण देने मे अपनी बुद्धि का प्रयोग करना पड़ता था और उचित जमानत लेनी पड़ती थी। कभी-कभी उनकी बहुत हानि भी हुई है। उदाहरण के लिये जब चार्ल्स द्वितीय ने अपने लिये हुये ऋण को लौटाने से इंकार कर दिया था। अत:, यह स्पष्ट है कि बैंकिंग के दो मुख्य काम द्रव्य उधार लेना और देना है। बस, हम यहाँ पर इन्हीं का अध्ययन करेंगे। किन्तु आज-कल के बैंक इनके

अतिरिक्त कुछ अन्य काम भी करते हैं जिससे जनता को सुविधा मिलती है।

इन तमाम कामों का हम चार शीर्षक मे अध्ययन कर सकते हैं :—

(१) जमा लेना।
(२) ऋण देना।
(३) आढ़त के काम करना।
(४) अन्य कार्य।

जमा लेना (Receiving Deposits)

जमा कई खातों में ली जाती है जिनमें मुख्य तो चालू खाता (Current Account) खाता है, किन्तु अन्य भी कई खाते हैं जैसे स्थायी खाता (Fixed Deposit Account), बचत का खाता (Savings Bank Account) गोलक खाता (Home Safe Account), इत्यादि। पहिले-पहिले जो जमा प्राप्त होती थी वह तो स्थायी खातों ही मे होती थीं। किन्तु शीघ्र ही सर्राफ महाजनों ने यह समझ लिया कि यदि जमा मे प्राप्त होने वाली रकम एक बहुत बड़ी मात्रा में है तो वह इस बात पर निर्भर रहकर कि उसमें से एक बहुत बड़ी रकम बहुत दिनों तक वापिस नहीं माँगी जायगी उस रकम को ऋण मे भी दे सकते हैं। अतः उन्होंने माँग की वापिसी की शर्त पर भी जमा (Demand Deposits) प्राप्त करना प्रारम्भ कर दिया। इस तरह से चालू खातों की नींव पड़ी जिनमें से जमा करने वाले अपनी रकम को जब चाहे तब प्राप्त कर सकते हैं। इसके बाद चेकों का प्रादुर्भाव हुआ जिससे कि चालू खातों से रुपया निकालने में बहुत सुविधा पड़ने लगी। फिर जब चेकें अच्छा अधिकार देने वाले पुर्जों (Negotiable Instruments) की तरह जन साधारण में स्वीकृत होने लगीं और हाथों-हाथ चलने लगीं तब जमा प्राप्त करने वाली बैंकिंग की प्रणाली और भी उन्नति को प्राप्त होने लगी। यह अवश्य ही लन्दन से प्रगट हुई है। चालू खातों में साधारणतया ब्याज नहीं दिया जाता, यहाँ तक कि कभी-कभी यह शर्त भी रहती है कि जमा करने वाले उसमें से न्यूनतम रकम कभी भी नहीं निकाल सकेंगे। लन्दन में तो

इन पर व्याज न देने का एक चलन ही हो गया है। बैंक इनको केवल इसीलिये रखते हैं कि उनको एक मुक्त रकम (Free Balance) मिल जाती है। यह रकम उतनी होती है कि जितने का व्याज खाता रखने के खर्च के बराबर होता है, और यह खर्च भी लेजर के पृष्ठों के चलने और चेकों के प्रयोग की संख्या पर निर्भर रहता है। यदि यह मुक्त रकम नहीं छोड़ी जाती तो फिर बैंक ग्राहकों से एक कमीशन लेता है जैसा कि हमारे देश मे चलन है। यह छमाही लिया जाता है। इसको प्रासंगिक व्यय (Incidental Charges) कहते हैं। हाँ, कुछ ऐसे भी बैंक हैं जो व्योज देते हैं। इंगलिस्तान के अन्य शहरों मे तो कहना ही क्या है यह लन्दन मे भी हैं। हमारे देश मे भी ऐसे अनेकों बैंक हैं।

स्थायी खातों में जो रकम जमा की जाती है वह उस अवधि के बीत जाने के पहिले नहीं निकाली जा सकती जिसके लिये वह जमा की गई थी। कभी-कभी यह पहिले से सूचना देकर भी निकाली जा सकती है। इन्हें अमेरिका मे समय के लिये प्राप्त जमा (Time Depoits) भी कहते है। इन्हें व्याज देकर आकर्पित किया जाता है जिसकी दर जितना अधिक समय होता है उतनी ही अधिक होती है। लन्दन मे यह सात दिनों की सूचना पर भी जमा किये जाते हैं, किन्तु सात दिनों की सूचना देने के पहिले इनको कम से कम एक माह तक अवश्य जमा रखना पड़ता है इनके व्याज की दर को बैंकों के जमा की दर (Bank Deposit Rate) कहते हैं। भारतवर्ष में ये तीन महीनों, छै महीनों, नौ महीनों और एक वर्ष के लिये जमा होते हैं। कुछ बैंक एक वर्ष से ऊपर के लिये भी जमा प्राप्त करते हैं, किन्तु ऐसा बहुत कम (Time Deposits) किया जाता है।

कुछ समय के लिये जमा और मांग पर वापिस होने वाली जमा (Demand Deposits) दोनों की रकमे आपस मे बदलती भी रहती हैं। जब व्यापार मन्दा हो जाता है तब चालू खातों की रकमें स्थायी खातों मे चली जाती हैं और जब व्यापार की तेजी होती है इसका उल्टा हो जाता है। अच्छी बैंकिंग के अर्थ यह है कि जमा अधिकांश मे चालू खातों मे ही हो। विख्यात बैंकरों ने स्थायी खातों के और व्याज देने के दोनों के विरोध में बहुत कुछ कहा है। व्यापारिक बैंक तो व्यापारियों से काम करते हैं जिनके पास स्थायी खातों में

रखने के लिये फालतू रकमें नहीं होतीं, उनको तो केवल उतनी ही पूँजी रखनी चाहिये जितनी उनके व्यापार के लिये आवश्यक है। अतः, इसको उन्हे चालू खातों मे ही रखना चाहिये। निर्धारित समय के लिये जमा प्राप्त करने का काम तो लागत वाले बैंकों (Investment Bank) का है। अतः, व्यवसाय की छीना-झपटी नहीं होनी चाहिये। किन्तु भारतवर्ष ऐसे देश में जहाँ लागत के बैंक हैं ही नहीं व्यापारिक बैंकों के इस काम को करने में कोई हानि नहीं मालूम पड़ती।

कुछ देशों मे और विशेषतः भारतवर्ष में व्यापारिक बैंक बचत के खातों मे भी जमा प्राप्त करते है। सम्पूर्ण जमा की रकम के जो अंश वर्तमान काल में इन खातों मे है वह प्रथम युद्ध के पहिले के काल की अपेक्षा कहीं अधिक है। इनका एक मात्र उद्देश्य थोड़ी आय वाले लोगों मे मितव्ययता का प्रचार करना है। वास्तव में यह काम भी व्यापारिक बैंकों के लिये उपयुक्त नहीं है। किन्तु वे लोग इसे बराबर करते आ रहे है और इसका महत्व मी इतना बढ़ गया है कि हमको अधिक नहीं तो थोड़ा सा अवश्य इसके विषय में अध्ययन कर लेना चाहिये। इन खातों की रकम एक निर्धारित सीमा के ऊपर नहीं जाने दी जाती। इनको कोई भी व्यक्ति अपने नाम में अथवा किसी अपने कमवयस्क सम्बन्धी के नाम मे अथवा किसी ऐसे कमवयस्क के नाम मे जिसका वह अभिभावक नियुक्त हुआ हो, खोल सकता है। इसमें जमा तो जब चाहे तब की जा सकती है किन्तु इसमें से निकाला सप्ताह मे केवल एक अथवा दो बार ही जा सकता है। कुछ बैंक इसमें चेकों के प्रयोग की भी सुविधा देने लगे है। कहीं-कहीं इस सुविधा को प्राप्त करने के लिये एक न्यूनतम मुक्त रकम का रखना भी आवश्यक है। पांचवीं तारीख के अन्त के बीच में जिस दिन भी न्यूनतम रकम होती है उसी पर पूरे एक माह का ब्याज लगाया जाता है। कहीं-कहीं, एक निर्धारित रकम से अधिक रकम निकालने के लिये कुछ दिनों की सूचना की भी आवश्यकता पड़ती है।

गोलक खाता बचत खाते ही की तरह है। इसको हमारे देश के सैन्ट्रल बैंक के अधिकारियों ने चालू किया था। इसका ध्येय बचों मे भी मितव्ययता की आदत डालना है। जब कोई व्यक्ति यह खाता खोलता है तब उसको एक सुन्दर गोलक दे दिया जाता है जिसको वह अपने घर ले जाता है और जिसमें वह समय-समय पर अपने पैसे डालता

रहता है। जब गोलक भर जाता है तब वह उसको बैंक में वापस ले जाता है जहाँ पर उसको खोल कर उसका रुपया उसके खाते में जमा कर लिया जाता है। गोलक के स्थान पर एक सुन्दर घड़ी भी मिलती है जिसमें प्रति दिन एक आना छोड़ने से चाभी भरी जाती है। इस खाते की ही तरह व्याज लगाया जाता है।

जमा अन्य खातों में भी प्राप्त की जाती है। निजी खर्चों को देने के लिये निजू खाते (Private Accounts) खोले जाते है। इसके अतिरिक्त अन्य विशेष कामों के लिये विशेष खाते खुलते हैं। उदाहरण के लिये बच्चों के लिये बच्चों के विवाह के लिये द्रव्य एकत्रित करने के लक्ष्य से विवाह खाता (Marriage Account) खोला जाता है।

जमा के भेद (Nature of Depoits)

जमा कई प्रकार से प्राप्त होते है। ग्राहक नकद जमा कर सकते हैं अथवा नकदी मिलने के अपने अधिकारों को भी जमा कर सकते हैं। ये चेक, विनिमय के बिल और प्रणपत्र इत्यादि हो सकते हैं। बैंक इनका भुगतान प्राप्त करके उसको खातों मे जमा कर लेता है। बैंकों के ऋण देने से अथवा विनिमय के बिलों को डिस्काउण्ट कर देने से भी उनको जमा प्राप्त हो जाती है। इनको स्रजित जमा (Created Deposits) कहते है। वास्तव मे आज कल स्रजित जमा की रकम अन्य प्रकार से उत्पन्न हुई जमा की रकम से कहीं अधिक होती है। अतः, इस बात को सोचना कि बैंक के चिट्ठे (Balance Sheet) में जितना जमा (Deposits) दिखलाया गया है उतना उसे नकद प्राप्त हुआ है, भ्रमपूर्ण है। मैक्लियड का कहना है कि यह रकम उस रकम की द्योतक नहीं है जो बैंक को उसका व्यवसाय चलाने के लिये प्राप्त हो चुकी है। यह तो यह बतलाती है कि बैंक ने कितना व्यवसाय किया है और उसने कितने का अपना उत्तरदायित्व (Liabilities) खड़ा कर लिया है। अतः, यह जमा की रकमें जिनको बहुत से लेखक नक़द प्राप्त हुई रक़में समझते हैं, केवल उस साख की द्योतक हैं जो बैंकों ने उस नक़द, विनिमय के बिलों और ऋण के बदले में उत्पन्न कर ली है जो उसके चिट्ठे में सम्पत्ति और पाउने (Assets) की तरफ दिखलाई गई है। जब किसी ग्राहक को थोड़े समय के लिये द्रव्य की आवश्यकता पड़ती

है तब वह बैंकर से या तो ऋण (Loan) लेने अथवा अधिक द्रव्य निकालने (Overdraft) अथवा नकद साख प्राप्त करने (Cash Credits) अथवा बिल को भुनाने (Bill Discounting) की प्रार्थना करता है। बैंकर तो यह जानता है कि द्रव्य रखने के लिये नहीं वरन् भुगतान करने के लिये मांगा जा रहा है। अतः, प्रायः वह इस शर्त पर उसकी प्रार्थना स्वीकार कर लेता है कि ग्राहक सब रकम नकद न लेकर जब कभी उसको भुगतान करना होगा तब चेकें काटेगा। हम जानते हैं कि चेकों के काटने का यह अधिकार तो नकद जमा करने पर भी मिलता है, अतः, हम यह कह सकते हैं कि इसको चाहे ग्राहक स्वयम् प्राप्त कर ले अथवा बैंक उसको दे दे। जब ग्राहक नकदी जमा करता है तब वह इसे स्वयम् प्राप्त करता है और जब बैंक उसे किसी भी रूप मे ऋण देता है तो बैंक उसे इसे देता है। किन्तु बैंक की इस अधिकार को देने की शक्ति उसके पास जितनी नकदी होती है उसी के अनुसार सीमित रहती है। अतः, जैसा कीन्स ने कहा है हम भी कह सकते है कि ऋण जमा के बच्चे हैं और जमा ऋण के बच्चे है [1]।

किन्तु बहुत से लोग उपर्युक्त बात को नहीं समझ पाते हैं और कहते हैं कि बैंक के लेखक (Clerks) जितनी चाहे उतनी साख उत्पन्न कर सकते हैं [2]। यदि उनमें दुर्भाव न हो तो इतनी अधिक साख उत्पन्न हो जाय कि संसार से दरिद्रता और पसीना बहाने वाली सख्त मेहनत का सदा के लिये विनाश हो जाय। वे इस बात को नहीं सोचते कि [3]

---

1. Loans are the children of deposits and deposits are the children of loans.

2. Credit is the mere creation of the bank clerk's pen and that but for the malevolence of the wicked banker enough of it could be created to remove poverty and banish toil from the world.

3. Why the banker should be so concerned to reduce the volume of the material in which he trades and from which he earns his living if he has the power they think he has?

यदि बैंकर के पास इतनी शक्ति है तो वह उस चीज को क्यों कम करता है जिससे वह व्यापार करता है और अपनी रोटी कमाता है।

ऋण देना (Granting Loans)

यह तो बतलाया ही जा चुका है कि बैंकर प्राय: नकद ऋण नहीं देते। अधिकांश में उनके ग्राहकों के ऋण चेक काटने के अधिकार के रूप मे ही होते है। इनके कई रूप है, जैसे ऋण का रूप (Loans and Advances) जमा की गई रकम से अधिक रकम निकालने का रूप (Overdrafts) नकद साख का रूप (Cash Credits) अथवा विनिमय के बिलों के भुनाने का रूप (Bill Discounting) इत्यादि, इत्यादि। बैंकर अपनी पूंजी नहीं देते। इसके विषय में लार्ड ओवरस्टन नाम के एक प्रसिद्ध बैंकर ने कहा है "यह मेरी स्वयम् की बुद्धि है और दूसरे का द्रव्य है।" रेकार्डो ने भी इसी आशय की बात कही थी। उसका कहना था "कोई व्यक्ति तभी बैंकर कहला सकता है जब वह दूसरों का द्रव्य उधार देता हैं।" वास्तव मे बैंकों के पास अपने नकद कोष को रखने और मृत स्टाक (Dead Stock) खरीदने के बाद अपनी स्वयम् की पूंजी ऋण के रूप मे देने के लिये नहीं बचती। अतः, वह इस काम के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं कर सकते कि दूसरों के द्वारा जमा किये हुये द्रव्य को इस काम मे लगावें। किन्तु इन्हे उन्हे माग पर वापिस करना पड़ता है। यदि वे ऐसा नही कर पाते है तो दिवालिया घोषित कर दिये जाते हैं जिससे उनका काम ही बन्द हो जाता है। हमे यह भी ज्ञात है कि वह केवल उसी सीमा तक ऋण देते है। वह साख उत्पन्न करते है। इसमे सब मे अवश्य ही बुद्धि की आवश्यकता पड़ती है। बैंक व्यवस्थापक की स्थिति वास्तव मे बड़ी दयनीय है। एक तरफ तो हिस्सेदार उससे अधिकाधिक लाभ कमाने की आशा रखते है जो जोखिम उठाये बिना हो ही नहीं सकता और दूसरी तरफ उसके व्यवसाय के ऐसा होने के कारण कि जिससे उसे रक्षा का सबसे अधिक ध्यान रखना पड़ता है वह अधिकाधिक लाभ भी नही उठा सकता। किन्तु यह काम बहुत कठिन नहीं है। आचार्य टाजिग (Taussig) कहते है "सब बातों को देखते हुये व्यापारिक बैंकों का प्रबन्ध बहुत कठिन नहीं है। उसके लिये पूर्व विचार,

साधुता, नियमपालन तथा व्यवसायियों के अच्छे ज्ञान की आवश्यकता है।"

जहाँ तक ऋण के रूपों का प्रश्न है, ऋण (Loans and Advances) तो एक तरफ ग्राहकों के नाम छोड़कर (उनके एकाउन्टों को डेबिट करके) और दूसरी ओर उनके चालू खातों में जमा करके (उनके करेन्ट एकाउन्ट को क्रेडिट करके) दे दिया जाता है। यह व्यवसाय बहुत ही लाभप्रद है क्योंकि इसमें तो बैंकर केवल अपनी साख ही जिसे जनता केवल इसलिये मानती है कि उसका नाम बहुत प्रसिद्ध होता है ऋण के रूप में देता है। यदि वह तनिक सा भी ध्यान रखता है तो इसमें उसको लेश मात्र भी जोखिम नहीं उठानी पड़ती। बैंक हर प्रकार की जमानतों पर ऋण नही देते। वे केवल उन्हीं जमानतों को स्वीकार करते हैं जो आसानी से बिक सकती हैं। उनके मूल्य का भी ह्रास नहीं होना चाहिये। जार्ज रे ने कहा है कि बैंकों के लिए दोष रहित जमानतें वहीं हैं जो अन्त मे भी सुरक्षित हैं, जिनका भुगतान थोड़ी अवधि के बाद ही एक निश्चित तिथि पर होने को है, जिनमें आवश्यकता पड़ने पर शीघ्र ही बिक जाने की योग्यता है और जो ह्रास की जोखिम से मुक्त है। कभी कभी ऋण लेने वालों की वैयक्तिक जमानत ही ले ली जाती है, अथवा एक संयुक्त प्रणपत्र अथवा दो नाम वाला साख पत्र ही ले लिया जाता है। इस ऋण में पूरी रकम पर ब्याज लगाया जाता है।

जमा की हुई रकम से अधिक निकालने ((Overdraft) का अधिकार भी केवल बैंक व्यवस्थापक से पहिले ही तै कर लेने पर प्राप्त हो सकता है। इसे प्राप्त करने के लिए ग्राहकों को उसके पास जाना पड़ता है अथवा उससे लिखा पढ़ी करनी पड़ती है। इसमें यह भी तय हो जाता है कि इस तरह से अधिक से अधिक कितनी रकम निकाली जा सकती है। फिर जितने दिनों के लिये यह सुविधा दी जाती है वह भी पहिले से ही निश्चित हो जाती है। इतना हो जाने पर बैंकर चेकों को उस निश्चित रकम तक सकारता जाता है। ऋण (Loan) और जमा की हुई रकम से अधिक प्राप्त करने (Overdraft) मे एकयह भी अन्तर है कि जब कि ऋण (Loan) मे ग्राहक ऋण की पूरी रकम पर ब्याज देता है जमा की हुई रकम से अधिक प्राप्त करने (Overdraft) में वह उतनी ही

रकम पर व्याज देता है जितनी दिन प्रति दिन उसके नाम पड़ी रहती है। इसके यह अर्थ हैं कि जमा की हुई रकम से अधिक प्राप्त करने (Overdraft) में ग्राहकों को ऋण (Loans) की अपेक्षा कहीं अधिक लाभ होता है। किन्तु बैंक इन पर ऊंचे दर से व्याज लगा कर ऐसा नहीं होने देते। ऋण की तरह यह भी जमानत पर अथवा विना जमानत के ही प्राप्त हो सकते हैं।

नकद् साख (Cash Credit) देने की प्रणाली स्काटलैण्ड में जहा यह पहिले पहिल चालू हुई थी, वहुत ही प्रिय है। मैक्लियड का कहना है कि वहाँ की उन्नति केवल इसी प्रणाली के कारण हुई है। उसका कथन है कि नाइल नदी ने जो कुछ मिश्र के लिये किया है वही नकद् साख (Cash Credit) प्रणाली ने स्काटलैण्ड के लिए किया है, अर्थात् वह उत्पादन वढ़ाने वाली सिद्ध हुई है। लेवी कहता है 'स्काच वैंकों ने वहुत से दरिद्र स्काचों को केवल दो घरेलू व्यक्तियों के द्वारा लिखे हुए साख पत्रों पर ही नकद् साख देकर उनको योग्यता की स्थिति मे ही नहीं वरन वहुत ही महत्वपूर्ण स्थितियों मे पहुँचा दिया है।' हमारे देश मे भी यह प्रणाली व्यापारिक वैंकों को वहुत ही प्रिय है। किन्तु वे इसे केवल वैयक्तिक जमानतों पर ही न देकर ऐसे प्रणपत्रों की जमानत पर देते है जिनके पृष्ठ पर हिस्से अथवा अन्य साख पत्र रहते है अथवा रुई, पाट और चावल जैसी वस्तुये होती हैं। यदि माल बैंको के गोदामों में रख दिया जाता है तो उनके वहाँ पहुँचने पर ऋण दे दिया जाता है और उसकी जैसे जैसे वापसी होती जाती है वह छुटता जाता है। ऋण देते समय उचित छूट (Margin) रख ली जाती है। इसमे भी जमा की हुई रकम से अधिक निकालने (Overdrafts) की तरह ही जो रकम ऋणी लिये रहता है उसी पर व्याज लगता है। हॉ, दोनों में एक अन्तर यह है कि जव इसमे ऋणी के नाम का एक नया खाता जिसको उल्टा चालू खाता (Inverse Current Account) कहा जा सकता है, खोला जाता है। उसमें वही पुराना चालू खाता चलता रहता है।

विलों को भुना करके भी ऋण प्राप्त किया जा सकता है। आधुनिक व्यापार साख पर ही निर्भर है। नकद् सौदे तो केवल खुदरा व्यापार मे ही होते है। उद्योग धन्धों के सम्वन्ध के वहुत से सौदे तो साख पर होते हैं। कच्चे माल के उत्पादक उनको माल वनाने वालों

के हाथ साख पर ही बेचते हैं। ऐसे ही माल को थोक व्यापारियों के हाथ, थोक व्यापारी खुदरा व्यापारियों के हाथ साख पर ही बेचते हैं, अतः, यह आदि से अन्त तक फैला हुआ है और हम इस बात को किसी विरोध के बिना कह सकते हैं कि आज का समस्त औद्योगिक संसार साख की जंजीर से जकड़ा हुआ है। यदि यह अपने इस विस्तर्ण रूप में न फैला होता तो उत्पत्ति का आजकल का इतना बड़ा रूप सम्भव ही न होता। साख ने व्यापार की मशीन की चाल को बढ़ा दिया है जब कोई साख का सौदा होता है तो विक्रेता एक विनिमय का बिल तैयार करता है जिसमे वह विक्रेता से एक निश्चित अवधि के बीत जाने पर उसमें दी रकम देने की मांग करता है। भुगतान का यह तरीका बहुत ही सुविधाजनक है। प्रथम तो इसके भुगतान के बैंकों के द्वारा होने के कारण मुद्राओं और नोटों के प्रयोग की आवश्यकता नहीं पड़ती। दूसरे विनिमय के बिलों से भुगतान की तारीख भी निश्चित हो जाती है और यह एक प्रकार के साक्षी का भी काम देते हैं। भुगतान के दिन यदि इसका ऊपर वाला धनी (Drawee) भुगतान नही करता तो वह अदालत में यह नहीं कह सकता कि उसके ऊपर ऋण नही चाहिये। जिस सौदे के सम्बन्ध में कोई बिल किया जाता है, उस सौदे के विषय मे कोई प्रश्न उठ ही नहीं सकता। बिल स्वयं ही ऋण का द्योतक माना जाता है। तीसरे, इसका अधिकारी (Holder) इसे अपने ऋण के भुगतान मे हस्तान्तरित (Transfer) कर सकता है। अन्तिम बात यह है कि आवश्यकता पड़ने पर इसके अधिकारी को इसे भुनाने से इसके भुगतान की तारीख के पहिले ही इसकी रकम मिल जाती है। वास्तव मे जिन व्यापारियों के पास पूँजी तो कम है किन्तु साख पर काम करना है उनके लिए रकम पाने का यह अच्छा साधन है।

बिल भुनाने का तरीका एक ऐसा तरीका है जिसमें बैंकर किसी अन्य जमानत को लिए बिना ही ऋण दे देता है। इस स्थिति मे उसके लिये केवल लिखने वाले धनी (Drawer) और ऊपर वाले धनी (Drawee) दोनों की वैयक्तिक जमानत ही रहती है। कभी-कभी इन बिलों को पहिले तो भुनाने का काम करने वाली संस्थाओं (Discounting Houses) अथवा बिलों के दलालों (Bill Brokers) से भुना लिया जाता है और फिर वे

इन्हे किसी बैंक से भुनाते है। ऐसी अवस्था मे इन मध्यस्थों की एक और जमानत हो जाती है। भारतवर्ष मे सर्राफ अथवा देशी महाजन (Indigenous Bankers) इस मध्यस्थ के काम को करते है। बिल पर रकम देने वाला महाजन (Banker) शेष अवधि का व्याज काटकर बिल की रकम उसके अधिकारी के खाते मे जमा कर देता है और वह उसको उसमे से चेकों द्वारा धीरे-धीरे निकालता रहता है। बैंक बिलों को भुगतान की तारीख तक अपने पास रखते हैं और अन्त मे ऊपर वाले धनी से उनकी रकम प्राप्त कर लेते है। ऊपर बाला धनी किसी बिल पर अपनी स्वीकृति देने के समय अपने बैंक को जिसका नाम वह स्वीकृति के साथ-साथ भुगतान देने के स्थान की जगह पर लिख देता है उसका भुगतान करने को सूचित कर देता है।

बिलों पर ऋण देना बैंकों के लिए बहुत ही लाभप्रद है—

(१) बिल पर मिलने वाली रकम निश्चित रहती है। वह कभी भी नही बदल सकती। इसके विपरीत अन्य जमानती रकमे बदलती रहती है। उनके गिर जाने से हानि भी हो सकती है।

(२) बिल की अवधि बीत जाने पर उसका भुगतान मिल जाना पूर्णतया निश्चित ही रहता है। बात यह है कि किसी बिल के खडे रह जाने पर (Dishonour) उसके ऊपर वाले धनी की बड़ी बदनामी होती है जिसको कोई भी व्यक्ति सहन नही कर सकता। फिर यदि वह उसका भुगतान नही करता तो उस पर और जो धनी उत्तरदायी होते है वह उसका भुगतान कर देते है।

(३) किसी भी बैंक का व्यवस्थापक बिलों पर ऋण देते समय इस बात का ध्यान रख सकता है कि उनमें से कुछ बराबर भुगतान के लिये पकते रहं। इससे उसको बराबर रकम मिलती रहती है।

(४) केन्द्रीय बैंक अच्छे बिलों पर फिर से ऋण देने (Rediscounting) के लिये बराबर तैयार रहते है। इन पर वह अपनी बैंक-दर (Bank-rate) से व्याज लेते है।

(५) यदि इन्हे भुनाने की दर और व्याज की दर एक ही होती है तो भी इनके ऊपरी-मूल्य (Face-value) पर न कि जितना ऋण दिया गया है-उस पर कटौती (Discount) मिलने के कारण बैंकों का लाभ ही होता है। इसके अतिरिक्त इनका यह लाभ ऋण देने

के समय ही मिल जाता है और अन्य ऋणों का व्याज कुछ समय बीतने पर मिलता है। अतः, बैंक इस रकम से भी लाभ उठा सकते हैं।

किन्तु इस व्यवसाय में भी इसे बेपरवाही से करने पर बड़ी जोखिमे है। यह बात विशेषतः इसलिये है कि विनिमय के बिल कई प्रकार के होते हैं—वास्तविक (Genuine), बनावटी (Non-genuine)। इन दोनों में विभेद करना भी असम्भव सा है। वास्तविक बिल व्यापारिक सौदों के सम्बन्ध में किये जाते है। अतः, उनकेभुगतान की तारीख तक माल के बिक जाने की सम्भावना होने से उनका भुगतान तो एक प्रकार से निश्चित सा ही रहता है। किन्तु बनावटी बिल तो केवल उनके धनियों की साख पर ही निर्भर रहते हैं। अतः, उनके भुगतान मे सन्देह हो सकता है। कभी-कभी ये बिल केवल अपने व्यापारी मित्रों की आर्थिक सहायता करने के विचार से ही स्वीकृत कर लिये ज़ाते है, और उनके भुन जाने से लिखने वाले धनी को द्रव्य तो मिल ही जाता है। लिखने वाला धनी इसके भुगतान की तारीख के पहिले ऊपर वाले धनी के पास इसकी रकम पहुँचा देने का वायदा कर लेता है। अब, यदि वह ऐसा नहीं करता तो सम्भव है कि ऊपर वाला धनी उसका भुगतान न कर सके। राऊ कहता है कि यदि सहायता के सम्बन्ध के बहुत से बिल हो जायँ और लिखने वाले तथा ऊपर वाले धनियों की आशायें सफलीभूत न हों तो यह सम्भव है कि ऐसे बिलों का भुगतान न होने के कारण बैंकर की हानि हो जाय। ये बिल साख पर तो निर्भर होते ही हैं और साख का अनुचित प्रयोग कभी भी किया जा सकता है। सहायता के बिलों (Accommodation Bills) को पतंगी बिल (Kite Bills) भी कहते है। आशा पर किये गये बिलों (Anticipatory Bills) को अर्थ बिल (Financial Bills) भी कहते हैं। ये वर्तमान सम्पत्ति के ऊपर नहीं वरन् भविष्य में उत्पन्न होने वाली सम्पत्ति पर किये जाते हैं। ये अमेरिका मे बहुत प्रचलित हैं और कृषकों को उनके दैनिक व्यय देने के लिये किये जाते हैं। ये भी बैंकरों के लिये उपयुक्त नहीं हैं क्योंकि खड़ी खेती के मूल्य पर निर्भर रहना जोखिम से खाली नहीं है।

आढ़त के काम (Agency Services)

बैंकर अपने ग्राहकों के लिये अनेकों प्रकार के आढ़त के काम भी

किया करते हैं। वे उनके चेकों, विलों, ऋणपत्रों, व्याजपत्रों (Coupons) लाभ की बँटनी के पत्रों (Dividend-warrants) चन्दे (Subscriptions), किराये, आय कर, वीमे के प्रीमियम, इत्यादि की वसूली भुगतान और जमा करते हैं। वे उनकी तरफ से हिस्से-पत्रों, स्टाकों, ऋणपत्रों, इत्यादि की स्टाक एक्सचेञ्ज मे और अन्य वस्तुओं की अन्य वाजारों में लेवा-बेची करते हैं। वास्तव मे वे आढ़त पाने पर उनके लिये कोई भी काम कर सकते हैं। कभी-कभी तो वे इन्हे आढत लिए बिना ही केवल जमा प्राप्ति की लालच मे ही किया करते है। किन्तु वे जव आढ़त का काम करते हैं तव उनके ऊपर वहुत से महत्वपूर्ण दायित्व आ पड़ते हैं।

अन्य काम (Miscellaneous Services)

अन्य कामों मे वैंकरों द्वारा किये जाने वाले अनेकों काम सम्मिलित हैं। वे अपने ग्राहकों की मूल्यवान सम्पत्ति, गहनों और जवाहिरात तथा मूल्यवान कागजों को सुरक्षित रखने (Safe custody) के लिये भी लेते हैं। वे सम्मति देने (Referee) का भी काम करते है। जब कोई व्यवसायी किसी अन्य व्यवसायी की आर्थिक स्थिति का पता लगाना चाहता है तब उसे उसके वैंकर का हवाला (Reference) दे दिया जाता है जो उसे उसके विपय में सारी सूचनायें दे देता है। वे अपने ग्राहकों के सम्भावित ग्राहकों की स्थिति का पता भी लगा देते है जिससे वे उनकी साख पर काम करने अथवा न करने का निश्चय करते है। वे साख-पत्र (Letters of credit) और वैंक ड्राफ्ट भी निकालते हैं। इनके द्वारा रकमे एक स्थान से दूसरे स्थानों को भेजी जाती हैं। किन्तु किसी वैंकर का सवसे महत्वपूर्ण काम तो यह है कि वह अपने ग्राहकों को सच्ची मित्रता और सहनशीलता सिखाता है। वैंकिग की कार्य-कुशल प्रणाली साख के दर्जे की ओर समाज की व्यवसायिक सच्चरित्रता की इतनी उन्नति करती है कि उन्हे साधुशीलता, विश्वासपात्रता, ईमानदारी, सत्यता और योग्यता का निर्माता कहा जाता है। किसी राष्ट्र के यहाँ जव सीधी-सादी द्रव्य प्रणाली के स्थान पर पेचीदा साख-प्रणाली चालू हो जाती है तभी हमको इस वात का पता चलता है कि उपर्युक्त गुणों के उसके जन-साधारण मे कूट-कूट कर भर जाने से क्या लाभ होता है।

प्रश्न

(१) व्यापारिक बैंको के कामों का सक्षिप्त वर्णन कीजिये।

(२) बैंक किन-किन विभिन्न खातों में जमा प्राप्त करते हैं। उनमे से प्रत्येक के महत्वपूर्ण लक्षण बताइये।

(३) बैंकों की जमा किन-किन तरीकों से बनती है? साथ ही यह भी बतलाइये कि वह उन्हे कहाँ तक शक्ति प्रदान करती है?

(४) 'साख की उत्पत्ति बेंक के' लेखक की लेखनी पर ही निर्भर है।' उपर्युक्त की आलोचना कीजिये।

(५) कीन्स का कथन है "ऋण जमा के बच्चे हैं और जमा ऋण के बच्चे हैं।" इससे आप कहाँ तक सहमत हैं?

(६) बैंकों के ऋण देने के सम्बन्ध में लार्ड ओवरस्टन का जो यह कथन है कि यह मेरी बुद्धि है और दूसरो का द्रव्य है उससे आप कहाँ तक सहमत हैं?

(७) बैंकों के ऋण के जितने रूप हो सकते हैं उनका एक सक्षिप्त विवरण दीजिये। डिस्काउन्ट का व्यवसाय बेंकों को क्यों अधिक प्रिय है?

अध्याय ५

व्यापारिक बैंकों के काम करने की प्रणाली

(Banking Operations)

व्यापारिक बैंकों के काम करने की प्रणाली मे निम्न चार बातों का अध्ययन करना पड़ता है:—

(१) बैंकों को उनकी कार्यशील पूँजी (Working Capital) कैसे प्राप्त होती है।

(२) बैंक अपनी कार्य-शील पूँजी का कैसे उपयोग करते हैं।

(३) बैंक कैसे लाभ कमाते हैं।

(४) बैंक अपने लाभ का किस प्रकार उपयोग करते हैं।

बैंकों को उनकी कार्यशील पूँजी कैसे प्राप्त होती है

बैंकों को उनकी कार्यशील पूँजी अनेकों ढङ्ग से प्राप्त होती है। प्रथम तो अन्य व्यापारिक सस्थाओं की तरह वह भी अपने हिस्से (Shares) निकालते हैं। किसी बैङ्क के सस्थापक यह निश्चय करते हैं कि उनके बैंक की रजिस्ट्री कितनी पूँजी से होनी चाहिये। सारी पूँजी बराबर-बराबर रकम के कुछ भागों मे विभक्त कर दी जाती है, और प्रत्येक भाग एक हिस्सा (Share) कहलाता है। ये हिस्से जनता को क्रय करने के लिये दिये जाते है। कभी-कभी सब हिस्से प्रारम्भ ही मे जनता के क्रय के लिये नही निकाले जाते, वरन् उनमे से कुछ भविष्य मे निकालने के लिये रोक लिये जाते है। फिर, जितने हिस्से निकाले जाते है उन सब को जनता हमेशा ले भी नही लेती है। अब यदि विवरणपत्रिका (Prospectus) मे दी हुई न्यूनतम पूँजी (Minimum-subscription) के हिस्सों के लिये उचित समय के अन्दर जनता के प्रार्थनापत्र नही आ जाते है तो उनकी बँटनी (Allotment) नही होती और बैंक भंग कर दिया जाता है। फिर, हिस्सों की पूरी रकम भी न मँगाई जाकर केवल कुछ अंशों मे ही मँगाई जा सकती है। शेप रकम आवश्यकता पड़ने पर भविष्य मे मँगाने के लिये छोड़ी जा सकती है। अन्तिम, यह भी सम्भव है कि सब हिस्सेदार कुल माँगी हुई रकम न दे पावे। अतः पूँजीके भिन्न-भिन्न रूप है और उनके भिन्न-भिन्न नाम भी हैं। जिस पूँजी से बैंक की रजिस्ट्री होती है उसको अधिकृत अथवा रजिस्टर्ड अथवा नाममात्र की पूँजी (Authorised, Registered or Nominal Capital) कहते है, निकाली गई पूँजी को निकाली गई पूँजी (Issued Capital), खरीदी हुई पूँजी को क्रीत पूँजी (Sudscribed-Capital) माँगी हुई पूँजी को माँगी हुई पूँजी (Called up Capital) और प्राप्त पूँजी को प्राप्त पूँजी (Paid up Capital) कहते है। प्राप्त पूँजी और माँगी हुई पूँजी के अन्तर की रकम को बाकी पूँजी (Calls in arrear) कहते है। यह अन्तर अधिक दिनों तक नहीं चलता। उचित समय के व्यतीत हो जाने पर उन व्यक्तियों के हिस्सों को जब्त (Forfeit) कर लिया जाता है जो उन पर की गई माँग को नही दे पाते है और उन्हे दूसरों के नाम बेच दिया जाता है। माँगी हुई पूँजी और क्रीत पूँजी के बीच के अन्तर को हिस्सेदारों का सुरक्षित दायित्व (Reserved Liability of the Shareholders)

कहते हैं। वैयक्तिक बैंकरों (Individual Bankers) और साझे के बैंकरों का दायित्व तो असीमित रहता है, अर्थात् यदि उनके व्यवसाय का ऋण उनके व्यवसाय की पूँजी से नहीं पूरा हो पाता तो उसको उन्हें अपनी निजी पूँजी से पूरा करना पड़ता है। किंतु सम्मिलित पूँजी के बैंकों के सम्बन्ध में यह बात नहीं है। उनके हिस्सेदारों को केवल उनकी पूँजी की रकम को ही देना पड़ता है। यदि ध्यान से देखा जाय तो यह ठीक ही है। वैयक्तिक बैंकर और साझी बैंकर अपने व्यवसाय को स्वयं चलाते हैं और उसकी नीति को निर्धारित करते हैं। अतः, उनका उत्तरदायित्व भी असीमित रह सकता है। किन्तु सब हिस्सेदार तो व्यवसाय को देखते नहीं, अतः, उनका उत्तरदायित्व सीमित ही रहना चाहिये। सीमित दायित्व का सबसे पहिला विधान सन् १८५५ में इंगलिस्तान में पास किया गया था। किन्तु उस समय यह केवल अन्य व्यापारों के लिये था, बैंकिंग के लिये नहीं। अधिकांश लोगों का यह विचार था कि बैंकरों की स्थिति ऐसी दायित्वपूर्ण है और उनके पास लोगों की इतनी अधिक जमा रहती है कि उनके दायित्व को सीमित नहीं किया जा सकता। सन् १८५७ में बड़े संकट का समय आ गया और उसमे बहुत से बैंक विशेषतः स्काटलैण्ड का पश्चिमी बैंक (Western Bank of Scotland) भी फेल हो गया। अतः यह देखा गया कि धनी लोग बैंकों के हिस्से नहीं खरीदते। उनके अधिकतर हिस्से गरीबों के पास ही रहते हैं। इसलिये धनी लोगों को बैंकों के हिस्से लेने को प्रोत्साहित करने के लिये सन् १८५८ में बैङ्कों के हिस्सेदारों के दायित्व को भी सीमित कर दिया गया। किन्तु बहुत से बैंकों ने यह सोचकर कि कहीं ऐसा करने से उनके ग्राहकों का उनके ऊपर से विश्वास न उठ जाय, ऐसा नहीं किया। लेकिन सन् १८७८ मे ग्लासगो शहर के बैङ्क (City of Glasgow Bank) के फेल हो-जाने पर उसके हिस्सेदारों की बहुत क्षति हो जाने के कारण बैङ्कों के हिस्सेदारों में इतना डर समा गया कि उनके दायित्व को सीमित करना ही पड़ा। सन् १८७९ मे सुरक्षित दायित्व का एक विधान पास किया गया जिसके अनुसार बैङ्क अपने हिस्सों के पूर्ण मूल्य (Nominal value) को इस शर्त पर बढ़ा सकते थे कि वह बढ़ा हुआ मूल्य केवल उनके दिवालिया होने पर ही आवश्यकता पड़ने पर लिया जा सकेगा। बस, यह उनका सुरक्षित दायित्व कहलाया। इसका फल यह हुआ कि

जब कि एक ओर तो हिस्सेदारों का दायित्व सीमित हो गया दूसरी ओर वैङ्कों मे जमा करने वालों को यह विश्वास हो गया कि यदि वह फेल भी हो जायँगे तो उनकी रकम के भुगतान के लिये कुछ रकम तो सुरक्षित दायित्व से मिल ही जायगी। तब से यह प्रथा प्रचलित है और बैंक,अपने हिस्सेदारों से उनके खरीदे हुये हिस्सों की पूरी रकम नहीं माँगते। हमारे देश मे सीमित दायित्व के सिद्धान्त को सन् १८६० में माना गया था। अतः, उसके बाद ही यहाँ पर बहुत से बैंक स्थापित हुये। ऊँचे दर्जे के बैंकों की निकाली हुई पूँजी और क्रीत पूँजी मे कोई अन्तर नही होता। बात यह है कि उनके निकाले हुये सभी हिस्सों के खरीदार मिल जाते है। अधिकृत पूँजी और निकाली हुई पूँजी का अन्तर इस बात का द्योतक है कि व्यवसाय के बढ़ने पर बैङ्क की पूँजी भी बढ़ जायगी। किन्तु इन सब मे सबसे महत्वपूर्ण तो प्राप्त पूँजी ही है। वही तो बैंक की कार्यशील पूँजी का एक विशेष अङ्ग है। किन्तु यह अङ्ग अन्य अंगों की अपेक्षाकृत बहुत ही कम होता है। एक बात और ध्यान देने की है और वह यह है कि हिस्सेदार अपनी पूँजी पर कुछ आय भी चाहते है। बैङ्कों को लाभ तो मिलता ही है, किन्तु उसमे से कुछ तो वे सुरक्षित कोष (Reserve fund) के लिये बचा लेते है। हाँ, शेष हिस्सेदारों मे लाभ के रूप मे (Dividend) बाँट दिया जाता है। सुरक्षित-कोष अन्त मे हिस्सेदारों का ही होता है। अतः, वह भी पूँजी का ही एक अङ्ग माना जाता है। किसी बैंक के सब हिस्सों के बिक जाने के कारण और उनकी पूरी रकम मँगा लेने के कारण जब व्यवसाय के बढ़ने पर उस बैंक की पूँजी बढ़ने का कोई तरीका नहीं रह जाता तब इसी तरीके से बराबर उसकी पूँजी बढ़ती रहती है।

कार्यशील पूँजी प्राप्त करने का एक दूसरा और बहुत ही महत्वपूर्ण साधन जमा प्राप्त करने का है। जैसा कि हम पहिले ही देख चुके है यह जमा भिन्न-भिन्न रूपों में और भिन्न-भिन्न खातों मे प्राप्त की जाती है। अतः, केवल वही जमा कार्यशील पूँजी को बढ़ाती है जो नकदी के रूप मे अथवा ऐसे अधिकारों के रूप मे होती है, जिससे नकदी प्राप्त हो सकती है। विनिमय के बिलों पर अथवा अन्य तरह से ऋणों को देकर जो जमा प्राप्त की जाती है वह कार्यशील पूँजी को नहीं बढ़ाती। पहिले प्रकार की जमा को प्रत्यक्ष जमा (Direct

deposits) और दूसरे प्रकार की जमा को अप्रत्यक्ष जमा (Indirect deposits) कहते है। बैंकर अपने ग्राहकों की उस रकम को भी जो उनके पास आढ़त के काम के सम्बन्ध मे आती है, उस समय तक प्रयोग मे ला सकते है, जिस समय तक वह आढत के काम में नहीं आ जाती। उदाहरण के लिये जब एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजने के लिए द्रव्य दिया जाता है तो जब तक वह पाने वाले को नही दे दिया जाता तब तक बैंकर उसको प्रयोग मे ला सकता है, इत्यादि।

किन्तु बैंक के जमा का व्यवसाय या तो अधिकार का पारस्परिक विनिमय है[1] या द्रव्य और अधिकार का विनिमय है। कोई बैंक जब द्रव्य पाता है तब वह जमा करने वाले को अपनी इच्छा पर उसको निकालने का अधिकार देता है। जब उसे विनिमय के बिल, चेक, प्रण-पत्र, लाभपत्र, व्याजपत्र इत्यादि उनकी रकम वसूल करने के लिए मिलते है तब उसे द्रव्य वसूल करने का अधिकार मिलता है और वह उसके स्थान पर उसे निकालने का अधिकार देता है। जब उसको चन्दा, किराया, आयकर, बीमे का प्रीमियम और दूसरे सामयिक भुगतान मिलते है तब वह द्रव्य पाता है और जिनके लिये वह ऐसा करता है उनको इनके निकालने का अधिकार देता है। द्रव्य को इधर से उधर भेजने मे भी वह द्रव्य पाता है और उसको निकालने का अधिकार देता है। जहाँ तक अप्रत्यक्ष जमा का प्रश्न है उसमे तो केवल अधिकारों का ही विनिमय होता है। दूसरे शब्दों से यह सब साख का व्यवसाय है क्योंकि ग्राहकों और बैंकों के बीच मे जितने लेन-देन होते है उनमें सब में विश्वास की मात्रा प्रधान होती है। इसके बिना कोई किसी को द्रव्य अथवा उसको पाने का अधिकार सौंप ही नही सकता है।

राऊ के कथन के अनुसार बैंकों के जमा का व्यवसाय बहुत ही महत्वपूर्ण है। इसमें वह इधर-उधर पड़ी हुई दस, बीस, पचास और सौ-सौ की छोटी-छोटी रकमों को एकत्रित करता है। अकेले इनमे कोई आर्थिक कुशलता नही है, किन्तु बैंकर जब इन्हे प्रयोग मे लाते है तब यह बड़े से बड़े काम कर डालते है। बेजहौट के कथन के अनुसार इगलिस्तान के द्रव्य के बाजार के इतना धनी और महत्वशाली होने का यदि एक मात्र नहीं तो मुख्य कारण यही है कि वहाँ पर द्रव्य

[1] "The whole deposit business of a Bank consists in the exchange of rights against rights or of rights againt money"

की एकाग्रता पाई जाती है। लोगों की रकम जमा करना और उनको व्यापारियों और उद्योगपतियों को देना यह बैंकों की, समाज के प्रति पहिली सेवा है और इसकी कुशलता इस बात पर निर्भर है कि उन्होंने कितनी रकम जमा कर ली है और व्यापार और उद्योग-धन्धों की कितनी माँग पूरी की है। भारतीय बैंक बहुत कुशल नहीं कहे जा सकते क्योंकि न तो उन्होंने यहाँ के सर्वसाधारण की बचत को ही प्राप्त करने का प्रयत्न किया है और न वे व्यापार और उद्योग-धन्धों की माँग ही पूरी कर पाते हैं।

बैंक अपने ग्राहकों को उनके जमा के सम्बन्ध में चेक काटने के अधिकार देकर अधिकाधिक क्रय-शक्ति उत्पन्न करते हैं। यह उनकी दूसरी समाज सेवा है। राऊ के कथन के अनुसार' जमा से उत्पन्न होने वाली करन्सी (Deposit currency) अथवा चेक करन्सी अथवा बैंकों का यह द्रव्य चाहे जिस नाम से पुकारा जाय, बहुत ही लोचप्रद (Elastic) है। वास्तव मे चेकों को उनके सम्बन्ध की किसी वैधानिक अड़चन के न होने के कारण सुरक्षा और 'समाज हित के विचार को ध्यान रखते हुये किसी भी रकम तक निकाला जा सकता है। अब यह सुरक्षा और समाज हित के क्या विचार हैं यह तो पहिले ही बताये जा चुके हैं। इनका उल्लंघन इस सेवा के कार्य को अहित मे परिणत कर देता है। रक्षा की सीमा को पार करने से बैंक फेल हो सकते है और समाज हित के विचारों को त्याग देने से इतनी अधिक क्रय-शक्ति उत्पन्न हो जाती है कि उससे वस्तुओं के मूल्य अत्यधिक बढ़ जाने से समाज का अहित होता है। साख उत्पन्न करना तो आसान है किन्तु उसी के अनुपात मे उत्पत्ति बढ़ाना कठिन है।

पूँजी प्राप्त करने का तीसरा साधन नोटों को चलाना है। किन्तु यह साधन अब अधिकांश बैंकों के लिये उपलब्ध नहीं है। कहना न होगा कि धात्विक-द्रव्य की तरह नोटों को चलाने के अधिकार को सदा से ही राज्याधिकार माना गया है। किन्तु जब धात्विक-द्रव्य निकालने के अधिकार का राज्य ने बराबर उपयोग किया है, तब कुछ विशेष हालतों को छोड़ कर नोटों के चलाने के अधिकार को उसने बैंकों ही को सौंप दिया है। यदि कहीं बैंक स्वयं ही अपने नोट चलाते आ रहे थे तो वहाँ राज्य ने पहिले तो उनकी सुरक्षा के लिये कुछ वैधानिक नियम बना कर उनको ऐसा करते रहने की विधानतः

आज्ञा दे दी; किन्तु शीघ्र ही उसने इस बात का अनुभव किया कि इसमें समानता लाने के लिये, अच्छे निरीक्षण के लिये और इससे उत्पन्न हुये लाभ में राज्य का हिस्सा बटाने के लिये इसका या तो किसी एक बैंक को एकाधिकार अथवा शेषाधिकार (Re-iduary power) देना पड़ेगा। बेरास्मिथ के अनुसार शेषाधिकार वह है जब कई बैंक नोट चलाते हैं किन्तु उनमें से एक को छोड़कर सब का यह अधिकार सीमित रहता है। वास्तव में एक मुख्य बैंक के ही नोट विशेषत: चालू रहते हैं और उसी पर अधिकांश करन्सी का दायित्व रहता है। हम को ज्ञात है कि यह सन् १८४४ मे इंगलैण्ड में हुआ। हालैण्ड में यह सन् १८१४ ही में हो चुका था। फ्रान्स मे यह सन् १८४८ में, जरमनी मे सन् १८७५ मे, स्वीडेन में सन् १८९७ में, संयुक्त राष्ट्र में सन् १९१४ मे, दक्षिणी अफ्रीका के यूनियन में सन् १९२१ में, कोलम्बिया मे सन् १९२३ मे, आस्ट्रेलिया में सन् १९२४ में, चिली में सन् १९२५ मे, इटली मे सन् १९२६ मे, न्यूजीलैण्ड में सन् १९३४ मे, और कनाडा में सन् १९३५ में हुआ। भारतवर्ष में बैंकों के पास नोट चलाने की यह शक्ति सन् १८६१ तक रही। उस वर्ष सरकार ने इसको अपने हाथ में ले लिया और सन् १९३५ में यह इस देश के केन्द्रीय बैंक, रिजर्व बैंक आफ इण्डिया को हस्तान्तरित कर दी गई।

जब कोई बैंक नोट निकालता है तब वह स्वयं अपनी कार्य-शील पूँजी उत्पन्न करता है। पहिले-पहिल जो नोट चलाये गये थे वह द्रव्य की रसीदें थीं। साथ ही उनके चलाने वालों ने यह भी शीघ्र ही समझ लिया था कि जैसा जमा की रसीदों के सम्बन्ध में है वैसा ही इनके सम्बन्ध में भी है अर्थात् इन सब का भुगतान भी कभी एक साथ नहीं करना पड़ेगा। अत:, वह वास्तविक द्रव्य के एक बड़े अंश को चाहे जिस काम मे लावे, उससे उनके नोटों के भुगतान मे तनिक भी अड़चन नहीं पड़ेगी। जब तक किसी बैंक की साख मानी जाती थी तब तक उसके नोट नकदी ही समझे जाते थे और विधानत: ग्राह्य द्रव्य (Legal tender money) के सदृश्य ही माने जाते थे। बस, बिलों के भुनाने मे और ऋण देने मे भी इन्हीं नोटों का देना प्रारम्भ हो गया और लोग इन्हे सहर्ष लेने भी लगे। बैंकों के लिये भी इस बात मे कोई अन्तर नहीं था कि उनके साख की उत्पत्ति का रूप नोटों का हो अथवा अप्रत्यक्ष जमा का हो। यदि इनमे कोई अन्तर था

तो वह केवल रूप का ही था। किन्तु व्यापारियों की दृष्टि में नोटों की अपेक्षाकृत जमा के अधिक लाभप्रद जँचने के कारण और जैसा कि पहिले वताया जा चुका है, नोटों के निकालने पर अधिकाधिक वन्धनों के लग जाने के कारण जमा वहुत ही महत्व पकड़ती गई यहाँ तक कि उसकी करन्सी संसार के प्रगतिशील देशों मे आज नोट करन्सी से कहीं अधिक प्रचलित है। राऊ इन दोनों की सदृश्यता के विषय में जो कहता है उसका यहाँ पर संकेत कर देना भी शायद अनुपयुक्त न होगा। वह कहता है दोनों का प्रयोग ग्राहकों को ऋण देने मे अथवा उनके प्रणपत्रों और विलों का विनिमय करने मे किया जा सकता है। दोनों ही प्रणपत्रों के रूप में अथवा ग्राहकों के बिलों के रूप मे जनता की सेवा करते है। दोनों मे ही वैंकों से विधानतः ग्राह्य द्रव्य माँगने का अधिकार रहता है। दोनों ही बैंकों के लिये आय के साधन हैं। वैंकर के लिये दोनों माँग पर पूरा करने वाले दायित्व हैं।" आगे चलकर उसने इनके अन्तर भी वताये है—"वैंक नोट जमा की अपेक्षाकृत कहीं अधिक सुरक्षित दायित्व है। अतः, वैंक अपनी साख इनके रूप में चलाना अधिक पसन्द करता है। उद्योग-धन्धों मे चाहे जितनी मन्दी क्यों न आ जाय जब तक वैंक जनता का विश्वासपात्र है तव तक उसके नोट चलते ही रहते हैं। जमा को तो उसके ग्राहक किसी समय भी अपने दायित्व को पूरा करने के लिये प्रयोग मे ला सकते है, किन्तु छोटे नोट बहुत दिनों तक चलते रहते है और प्रायः जमा के रूप में वैंकों के पास वापस आते है। बैंक नोट मे चलन-शक्ति चेकों के अपेक्षाकृत कहीं अधिक है। जिस प्रकार चन्द्रमा गरीबों की लालटेन कहा जा सकता है उसी प्रकार बैंक नोट गरीबों की जमा कही जा सकती है। अतः, लोगों की वास्तविक माँग को पूरा करने के लिये नोटों के देने में अधिक कठिनाई नहीं पड़ती।" किन्तु यह सब सैद्धान्तिक है। वास्तव मे साधारण बैंकों के पास तो अब नोट चलाने का अधिकार रह ही नहीं गया है।

बैंक अपनी कार्यशील पूँजी का कैसे उपयोग करते हैं

उपर्युक्त विवरण से यह तो, स्पष्ट ही हो गया है कि वैंकों की अधिकांश कार्यशील पूँजी माँग पर देय है। हाँ, उनके हिस्सेदारों से प्राप्त पूँजी और उनके लाभ का वह अंश जिसे वह हिस्सेदारों मे न

बाँट कर सुरक्षित कोष के रूप मे रख लेते हैं, अवश्य ही स्थायी होता है। किन्तु बैंकिंग के व्यवसाय का अर्थ पूँजी का रख छोड़ना नहीं वरन् उसको चलायमान रखना है। बैंकों को थोड़ा-सा नकद कोष रखने के अतिरिक्त शेष सभी को ऐसी लागतों में लगा देना चाहिये जो आवश्यकता पड़ने पर उसके खाली हो जाने वाले कोष का स्थान लेने के लिये उपलब्ध हो सकें। थोड़े-थोड़े समय पर प्रायः ऐसे अवसर आते रहते हैं कि लोग अधिकाधिक द्रव्य निकाल लेते है। कभी-कभी तो इन अवसरों पर ग्राहक ऋण लेने भी आ जाते है, जिनका पूरा करना भी बैंकों के लिये बहुत ही आवश्यक है। अतः, हम अगले पृष्ठों मे इस बात को समझने का प्रयत्न करेंगे कि बैंक अपनी सम्पत्ति और अपने पावने (Assets) को किस रूप मे रखते है और उनके चुनाव में उन्हे किन-किन बातों का ध्यान रखना पड़ता है।

कुशल बैंकर ऐसी व्याजू लागतों को ढूँढते रहते हैं जो आसानी से वसूल हो जाती है ; और भुगतान के लिय लगातार पकती रहती हैं। वह आर्थिक स्थितियों का बराबर ध्यान रखते हैं और उन्हीं के अनुसार अपनी लागतों मे हेर-फेर करते रहते है। मोटे तौर पर इन्हे दो विभागों मे बाँटा जा सकता है—(१) लाभ न देने वाली और (२) लाभ देने वाली। प्रथम मे तो उनके नकदी के कोष और मृत स्टाक के क्रय और दूसरे में माँग पर वापिस होने वाली लागत (Call money), बिलों पर की लागत (Discounts), ऋण (Advances), बाजारू साख-पत्रों पर की लागत (Investments), और बिलों को स्वीकार करना (Acceptances), इत्यादि सम्मिलित है।

पहिले हम नकद कोष को ही लेते है :—उनको अंग्रेजी मे टिल मनी (Till money) कहते हैं। इसका अर्थ बैंकों के बक्सों मे और केन्द्रीय बैंक में रक्खा हुआ द्रव्य है। इन दोनों को मिलाकर उनकी रक्षा की प्रथम कतार (First line of defence) बनती है। यह दिवालियापन से बचाती है। संक्षेप मे यह पूर्व विधान युक्ति (Precautionary measure) है। बैंकों को यथेष्ट नकद कोष रखने और उसको निरन्तर सुदृढ़ बनाने का सदा प्रयास करते रहना चाहिए। इसके लिये उनको देर से वसूल होने वाली लागत को शीघ्र वसूल होने वाली लागत मे परिवर्तित करते रहना चाहिये। जहाँ तक

यह प्रश्न है कि नकद कोष और माँग पर देय रकम (Demand liability) का क्या अनुपात रहना चाहिये यह बात जैसा कि पहिले भी कहा जा चुका है, बहुत सी बातों पर निर्भर है और परिवर्तित होती रहती है । यह निम्नाङ्कित है :—

(१) कहीं-कहीं व्यवस्थापक सभाओं (Legislatures) ने कुछ प्रतिशत निश्चित कर दिया है। इससे नवसिखियों को अवश्य सहायता मिलती है और अत्यधिक साहस करने वालों के ऊपर भी प्रतिवन्ध रहता है। किन्तु इसके अतिरिक्त यह कुछ नही है। वास्तव मे बैंक प्रवन्धकों को विधान के द्वारा बाँधने की अपेक्षाकृत उनकी स्वयं की सचाई, बुद्धि और निर्णय शक्ति पर विश्वास करना अधिक अच्छा है। किसी वैधानिक सीमा को निर्धारित कर देने से उनके मस्तिष्क मे झूठी सुरक्षा का वोध हो जाता है और वे सोचने लगते है कि उनको जो कुछ करना था वह उन्होंने कर दिया है। फिर यह वतलाना भी कठिन है कि यह निर्धारित प्रतिशत क्या होनी चाहिये क्योंकि भिन्न-भिन्न देशों की व्यवस्थापक सभाओं ने जो प्रतिशत निर्धारित किये है वे सभी एक दूसरे से वहुत ही भिन्न है। उदाहरण के लिके डेनमार्क मे यह चालू जमा का १० प्रतिशत है, संयुक्त राष्ट्र अमेरिका मे यह भिन्न-भिन्न स्थानों मे भिन्न-भिन्न है, अर्जेंण्टाइना मे यह स्थायी जमा का ८ प्रतिशत और चालू जमा का १६ प्रतिशत है, चिली मे यही क्रमशः ८ प्रतिशत और २० प्रतिशत है, इक्वेडोर मे यह क्रमशः १० प्रतिशत और २५ प्रतिशत और वोलिविया मे क्रमशः १० प्रतिशत और २० प्रतिशत है। कुछ देशों मे इस प्रतिशत मे केवल बैंकों मे रक्खा हुआ सुरक्षित कोष और कुछ मे इसमे यह और केन्द्रीय बैंकों मे भी रक्खा हुआ सुरक्षित कोष दोनों सम्मिलित है। हमारे देश मे रिजर्व बैंक के सदस्य बैंकों (Scheduled Banks) को उक्त बैंक के पास उनकी चालू जमा का ५ प्रतिशत और स्थायी जमा का २ प्रतिशत रखना पड़ता है। उनके स्वयं के वक्सों में रक्खे जाने वाले कोष पर कोई प्रतिवन्ध नहीं है। इसके विपरीत अन्य बैंकों (Non-Scheduled Banks) को उनकी स्थायी जमा का १½ प्रतिशत और चालू जमा का ५ प्रतिशत अपने ही वक्सों में रखना पड़ता है।

(२) यह साधारणतः रक्खे जाने वाले प्रतिशत पर भी निर्भर रहता है। यदि किसी स्थान का एक बैंक अधिक प्रतिशत रखना

है तो उस स्थान के अन्य बैंकों को भी जनता का विश्वासपात्र बनने के लिये वैसा ही करना पड़ता है। अन्य स्थानों के बैंकों की अपेक्षाकृत इंगलैण्ड के बैङ्क बहुत कम प्रतिशत रखते हैं।

(३) किसी बैंक के नकद कोष का परिमाण उसके प्रत्येक ग्राहक की जमा के औसत के परिमाण पर भी निभर रहता है। वास्तव में यह उतना होना चाहिये जितना कि सबसे अधिक जमा रखने वाले ग्राहक की माँग को पूरा करने के लिये काफी हो।

(४) जिन देशों मे अधिकांश भुगतान चेकों के द्वारा होते है उन देशों मे उनकी अपेक्षाकृत कम कोप रखने की आवश्यकता पड़ती है जिनमे अधिकाश भुगतान नकदी में होते हैं।

(५) यदि निकास प्रणाली (Clea:ing sy:tem) बहुत ही उन्नत अवस्था को पहुँच चुकी हैं तो बैंकों पर की गई अधिकांश चेकों का भुगतान परस्पर ही हो जाता है। मान लीजिये 'अ' बैंक के ग्राहकों ने 'ब' 'स' 'द' बैंकों के ग्राहकों के भुगतान में 'अ' बैंक के ऊपर के चेक दिये है। इसी तरह से 'ब' 'स' और 'द' बैंकों के ग्राहकों ने भी अपने से अन्य बैंकों के ग्राहकों के भुगतान में अपने-अपने बैंकों के चेक दिये है। अब, प्रत्येक बैंक के ग्राहकों को अन्य बैंकों के ग्राहकों से उनके अपने-अपने बैंकों के ऊपर के जो चेक प्राप्त हुये होंगे उनको वे अपने-अपने बैंकों को देंगे। अतः, सभी बैंकों को अन्य बैंकों से पाना और उनको देना भी होगा। अब, यदि निकास प्रणाली है तो इन चेकों का परस्पर भुगतान हो जायगा, नकदी नहीं देनी पड़ेगी। अतः, ऐसी अवस्था मे बैंकों को बहुत कम नकद कोष रखना पड़ता है।

(६) जहाँ पर लोग अपने पास नकदी न रख कर बैंकों के द्वारा काम करते हैं, वहाँ पर उसके बराबर चालू रहने से जब बैंक एक तरफ उसको देते हैं तब दूसरी तरफ उसको पाते भी है। अतः. उनका काम कम नकदी रखने पर भी चल जाता है।

(७) यदि किसी बैंक के ग्राहक ऐसे हैं जो कभी-कभी बहुत रकम निकालते हैं जैसे बिलों के दलाल, इत्यादि तब उसको इनको पूरा करने के लिये काफी नकद कोप रखना पड़ता है।

(८) यदि किसी बैंक की लागत ऐसी है जिसकी वसूली आसानी से हो सकती है तो कम नकदी रखने से भी काम चल सकता है। जिन देशों मे द्रव्य के बाजार और बिलों के बाजार बहुत उन्नत दशा

में हैं उनमे उन्ही में लागत लगाई जाती है। अतः, आवश्यकता पड़ने पर उनकी वसूली भी हो सकती है। इंगलैण्ड मे बहुत काफी द्रव्य बिलों के और स्टाक एक्सचेञ्ज के दलालों को जो अपने ऋणों के लिये बहुत उच्च श्रेणी की देखनहार सिक्योरिटीज गिरवीं रख देते हैं और उनको तीन से दस दिनों के अन्दर अथवा दूसरे ही दिन वापस करने का वायदा कर लेते हैं, दे दिया जाता है। वास्तव मे यह ऋण जो बहुत ही थोड़ी अवधि के लिये अथवा दैनिक ही होते है एक तरह से बरावर चालू रहते हैं। इनको माँग पर अथवा कम अवधि पर वापिस होने वाले ऋण (Money at call and short notice or Call money) अथवा रात्रि भर के लिये ऋण (Over-night money) कहते हैं। इनके अतिरिक्त बिलों के डिस्काउण्ट करने के व्यवसाय मे भी जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, बिलों मे की लागत आदर्श लागत है। यदि केन्द्रीय बैंक हैं और आज कल तो सभी जगह केन्द्रीय बैंक है तो आवश्यकता पड़ने पर इनको उससे भुनाया भी जा सकता है।

(९) अन्तिम, यदि बैंक व्यापारिक क्षेत्र मे स्थित है तो उनको उन बैंकों की अपेक्षाकृत कम नकदी रखनी पड़ती है जो कृषक-क्षेत्र मे स्थित हैं। बात यह है कि जब कृषकों को बार-बार द्रव्य निकालने की आवश्यकता नहीं पड़ती, व्यापारियों को इसकी आवश्यकता पड़ती है।

जहाँ तक मृत स्टाक (Dead stock) के क्रय का प्रश्न है उसमे इमारतें और उनके सम्बन्ध की अन्य चीजें जैसे फरनीचर, इत्यादि सम्मिलित है। बैंकों के लिये अपना व्यवसाय करने के लिये इनका होना अत्यावश्यक है। किसी बैंक की इमारत काफी बड़ी और भड़कीली होनी चाहिये। वह वास्तव मे विज्ञापन का काम देती है। अच्छी इमारते अच्छे ग्राहकों को आकर्षित करती है। वह ऐसी होनी चाहिये कि जिसमे न तो सेंध लगाई जा सके और न आग लग सके। पुराने और नये रिकार्डों को रखने के लिये उसमे विशेष कमरे होने चाहिये। किन्तु इतना होते हुये भी उसमे बहुत अधिक लागत लगा देना उचित नहीं है। राऊ के शब्दों मे[1] "एक बैंक के लिये ठोस

---

1. It is always preferable for a bank to have solid cash in its hands rather than invest it in bricks and mortar.

नकदी का होना ईंटों और चूने में लागत लगा देने की अपेक्षाकृत कहीं अधिक अच्छा है।" मृत स्टाक का विक्रय कठिन है। एक तो वह आसानी से बिकता ही नहीं और दूसरे उसके बेचने से बैंक की बदनामी भी हो जाती है। उसको तो बैंक के फेल हो जाने पर ही बेचा जा सकता है, पहिले नहीं।

अब हम बैंकों की कार्यशील पूँजी के लाभदायक प्रयोगों की ओर आते है। उसके एक अंश को मृत स्टाक और नकद कोष मे फँसा देने के बाद प्रत्येक बैंक प्रबन्धक इस बात को सोचता है कि शेष को वह कैसे छोटी और बड़ी अवधि वाले ऋणों में लगावे। यह स्पष्ट है कि वह काफी रकम केवल छोटी अवधि वाले ऋणों में ही लगाना चाहता है। किन्तु ऐसा करने के पहिले वह यह करने का प्रयत्न करता है कि जितनी भी रकम सम्भव हो ऐसी लागत मे लग जाय जिससे उसको कुछ आय भी मिले और जो काम पड़ने पर उसी समय प्राप्त भी हो सके। कुछ देशों में भाग्यवश यह सम्भव भी है क्योंकि वहाँ पर बिलों और स्टाक एक्सचेञ्ज के दलाल बराबर ऐसा ऋण लेने की ताक में लगे रहते हैं। बिलों के दलालों को तो इसकी आवश्यकता उनके क्रय के सम्बन्ध में और स्टाक एक्सचेञ्ज के दलालों को इसकी आवश्यकता पाक्षिक भुगतानों के बीच के दिनों में स्टाक लेने के लिये पड़ती है। ये लोग कन्सलों को (Consols), सरकारी बांण्डों को (Exchequer bonds) और लन्दन कारपोरेशन और नागरिक काउन्सिल के बाण्डों को जो आसानी से बिक जाते हैं और जिनको रखकर कोई व्यक्ति भी सुख की नींद सो सकता है, जमानत की तौर पर देते है। प्रो० टाञ्जिग के कथनानुसार बैंकों की दृष्टि से ये उनके व्यवसाय के बहुत ही सुविधापूर्ण अङ्ग हैं। इनसे कभी थोड़ी और कभी बहुत किन्तु हमेशा यथेष्ट आय हो जाती है और साथ ही यदि किसी एक बैंक को आवश्यकता पड़ती है तो ये नकदी में अकेले परिवर्तित भी किये जा सकते है। वे जब चाहे इनको संकट के समय अथवा किसी अन्य लाभदायक लागत मे लगाने के लिये उपयोग में ला सकते हैं। फिर जनता के लाभ की दृष्टि से भी ये लाभदायक है। कुछ आवश्यक कार्यों के लिये हमेशा थोड़ी और निश्चित अवधि के लिये नकदी की आवश्यकता पड़ती रहती है और उसके लिये यही माँग पर वापिस होने वाले ऋण बहुत ही उपयुक्त साबित होते है।"

राऊ के कथन के अनुसार[2] इसमें बैंकर कुछ इसी तरह का असम्भव सा काम करता है कि रोटी बची भी रहती है और खाने के काम में भी आ जाती है। किन्तु ये बुराइयों से विल्कुल खाली नहीं हैं। इनसे सट्टेबाजी को प्रोत्साहन मिलता है। इसके अतिरिक्त ये साधारण समय के लिये तो अच्छे हैं किन्तु संकट काल के लिये व्यर्थ है अर्थात् जम जाते हैं (Become frozen)। ऐसे समय मे इनका भुगतान मिलना कठिन हो जाता है और इनमे जो द्रव्य लगा रहता है वह ठीक उसी समय जब उसकी नकदी के रूप से एक वहुत वड़ी आवश्यकता होती है, फँसा रह जाता है। अतः, वहुत से बैंकर इनकी अच्छी सम्पत्ति मे गणना नहीं करते। लार्ड गाशन ने इनके विरुद्ध कहा है।[3] तथापि ये लन्दन और न्यूयार्क मे वहुत प्रचलित है। भारतवर्ष मे ये प्रथम युद्ध के पहिले तक तो वम्बई, कलकत्ता, मद्रास और कराची तक मे प्रचलित नही थे। किन्तु उसके पश्चात् इनका प्रयोग प्रारम्भ हो गया। यहाँ पर इनकी मॉग सोने, चॉदी के और स्टाकों के वाजारो मे है। यह विना किसी जमानत के उच्चतम श्रेणी के लोगों को दिया जाता है। ऋण की मन्दी और तेजी पर इनके व्याज की दर निर्धारित रहती है। तेजी की ऋतु मे यह वहुत ऊंची दर पर भी नहीं प्राप्त होती और मन्दी की ऋतु मे यह $\frac{1}{4}$ प्रतिशत पर मिल जाते हैं। कुछ दिनों से यह द्रव्य सरकारी खजानों के विलों (Treasury Bills) मे लगा दिया जाता है। यह वैंकों के पारस्परिक ऋण (Inter-bank-loans) मे भी लगा रहता है।

किन्तु इस प्रकार की लागत तो केवल कुछ रकम के ही लगाने के लिये उपयुक्त है। कार्य्यशील पूँजी के एक वहुत वड़े भाग को तो अधिक आय पाने के लिये किसी अन्य काम मे लगाना पड़ता है। जैसा कि पिछले अध्याय मे कहा जा चुका है, वैंकर्स की दृष्टि से विलों पर की लागत सवसे अच्छी है। यह ऋण व्यापारियों के द्वारा लिया

---

2 In the case of Call Money the banker seems to accom plish the impossible feet of 'Having the cake and eating it too.'

3. It is not an asset which constitutes a reserve—useful in the general interest of community at large.

जाता है। कभी-कभी बिलों के और स्टाकों के दलाल भी इनसे लाभ उठा लेते हैं। हम जानते हैं कि बिल डिस्काउण्टिग हाउस और बिल के दलालों से भी भुनाये जाते हैं जो आवश्यकता पड़ने पर उनको फिर बैंकों से भुना लेते है। बिलों के दलाल साधारणतया तो उन पर अपनी पूँजी से ही रकम देते हैं, किन्तु कभी-कभी उनको बैंकों की भी शरण लेनी पड़ती है। वे उनसे इस आशा पर ऋण ले लेते है कि शीघ्र ही जब उनके कुछ बिल पक जायेंगे तब वह उनको लौटाल देंगे। बिलों के वास्तविक और झूठे (Genuine and Non Genuine) होने के कारण बैंकों को जो कठिनता पड़ती है उसको हम पहिले ही समझ आये हैं किन्तु जो ग्राहक अपने बिल भुनाते है उनके ऊपर दृष्टि रखने से यह कठिनता भी दूर हो सकती है। प्रायः, प्रत्येक बैंक के पास कुछ ऐसे ग्राहकों के नाम रहते है जिनके बिलों पर वे ऋण देने के लिये तैयार रहते हैं। इसके अतिरिक्त प्रत्येक ग्राहक के नाम के आगे एक रकम लिखी रहती है जिस तक के ही उसके बिलों पर बैंक ऋण देते हैं, और यदि इस बात पर ध्यान रक्खा जाता है तो कोई डर नही रहता। बिलों पर ऋण देने के पहिले यह भी देख लेना चाहिये कि वह सब तरह से पूर्ण है, अर्थात् वह नियमानुसार लिखे, स्वीकृत किये और बेचान किये गये हैं। उनके लिखने वाले, ऊपर वाले और बेचान करने वाले धनियों की व्यापारिक स्थिति का भी पता लगाते रहना चाहिए क्योंकि उनका भुगतान तो इन्हीं के ऊपर निर्भर रहता है। फिर एक ही प्रकार के सौदों के सम्बन्ध के ही बिलों पर सब रकम नही लगा देनी चाहिये क्योंकि इससे उस व्यापार के मन्दा पड़ जाने पर रकम के फंसे रह जाने का डर रहता है। अन्तिम बात यह कि किसी बैंक को लगातार पकने वाले बिलों पर ही अपनी रकम लगानी चाहिये जिससे कि वह धीरे-धीरे मिलती भी रहे। इससे उसके ग्राहकों की मांग बराबर पूरी होती रहेगी।

अब हम मुख्य ऋण की ओर जाते है। वास्तव में ऋण के अन्तर्गत तो सब ही प्रकार के ऋण आ जाते हैं; यहां तक कि बिलों पर दिया जाने वाला ऋण भी आ जाता है। किन्तु मांग पर वापिस होने वाले और बिलों पर दिये जाने वाले ऋणों को बैंकर मुख्य ऋण के समकक्ष नही गिनते और वास्तव मे यह ठीक भी है, क्योंकि इनपर लगी हुई रकम तो जब चाहे तब वसूल की जा सकती है। अतः, ऋण

तो वही है जो हर समय वापिस न हो सके। ऋण भी तीन प्रकार के हैं। प्रथम तो जमा की हुई रकम से अधिक निकालने की आज्ञा (Over drafts) के रूप मे, दूसरे नकद साख (Cash credit) के रूप मे और तीसरे मुख्य ऋण (Loans and advances) के रूप मे। ये प्रणपत्रों की, अन्य जमानतों की तथा वैयक्तिक जमानत की भी बिना पर दिये जाते हैं। सच तो यह है कि इन्हीं की बाहुल्यता पर बैंकों का लाभ निर्भर रहता है। किन्तु सुरक्षा के विचार से यह बहुत उपयुक्त नही है, अतः, इनके सम्बन्ध में निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना चाहिये :—

(१) प्रत्येक बैंकर को नकदी का यथेष्ट कोष अपने पास रखना चाहिये। यदि यह अधिक हो जाय तो कोई हर्ज नहीं, किन्तु कम नहीं होना चाहिये।

(२) जैसा प्रायः कहा जाता है उसको अपने सारे अण्डे एक ही टोकरी मे नहीं रखने चाहिये। इसके यह अर्थ हैं कि उसको अपनी ऋण देने की सारी रकम एक ही व्यक्ति को नहीं दे देनी चाहिये। जहाँ तक हो वह अधिकाधिक विस्तृत क्षेत्र मे बँटी रहनी चाहिये अर्थात् न तो एक व्यक्ति ही हो, न एक तरह का व्यापार ही हो, न एक स्थान हो और न एक प्रकार की जमानत ही हो।

(३) उसको जमानतों को भी भली भांति देख लेना चाहिये। इस विषय पर राऊ ने जो कुछ कहा है उसको तो हम पिछले अध्याय मे देख चुके हैं। जो भी जमानत ली जाय उसको हर दृष्टि से देख लेना चाहिये। किन्तु जैसा कि एक अगले अध्याय मे बताया जायगा कोई भी जमानत आदर्श जमानत नहीं है। भूमि और मकान का रेहन तो सबसे निकृष्ट है। उसको न तो आसानी से और शीघ्र से बेचा जा सकता है और न तो उसके मूल्य का कोई ठिकाना है।

(४) उसको इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि उसको व्यापारियों के केवल चालू लेन-देन का ही प्रबन्ध करना है। उसको न तो सब तरह के न बिकने वाले धन को द्रव्य के रूप मे परिणत करना है और न उससे इसी बात की आशा की जाती है कि वह भविष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये साख ही उत्पन्न करेगा।

(५) उसको अपने पक्ष मे सदा यथेष्ट गुंजाइश (Margin)

रख लेनी चाहिये। जितनी अधिक मूल्य में घट-बढ़ होने की सम्भावना हो उतनी ही अधिक यह गुंजाइश रखनी चाहिये।

(६) व्यापारिक वैंकों का उद्देश्य केवल थोड़े समय के लिये ही साख उत्पन्न करना है। अतः, यदि वे इस नियम से लेशमात्र भी विचलित हो जाते हैं तो वड़ी आपत्ति आ जाती है। इसमे सन्देह नहीं कि यूरोप के वैंक और विशेषतया जर्मन वैंक उद्योग धंधों में भी रकम फँसा देते हैं, किन्तु उनके यहाँ की जमा और इंगलैण्ड के तथा अन्य ऐसे देशों के यहाँ की जमा में एक वड़ा अंतर है जिनकी वैंकिंग इंगलैण्ड की वैंकिंग की तरह की है, अतः, इसमें कोई हर्ज नहीं है। प्रत्येक वैंकर को अपने ग्राहक से यह पूछ लेना चाहिये कि उसको कितनी अवधि के लिये ऋण की आवश्यकता है और उसका जो पहिला उत्तर हो उसी को ठीक समझना चाहिये। प्रायः यह देखा गया है कि जव कोई व्यापारी अधिक दिनों के लिये ऋण माँगता है और उसको वह नहीं प्राप्त होता तव वह यह कह कर कि वह वाद में किसी अन्य जगह से ऋण प्राप्त करके वैंक को वापिस कर देगा उसको थोड़े ही समय के लिये ही प्राप्त कर लेता है। ऐसा ऋण कभी भी वापिस नहीं होता। वाल्टर लीफ ने अपनी पुस्तक मे ऐसे दो ऋणों के उदाहरण दिये हैं—एक में तो किसी वीमा कम्पनी से रेहन पर ऋण लेने की और दूसरे मे नये हिस्सों को वेचकर ऋण लेने की वात थी, किन्तु यह कुछ भी न हो सका। ऐसे ऋण सदा के लिये चालू रह जाया करते हैं।

(७) ऋणों का वारम्वार का नवीनकरण भी अच्छा नहीं है। ऐसा करने से वे जाम (Freeze) हो जाते हैं। इनको खातों का पोषण करना (Nursing of Accounts) कहा जाता है।

(८) ऋण के उद्देश्य का भी पता लगा लेना चाहिये। ऐसा कहा जाता है कि उपभोग के लिये ऋण नहीं देने चाहियें। किन्तु सवसे महत्वपूर्ण वात तो यह है कि ऋण कहाँ से वापिस किया जायगा। कभी-कभी लोग ऐसी सम्भावनायें (Prospects) लेकर आते है जो पूरी नहीं हो सकतीं। यदि वैंकर इन पर उधार नहीं देता तो उससे न केवल उसी की वल्कि ग्राहकों की भी वचत हो जाती है।

(९) जो जमानतें दी जायँ उनके मूल्य की घट वढ़ पर भी वैंकर को दृष्टि रखनी चाहिये। यदि उसमें ह्रास हो जाय तो उसको अन्य जमानत मंगाकर फौरन पूरा कर लेना चाहिये।

(१०) कम व्याज की नीति भी बहुत अच्छी नहीं होती। इससे लोग अत्यधिक उधार ले लेते हैं। किन्तु व्यापार तो केवल पूँजी ही से नहीं चलता है उसके लिये अन्य साधनों की आवश्यकता पड़ती है। अतः, उनके न रहने पर जो पूँजी लगाई जाती है वह भी व्यर्थ चली जाती है।

(११) अन्तिम बात यह है कि ऋण माँगने वाले का चरित्र बहुत अच्छा होना चाहिये। सच तो यह है कि अच्छे चरित्र से बढ़कर कोई दूसरी ज़मानत नहीं है। जो लोग उधार माँगते हैं उनको विश्वासपात्र होना चाहिये क्योंकि विश्वास ही तो साख की एक मुख्य चीज़ है। अब इस विश्वास के लिये ईमानदारी, गम्भीरता, तत्परता, न्यायपरता और व्यवस्था को पालन करने की आदत होना बहुत ही ज़रूरी है।

जहाँ तक इन ऋणों के रूप का प्रश्न है उनको तो हम पहिले ही देख चुके हैं। यह ज़मानत पर अथवा बिना ज़मानत के भी दिये जा सकते हैं। जहाँ तक भिन्न-भिन्न प्रकार की ज़मानत का प्रश्न है उनका हम आगे चल कर विस्तृत अध्ययन करेंगे। अब रह गये बिना जमानत के ऋण सो वह वैयक्तिक जमानत पर दिये जाते हैं। इसमे ऋण लेने वाले के चरित्र की छान-बीन बहुत ही महत्व रखती है। उसकी कुल सम्पत्ति और ऋण वापस करने की क्षमता पर भी ध्यान रखना आवश्यक हो जाता है। प्रत्येक बैंकर के कुछ ऐसे ग्राहक अवश्य होते हैं जो उसके संरक्षक की तरह होते हैं। इनको उसे किसी ज़मानत के बिना भी ऋण देना पड़ता है। उनको जब बहुत ही आवश्यकता पड़ती है तभी वह ऋण माँगते हैं। अतः, बैंकर उनको नाराज़ नहीं करना चाहते। वास्तव मे ऐसे ऋणों को आवश्यक बातों को ध्यान मे रख कर देने से बैंकों की कभी हानि नहीं होती।

बैंक अपनी रकम सरकारी, अर्ध-सरकारी, जनहित के लिये बनी हुई संस्थाओं और उद्योग-धन्धों सम्बन्धी साख-पत्रों मे भी लगाते है। यदि सच पूछा जाय तो ऐसा करना उनके लिये उपयुक्त नहीं है। उनका काम तो पूँजी को चालू रखना है। उसको फँसा रखना नहीं है। किन्तु वे इस काम मे अपनी रकम केवल इसी लिए लगाते है कि वह इसमे से आवश्यकता पड़ने पर आसानी से वसूल हो जाती है। इन पर की वार्षिक आय भी अधिक नहीं होती। वह बिलों पर तथा अन्य प्रकार

के ऋणों पर की आय की अपेक्षाकृत बहुत ही कम होती है। हाँ, इन साख-पत्रों की कीमतों के बढ़ जाने पर अवश्य लाभ हो जाता है, किन्तु यह तो सट्टेबाजी है जो बैंकिंग के व्यवसाय के विरुद्ध है। किन्तु ये स्टाक एक्सचेञ्ज के बाज़ार मे किसी समय भी बेचे जा सकते हैं। अतः वसूली की दृष्टि से तो यह लागत आदर्श लागत है। सरकारी साख-पत्र जिनको स्वर्ण साख-पत्र (Gilt-Edged Securities) भी कहते हैं शायद इस दृष्टि से सबसे अच्छे होते हैं। उनके मूल्य का ह्रास भी प्रायः कम होता है। किन्तु बैंक एक ही प्रकार की लागत मे अपनी सारी रकम कभी नहीं लगाते, चाहे वह सरकारी साख-पत्र की हो, चाहे किसी की भी हो। उनकी रकम तो भिन्न-भिन्न प्रकार की लागतों में लगी रहती है।

एक अन्य प्रकार का ऋण भी होता है जिसे बिलों की स्वीकृति (Acceptance business) का ऋण कहते है। हम तो पहिले ही देख चुके हैं कि जब विक्रेता क्रेता के ऊपर कोई बिल करता है तब क्रेता को उस पर स्वीकृति देनी पड़ती है। किंतु ऐसा भी हो सकता है कि उसकी साख इतनी व्यापक न हो कि उसके द्वारा स्वकृति बिल पर हर बैंक ऋण देने के लिये तैयार हो जाय। ऐसी स्थिति मे क्रेता का बैंकर उस पर के बिल पर अपनी स्वीकृति दे देता है इसमें वह अपने ग्राहक के संकीर्ण साख के स्थान पर अपनी विस्तृत साख दे देता है। इसके लिये वह उससे प्रतिफल (Commission) भी पाता है। इस काम को पहिले पहिल यूरोप के उन बड़े-बड़े व्यापारी महाजनों ने आरम्भ किया था जिन्होंने उन्नीसवी शताब्दी में नेपोलियन के युद्ध के समय इगलिस्तान के द्वारा हालैण्ड के हराये जाने पर एम्सटरडम का जो दौर अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक क्षेत्र में था उसके समाप्त हो जाने पर लन्दन मे अपनी शाखायें खोल ली थीं। उन्होंने शायद इस बात को समझ लिया था कि भविष्य में ब्रिटिश साम्राज्य की राजधानी ही अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक क्षेत्र में हालैण्ड की राजधानी का स्थान लेगी। कुछ बड़ी-बड़ी संस्थायें अमेरिका वालों की भी थीं। यद्यपि ये सब चालू खातों में जमा प्राप्त करने के काम को न करने के कारण अपने को बैंकर नहीं कहते तथापि ये उन्हीं के सदृश्य महत्त्व पूर्ण है। संसार के सभी महत्त्वपूर्ण देशों के लोगों से इनके सम्बन्ध हैं जिससे ये सभी स्थानों के लोगों के विषय में जानकारी रखते हैं

इससे ये उनके ऊपर किये गये बिलों पर स्वीकृत भी दे सकते है। इनकी इतनी साख है कि इनके द्वारा स्वीकृति किये गये बिलों पर सभी बैंक ऋण देने के लिये तैयार हो जाते है। प्राय: यह क्रेता से इस बात का वायदा करा लेते है कि वह इनको बिलों के पकने की तारीख़ के तीन दिन पहिले उनकी रकम दे देंगे। आजकल के व्यापारी महाजन विनिमय के बैंकों की मन्त्रणा से भी बिलो पर स्वीकृति देते हैं। प्रथम महायुद्ध के समय से अमेरिका वालों ने भी न्यूयार्क को लन्दन का प्रतियोगी बनाने के बहुत से प्रयत्न किये हैं। अत:, ऐसी संस्थाये अब वहां भी यथेष्ट मात्रा में खुल गई है। इसके अतिरिक्त यह काम अब बैंकों के हाथ मे भी आ गया है। बात यह थी कि उक्त युद्ध के छिड़ने पर व्यापारी महाजनों को यूरोप के शत्रु देशों से जो कुछ पाना था वह नहीं मिल सका। अत:, उनके लिये उनके द्वारा स्वीकृत बिलों का भुगतान करना कठिन हो गया। किन्तु उनकी साख को बचाना आवश्यक था। अत:, सरकारी आज्ञा से उन बिलों का भुगतान बैंक आफ इंगलैण्ड ने कर दिया। युद्ध के बाद जब यह रकम वसूल हुई तब बैंक आफ इंगलैण्ड ही को मिली। तब से यह काम बैंक करने लगे। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका मे इस काम को बैंकिंग का एक व्यवसाय माना जाता है। किन्तु भारत के सम्मिलित पूंजी वाले बैंक इस काम को नही करते। हाँ, यहाँ के सर्राफ अवश्य उन व्यापारियों की हुण्डियाँ खरीद लेते है जिनको वे जानते हैं। अत:, इससे उन पर उनका दायित्व भी हो जाता है और इसी कारणवश उन पर बैंक भी ऋण दे देते है।

बैंक कैसे लाभ कमाते हैं

अब हम इस बात की ओर आते हैं कि व्यापारिक बैङ्क कैसे लाभ कमाते है। हम यह तो देख ही चुके हैं कि वे अपनी कार्यशील पूँजी को किन-किन लाभदायक प्रयोगों मे लगाते है। वास्तव मे वही उनकी आय के मुख्य साधन है। यहाँ पर हम उन्हे फिर दोहराये देते है :—

(१) माँग पर वापिस होने वाले ऋणों पर का व्याज।

(२) बिलो पर ऋण देने की कटती (Discount Charges)।

(३) ऋणों पर का व्याज।

(४) साख-पत्रों पर की लागतों पर का ब्याज।

(५) बिलों पर स्वीकृति देने का प्रतिफल (Commission)

इनके अतिरिक्त प्रासङ्गिक मूल्य (Incidental Charges) की और आढ़त के तथा अन्य कार्यों के करने से जो आय होती है वह भी उनके लाभ मे सम्मिलित है। हम जानते हैं कि बैङ्क अपने ग्राहकों की चेकों, उनके विनिमय के बिलों, ऋण-पत्रों, ब्याज के पर्चों (Coupons), बंटनी पत्रों (Dividend warrants), चन्दे, किराये, आयकर और बीमा के प्रीमियम की वसूली और उनका भुगतान भी करते है। इनमें से अधिकांश काम तो वे निशुल्क करते है, किन्तु कुछ के लिये उनको प्रतिफल भी प्राप्त होता है। जैसे बाहर की चेकों को वसूल करने तथा हिस्सों, स्टाकों और ऋण-पत्रों का स्टाक एक्सचेञ्जों मे और अन्य सामानों का उनके बाजारों में क्रय-विक्रय करने के लिये वे दलालों की दलाली के अतिरिक्त अपना प्रतिफल भी लेते है। फिर उनको धरोहरी (Tiustees), सर्वराहकार (Administrators) और साधक (Executors) की हैसियत मे काम करने पर भी उचित प्रतिफल मिलता है। इसी तरह से बहुमूल्य वस्तुओं जैसे जेवरात और जवाहिरात, लेखपत्र, इत्यादि को अपने पास रखने (Safe Custody) के लिये भी उनको प्रतिफल प्राप्त होता है। यह कार्य सचमुच बहुत ही जोखिमपूर्ण है किंतु जोखिम लेने के बिना तो कोई काम चल ही नहीं सकता। इससे उन्हें न केवल यथेष्ट लाभ होता है बल्कि यह उनके व्यवसाय का एक मुख्य अङ्ग भी है। साख-पत्रों को रखने पर उनके ऊपर उनके ब्याज इत्यादि को और उनके पकने पर उन्हे स्वयं वसूल करने का उत्तरदायित्व भी रहता है। धन भेजने और विनिमय के व्यवसाय से भी उन्हे विशेष लाभ होता है। भारतवर्ष में प्रायः व्यापारिक बैङ्कों को धन भेजने से बहुत आय होती है। हाँ, विनिमय का काम वे प्रायः नहीं करते क्योंकि वह विदेशी विनिमय के बैङ्कों के हाथ में है।

बैंक अपने लाभ का किस प्रकार उपयोग करते हैं

लाभ के सब मद ऊपर दिये गये हैं। किन्तु यह सब लाभ हिस्सेदारों के बीच में विभक्त करने के लिये नहीं रहता। इसमें

से उन सब खर्चों को काट दिया जाता है जिनको करना प्रत्येक बैङ्कर के लिए आवश्यक रहता है। ये निम्नाङ्कित है :—

(१) स्थायी जमा तथा अन्य खातों पर का व्याज।

(२) सञ्चालकों और हिसाब निरीक्षकों का शुल्क, कर्मचारियों के वेतन, पेन्शन और प्राविडेन्ट फण्ड का खर्च।

(३) बैङ्करों के संघों, इत्यादि के सदस्य शुल्क।

(४) दफ्तर सम्बन्धी खर्च जैसे छपाई, डाक खर्च, विज्ञापन खर्च, स्टेशनरी खर्च, किराया और बीमे के प्रीमियम, इत्यादि।

(५) प्रतिनिधियों का सफर खर्च और उनके तथा अढतियों के शुल्क।

(६) मृत-स्टाक और साख-पत्रों की लागत के ह्रास का प्रबन्ध।

(७) अप्राप्य ऋण और बैङ्क के कर्मचारियों द्वारा किये गये गबन।

(८) आय तथा अन्य कर।

किसी बैंक का पक्का मुनाफा (Net profit) उसके प्रबन्ध की कुशलता पर ही निर्भर रहता है। बहुधा जमा अधिक व्याज न दे कर वरन् ग्राहकों को सुविधायें देकर तथा उनकी अनेकों प्रकार की सेवायें करके प्राप्त किये जाते है। कम वेतन वाले कर्मचारियों को रखने से कोई लाभ नही होता। उनसे प्रबन्ध की वह कुशलता नहीं प्राप्त होती, जो होनी चाहिये। हमारे देश मे कुछ बैंक थोड़े-थोड़े वेतन पर मैनेजर, इत्यादि रख लेते है जिससे गबन, इत्यादि बहुत होता है। अधिक वेतन वाले कर्मचारी प्रायः कम वेतन वाले कर्मचारियों की अपेक्षाकृत सस्ते पड़ते है। उनको अधिक काम मिल जाता है और वे उसको भली भाँति निबाह भी लेते हैं। बट्टा खाता भी कम हो जाता है और गबन भी नही होता। पक्के मुनाफे मे से उसके हिस्सेदारों के बीच में एक निश्चित दर से बँटनी करने के उपरान्त कुछ सुरक्षित कोष के लिये भी रख लिया जाता है। यह कभी-कभी ऐसे वर्षों में बँटनी की दर बढ़ाने के भी काम आता है जब लाभ कम होता है। किन्तु प्रायः यह दिन प्रतिदिन बढ़ने वाले काम के साथ-साथ दिन प्रतिदिन पूँजी को बढ़ाने के उद्देश्य से भी संचित किया जाता है।

प्रश्न

(१) बैंकों की कार्यशील पूँजी कौन-कौन से साधनों द्वारा प्राप्त होती है ? उनमे से प्रत्येक का एक संक्षिप्त विवरण दीजिये।

(२) बैंकरों के जमा किस तरह के होते हैं ? इस सम्बन्ध में आप सृजित जमा से क्या समझते हैं ?

(३) बैंकों की पूँजी कितने प्रकार की होती है ? हिस्सेदारों के सुरक्षित-दायित्व से आप क्या समझते है ?

(४) 'बैंको की जमा का सारा काम अधिकारो का पारस्परिक परिवर्तन और उनका द्रव्य के साथ परिवर्तन के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है'—इसका विश्लेषण कीजिये।

(५) एक बैंकर जमा प्राप्त करके अपने ग्राहको की और समाज की कौन-कौन सी सेवायें करता है ? क्या इससे वह समाज की कोई हानि भी कर सकता है ?

(६) 'किसी बैंक की जमा प्राप्ति का कार्य और नोटों के चलाने के कार्य दोनो एक ही प्रकार के हैं'—इसका विश्लेषण कीजिये।

(७) कोई बैंक अपनी 'कार्यशील पूँजी कैसे प्रयोग में लाता है ? इस सम्बन्ध में माँग पर वापिस होने वाले ऋणों से आप क्या समझते हैं ?

(८) किसी बैंकर को अपने ग्राहकों को ऋण देने के समय किन बातो को ध्यान में रखना चाहिये ? इसको स्पष्टतया समझाइये।

(९) बैंकरों के स्वीकृति के कार्यों से आप क्या समझते हैं ? यह कैसे प्रारम्भ हुआ ?

(१०) वे कौन-कौन से तरीके हैं जिनसे बैंकर अपना लाभ कमाते है ? क्या वह सभी हिस्सेदारो मे विभक्त किया जा सकता है ?

अध्याय ६

केन्द्रीय बैंकिंग (१)

केन्द्रीय बैंकिंग ने एक विशिष्ट व्यवसाय (Specialised Banking) का रूप तो केवल इसी शताब्दी मे ही धारण कर लिया है। इसके पूर्व यूरोप मे प्राय: सभी देशों मे, पूर्व में जापान और जावा में तथा अफ्रीका मे मिश्र और अल्जीरिया मे नोटों को

चलाने वाले और सरकार के काम करने वाले बैंक तो अवश्य स्थापित हो चुके थे, किन्तु जैसा कि तीसरे अध्याय मे बताया जा चुका है उनको केन्द्रीय बैंकों के कार्यों का कोई स्पष्ट ज्ञान नहीं था। हाँ, यह व्यवसाय धीरे-धीरे अवश्य उन्नति प्राप्त कर रहा था। बैंक आफ इगलैण्ड से प्रारम्भ होकर अन्य सभी बैंक थोड़े बहुत ऐसे केन्द्रीय बैंकिग के कार्य अवश्य करने लग गये थे जैसे व्यापारिक बैंकों के नकद कोष के एक बहुत बड़े भाग को अपने पास रखना, उनको बिलों पर तथा अन्य जमानतों पर ऋण देना, और आर्थिक तथा साख सम्बन्धी मामलों मे अपने को उत्तरदायी और मुखिया समझना इत्यादि, इत्यादि। जहाँ तक उनका जनता से व्यवसाय करने का प्रश्न था वह भी भिन्न-भिन्न बैंकों के साथ भिन्न-भिन्न था। एक तरफ तो बैंक आफ इंगलैण्ड था जिसने यह व्यवसाय बिल्कुल त्याग दिया था और दूसरी तरफ बैंक आफ फ्रान्स था जो अपने यहाँ के छोटे से छोटे व्यापारियों के साथ भी काम किया करता था। इस शताब्दी में कुछ ऐसे नियम और चलन बन गये हैं जिनसे केन्द्रीय बैंकिंग का व्यवसाय शासित हो रहा है और उसका एक विशिष्ट रूप बन गया है। हिल्टन यंग कमीशन के सामने बैंक आफ इंगलैण्ड के शासक (Governor) ने केन्द्रीय बैंकों के कार्यों का उल्लेख कुछ निम्न आशय के शब्दों मे किया था :—'उनको वैधानिक रीति से ग्राह्य होने वाली करन्सी को बाहर निकालने वाली और अन्दर करने वाली सरिता का काम करना चाहिये। उन्हे सरकार की सम्पूर्ण नकदी को और देश के अन्य बैंकों के और उनकी शाखाओं के सुरक्षित कोष को अपने पास रखना चाहिये। वह अपनी-अपनी सरकारों के देशान्तर्गत और अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देनों को भी उनकी ओर से पूरा करते है। उनका यह भी कर्तव्य है कि वे अपने-अपने देश की द्रव्य की इकाई का मूल्य देश मे और बाहर स्थिर रखने के उद्देश्य से अपने-अपने यहाँ की करन्सी और साख का परिमाण आवश्यकता के अनुसार घटाते और बढ़ाते रहे। जब आवश्यकता पड़े तब उन्हीं को बिलों की तथा अन्य उपयुक्त जमानतों की बिना पर आकस्मिक करन्सी और साख-पत्रों को चालू करने का भी प्रबन्ध करना चाहिये।

एस० एच० डी० काक ने, जिनको केन्द्रीय बैंकिंग के विषय मे

परिमाणस्वरूप माना जाता है केन्द्रीय बैंकों के कर्तव्यों का कुछ विशेष वर्णन किया है जिसको यहाँ पर संक्षेप में दिया जाता है :—

(१) व्यापार तथा साधारण जनता की आवश्यकतानुसार करन्सी को निकालना। इसके लिये उनको नोटों के चलाने का या तो एकाधिकार अथवा आंशिक अधिकार दे दिया जाता है।

(२) सरकार के साधारण बैंकिंग के और आढ़त के कामों को करना।

(३) व्यापारिक बैंकों के नकद कोष को रखना।

(४) राष्ट्र के धात्विक कोष को रखना।

(५) व्यापारिक बैंकों, बिल के दलालों तथा अन्य ऐसे ही अर्थ से सम्बन्ध रखने वाले व्यवसायियों को विनिमय के अथवा सरकारी बिलों के तथा अन्य उपयुक्त साख-पत्रों के ऊपर ऋण देना।

(६) जब कहीं से ऋण न मिल सके तब ऋण देने के दायित्व को स्वीकार करना।

(७) बैंकों के पारस्परिक लेन-देनों के लिये निकास-गृह (Clearing House) का प्रबन्ध, इत्यादि करना।

(८) व्यापार की आवश्यकता के अनुसार और विशेषतः राज्य के द्वारा चलाई हुई द्रव्य-प्रणाली को स्थिर रखने के उद्देश्य से साख का नियन्त्रण मे रखना।

उसने केन्द्रीय बैंकों का एक अन्य आवश्यक गुण भी बताया था जो यह है कि वे साधारण व्यापारिक बैंकों के व्यवसाय भी न करें अर्थात् न तो वे प्रत्येक व्यक्ति से जमा ही प्राप्त करें और न साधारण लोगों को किसी प्रकार का ऋण दें। किन्तु यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि बहुत से केन्द्रीय बैंक, जैसे फ्रान्स का बैंक, आस्ट्रेलिया का बैंक, जावा का बैंक, और मिश्र का राष्ट्रीय बैंक यह काम करते हैं। इधर कुछ दिनों से यह स्पष्ट हो गया है कि कुछ परिस्थितियों को छोड़कर जब राष्ट्र के आर्थिक हित के लिये यह आवश्यक प्रतीत हो, केन्द्रीय बैंकों को इन कामों को नही करना चाहिये। अतः, उपर्युक्त बैंक भी या तो इन्हे धीरे-धीरे कम कर रहे है या किसी विशेष कारणवश करते जा रहे है। भारतवर्ष मे और अर्जेन्टाइना मे जहाँ, क्रमशः इम्पीरियल बैंक आफ इण्डिया और अर्जेन्टाइना राष्ट्र का बैंक कुछ केन्द्रीय कामों के साथ-साथ ऐसा करते थे

नये केन्द्रीय बैंक स्थापित किये जा चुके हैं और उन पर ऐसा करने की रोक लगा दी गई है।

अब हम ऊपर दिये हुये सब कामों को एक-एक करके लेंगे और उनका विस्तृत अध्ययन करेंगे :—

(१) कागजी मुद्रा को चलाना--प्रायः सभी जगह यह काम सबसे पहिले केन्द्रीय बैंकों को सौंप दिया गया था। हम इस बात को जानते है कि बैंक आफ इंगलैण्ड इसको अपनी संस्थापना के समय से ही करता आ रहा है। इस विषय के कुछ बड़े-बड़े लेखक इसको केन्द्रीय बैंकों का एक मुख्य काम समझते है। सभी केन्द्रीय बैंकों के पास आजकल या तो इसका एकाधिकार अथवा शेषाधिकार है। पिछले अध्याय मे यह बताया जा चुका है कि कुछ बड़े-बड़े केन्द्रीय बैंकों को यह अधिकार कब दिये गये थे। जिन केन्द्रीय बैंकों के पास इस समय इसका एकाधिकार है उनके यहाँ के अन्य बैंकों से या तो किसी समय एक दम ही उनके चालू नोटों का भुगतान करने को कह दिया गया था अथवा उनको धीरे-धीरे समाप्त करने का आदेश दे दिया गया था। हाँ, कुछ ऐसे केन्द्रीय बैंक भी हैं जिन्हे अन्य बैंकों के चालू नोटों का दायित्व कुछ शर्तों पर अपने ऊपर ही ले लेना पड़ा था। इगलैण्ड मे, जैसा कि पहिले ही बताया जा चुका है सन् १८४४ मे निजी बैंकों को अपने चालू नोटो को चालू रखने का अधिकार तो दे दिया गया था किन्तु एक ऐसी शर्त लगा दी गई थी कि जिससे उनका यह अधिकार धीरे-धीरे समाप्त होता गया। जरमनी में नोट चलाने वाले अधिकांश बैंकों ने सन् १९३५ के बहुत पहिले ही उनके इस अधिकार पर जो बन्धन लगा दिये गये थे उनके कारण इसको वहाँ के रीश बैंक को हस्तान्तरित कर दिया था और जो बच रहे थे उन्हे भी इस वर्ष अपने इस अधिकार को उसको हस्तान्तरित करने को विवश किया गया। आजकल कुछ ही ऐसे केन्द्रीय बैंक बचे हैं जिनके पास इसका एकाधिकार नहीं है और उनमे से भी केवल सयुंक्त राष्ट्र अमेरिका, कनाडा और चीन ही के केन्द्रीय बैंक मुख्य हैं। सयुंक्त राष्ट्र अमेरिका मे राष्ट्रीय बैंकों के नोटों का भुगतान तो सन् १९३५-३६ मे कर दिया गया था, किन्तु इस समय भी कुछ सरकारी नोट चालू है, यद्यपि उनका परिमाण बहुत ही कम है। कनाडा में भी चार्टर्ड बैंको के नोटों का परिमाण बहुत

ही कम है, अधिकांश में तो वहाँ के केन्द्रीय बैंक अर्थात् बैंक आफ कनाडा के ही नोट चालू हैं। हाँ, चीन में अवश्य उन तीनों गैर-केन्द्रीय बैंकों के जिनको नोट चलाने का अधिकार प्राप्त है सन् १९३८ के मई के अन्त मे १२३·३ करोड़ चीनी डालर के नोट चालू थे और इसके विरुद्ध चीन के केन्द्रीय बैंक के केवल ४७·३ करोड़ चीनी डालर के नोट चालू थे। भारतवर्ष मे सन् १९४० की जुलाई से यहाँ की सरकार ने भी रिज़र्व बैंक के नोटों के साथ-साथ जिसके पास उनको चलाने का एकाधिकार प्राप्त है अपने एक-एक रुपये के नोटों को उसी प्रकार चलाना प्रारम्भ कर दिया है जिस प्रकार ब्रिटिश राजकोष ने प्रथम युद्ध के समय एक-एक पाउण्ड और आधे-आधे पाउण्ड के नोट चलाने प्रारम्भ कर दिये थे।

नोटों के चलाने का एकाधिकार कई कारणों से केन्द्रीय बैंकिंग के व्यवसाय का एक मुख्य अंग माना जाता है। पहिली बात तो यह है कि इससे नोट करन्सी मे जो आजकल की द्रव्य-प्रणाली में सभी जगह बहुत ही महत्वपूर्ण है सादृश्यता आ जाती है। दूसरे, इससे केन्द्रीय बैंकों का एक ऐसा प्रभाव उत्पन्न हो जाता है जिसकी उनको सङ्कटकाल मे बहुत आवश्यकता पड़ती है। तीसरे, इससे उसको व्यापारिक बैंकों की साख उत्पन्न करने की शक्ति का नियन्त्रण करने का भी अवसर प्राप्त हो जाता है। जैसा कि आगे चलकर ज्ञात होगा उनको साख मे वृद्धि करने के लिये या तो अपने यहाँ के नकदी के कोष को अथवा केन्द्रीय बैंक में अपनी जमा को बढ़ाना पड़ता है। बात यह है कि उनको अपने द्वारा उत्पन्न की गई साख का एक निश्चित प्रतिशत इन्हीं मे रखना पड़ता है। अब, यदि केन्द्रीय बैंक यह समझता है कि साख की वृद्धि देश के हित में नही है तो वह ऐसे बैंकों की सहायता नही करता। और यदि वह इसका उल्टा समझता है तो ऐसा करता है। अन्तिम बात यह है कि इससे सरकार को नोटों की सुरक्षा के विचार से उनको नियन्त्रित रखने में भी बड़ी सहूलियत मिलती है। इसके विपरीत यदि यह अधिकार कई बैंकों मे बँटा रहता है तो इसमे उसको कठिनाई पड़ती है।

जहाँ तक नोटों के नियन्त्रण का प्रश्न है यह कम से कम सात प्रकार से किया जा सकता है। पहिले को अंग्रेजी में फिक्स्ड फाइडू-सियरी इशू सिस्टम (Fixed Fiduciary Issue System)

कहते है। इसमे एक निश्चित रकम के नोट तो सरकारी साख-पत्रों पर निकाले जाते है, किन्तु उसके ऊपर जो नोट रहते है, उनके लिये शत प्रतिशत धात्विक कोप रक्खा जाता है। इसमे लोच नही है जिससे धात्विक कोप के धातु की बाहरी अथवा भीतरी मॉग के कारण काफी कम हो जाने पर नोटों के परिमाण को भी घटाना पड़ता है। फिर यदि करन्सी की बहुत मॉग हो जाती है तो जब तक उसी मूल्य की धातु न प्राप्त हो जाय तब तक वह बढ़ाई भी नही जा सकती। किन्तु इसके विपरीत यह कहा जा सकता है कि यह अच्छी स्थिति मे करन्सी के अत्याधिक बढ़ जाने को रोके रहता है। हॉ, सन् १९२८ से अग्रेजी प्रणाली मे इसमे कुछ लोच आ गया है। इस वर्ष वहॉ पर इस बात की आज्ञा दे दी गई थी कि कोप की आज्ञा से आवश्यकता पड़ने पर अधिक से अधिक दो वर्षो के लिये निश्चित रकम से ऊपर के नोट भी सरकारी साख-पत्रों की बिना पर चालू किये जा सकते है। हम ये तो जानते ही हैं कि सरकारी साख-पत्रों की बिना पर नोटों को चालू करने की जो रकम है वह वहाँ पर किस तरह से धीरे-धीरे प्रारम्भ के १२ लाख पाउण्ड से बढ़कर सन् १९२१ तक १९,७५०,००० पाउण्ड हो गई थी। किन्तु प्रथम युद्ध के समय राजकोप ने एक-एक पाउण्ड और आधे-आधे पाउण्ड के नोट भी चलाये थे। अतः, सन् १९२८ मे उनका दायित्व भी बैंक को ही हस्तान्तरित कर दिया गया और सरकारी साख-पत्रों की बिना पर चालू करने के नोटों का परिमाण भी २६ करोड़ पाउण्ड कर दिया गया। तब से अब तक यह अनेकों बार बदला जा चुका है[1]। अंग्रेजी प्रणाली को जापान और नारवे ने भी अपनाया है और इसमे थोड़ा-सा परिवर्तन करके तो इसे कई देशों ने अपना लिया है।

दूसरी प्रणाली वह है जिसमे नोटों के परिमाण को विधानतः निश्चित कर दिया जाता है (Fixed legal maximum of note issue)। यह सन् १८७० से सन् १९२८ तक फ्रान्स मे चालू रही। लेमौइन का कहना है "यह बहुत ही कड़ी प्रणाली है और द्रव्य के आधुनिक बाजारों की आवश्यकता को पूरा करने के लिये बिल्कुल ही अनुपयुक्त है। इससे मुद्रा-प्रसार के रुके रहने की कोई सम्भावना

[1] सन् १९४७ के अन्त में नोटो का परिमाण १३६·२ करोड़ पाउण्ड था और स्वर्ण कोप का परिमाण २०·४६ लाख पाउण्ड था।

नहीं रहती क्योंकि महासभा (Parliament) जब चाहती है, तब नोटों को चालू करने के परिमाण को विधानत: बढ़ा देती है।

तीसरी प्रणाली वह है जिसमे नोट सरकारी साख-पत्रों की बिना पर चालू किये जाते है और साथ ही बैंक की प्राप्त पूँजी और सुरक्षित कोप से अधिक नही हो सकते। यह प्रणाली संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में राष्ट्रीय बैंकों के नोटों के सम्बन्ध मे चालू थी। इसमें भी लोच नहीं है। जैसा बरगैस ने कहा है इसमें चालू नोटों का परिमाण सदा के लिये निश्चित-सा हो जाता है और न तो वह मन्दी में घट सकता है और न तेजी मे वढ़ सकता है।

चौथी प्रणाली वह है जिसमे नोटों का एक निश्चित प्रतिशत उदाहरण के लिये २५, ३०, ३३$\frac{1}{3}$ अथवा ४० प्रतिशत धात्विक कोष में रक्खा जाता है और शेष इस शर्त के साथ कि आवश्यकता पड़ने पर अधिकाधिक व्याज देकर कुछ समय के लिये इस धात्विक कोप का प्रतिशत कम भी किया जा सकता है सरकारी साख-पत्रों और व्यापारिक बिलों में रक्खा जाता है। इसको सन् १८७५ में जरमनी ने और सन् १९ ३ मे कुछ संशोधनों के साथ सयुक्त राष्ट्र अमेरिका ने तथा प्रथम युद्ध के बाद कुछ अन्य देशों ने अपनाया था। इसमें यह अच्छाई है कि जब एक तरफ तो इसमे लोच है दूमरी तरफ इसमे धात्विक कोष के न मिलने पर अत्याधिक मुद्रा प्रसार नहीं हो सकती।

पाँचवीं प्रणाली वह है जिसमे चौथी प्रणाली ही की तरह नोटों का कुछ प्रतिशत तो धात्विक कोप मे रक्खा जाता है किन्तु शेप के लिये कोई बन्धन नहीं रहता। हाँ, बैंक के फेल होने पर उसकी सम्पत्ति पहिले नोटों के भुगतान में और फिर अन्य भुगतानों में लगाई जाती है। इसमे बैंकों के लिये पॉचवी प्रणाली की अपेक्षाकृत अधिक स्वतन्त्रता रहती है। यह प्रणाली हालैण्ड में बहुत समय तक चालू थी, और आज कल दक्षिणी अफ्रीका के संघ में चालू है।

छठी प्रणाली अनुपातिक जमा की प्रणाली (Proportional Deposit Method) हैं। इसमें नोट चलाने वाले बैंकों को जितने के नोट चालू किये गये है उतने का एक विशेष प्रतिशत सरकारी साख-पत्रों के अथवा धातु के रूप में केन्द्रीय बैंक मे जमा कर देना पड़ता है। यह प्रणाली संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में सदस्य बैंकों के नोटों के सम्बन्ध में चालू है। ।वहाँ पर उक्त बैंकों को एक निश्चित प्रति

शत सरकारी साख-पत्रों मे लगाना पड़ता है और फिर उनको फेड्रल रिजर्व बोर्ड के पास जमा कर देना पड़ता है।

सातवीं प्रणाली चौथी प्रणाली की ही संशोधन-मात्र है। इसमे एक निश्चित प्रतिशत तो धातु के रूप मे रखनी पड़ती है, और कुछ किसी दूसरे देश के सरकारी साख-पत्रों मे अथवा किसी विदेशी केन्द्रीय बैंक मे जमा रखनी पड़ती है। भारतवर्ष मे सन् १८६१ से सन् १९२० तक तो प्रथम प्रणाली (Fixed Fiduciary Issue Method) चालू थी और आजकल यह सातवीं प्रणाली एक विशेष रूप मे चालू है।

अन्त मे यह कह देना भी आवश्यक है कि प्रायः सभी राष्ट्रों ने केन्द्रीय बैंकों को नोट चलाने का जो एकाधिकार दे रक्खा है उससे उनको जो भारी लाभ होता है उसका बँटवारा करना प्रारम्भ कर दिया है। कहीं-कहीं पर तो इनके नोट चलाने से इन्हे जो लाभ प्राप्त होता है उसका और इनके दूसरे बैंकिंग के कार्यों से जो लाभ प्राप्त होता है उसका अर्थात् दोनों का हिसाब अलग-अलग रक्खा जाता है और नोट चलाने से जो लाभ प्राप्त होता है वह पूरा राष्ट्र को दे दिया जाता है। अन्य स्थानों मे या तो हिस्सेदारों को पहिले एक निश्चित प्रतिशत की बँटनी देकर शेष सब राष्ट्र का हो जाता है या सब की सब मे बैंक और राष्ट्र का किसी विधान द्वारा निर्धारित तरीके पर बँटवारा होता है। बैंक आफ इगलैण्ड के राष्ट्रीयकरण के पहिले तो उसके नोट चलाने से उसको जितना लाभ होता था वह सभी सरकार ले लेती थी और भारतवर्ष मे रिजर्व बैंक के हिस्सेदारों को केवल ३½ प्रतिशत की बँटनी दी जाने के बाद उसका सारा लाभ राजकोष मे चला जाता है।

(२) राज्य के साधारण बैंकिंग के और आढ़त के कार्यों को करना और आर्थिक मामलों मे सरकार को मन्त्रणा देना—पुराने केन्द्रीय बैंक तो यह काम उस समय भी करते थे जिस समय वह पूर्ण रूप से केन्द्रीय बैंक नहीं बन पाये थे, और नये केन्द्रीय बैंकों के तो उस विधान के प्रारम्भ ही मे जिससे वह संस्थापित हुये हैं, यह दिया हुआ है कि वह यह सब काम करेंगे।

आजकल तो केन्द्रीय बैंक इन कामों को केवल इस लिये ही नहीं कि यह राज्य के लिये सुविधाजनक और अल्पव्ययी है बल्कि इस-

लिये भी करते हैं कि इनका देश के द्रव्य के बाजारों पर बड़ा प्रभाव पड़ता है और यदि वह इन्हें न करें तो उनका इन पर नियंत्रण भी न रह सके। वास्तव मे एक केन्द्रीय बैंक उसकी सरकार के जो लेन-देन होते है उसका उसके देश के द्रव्य के बाजारों पर जो प्रभाव पडता है उसको तभी दूर कर सकता है जब वह राज्य के लिये बैंकर का, अढतिये का और मंत्रणा देने का काम करता हो। केन्द्रीय बैंकों का विनिमय सम्बन्धी दायित्व भी रहता है और सरकार के इनके लेन देन इतने अधिक रहते है कि जब तक यह सब उनके द्वारा न सम्पादित किये जायँ तब तक वह अपने इस उत्तरदायित्व को नहीं पूरा कर सकते। केन्द्रीय बैंकों के द्रव्य के बाजारों से सीधी तौर पर सम्बन्धित होने के कारण वह सरकार को आर्थिक मामलों मे भी सरकार और देश दोनों के हितों के अनुकूल मन्त्रणा दे सकते है।

केन्द्रीय बैंक सरकार के बैंकर की हैसियत से अपने यहाँ की भिन्न-भिन्न सरकारों की तरफ से और उनके विभागों की तरफ से पूँजी सम्बन्धी और आय-व्यय सम्बन्धी दोनों ही प्रकार के जमा प्राप्त करते है और भुगतान देते हैं। वह राज्य के आय की वसूली और जनता से उनके लिये ऋण की वसूली की सम्भावना पर उन्हे ऋण भी देते हैं। कोई केन्द्रीय बैंक वास्तव में अपनी सरकार को स्थायी (Permanent) ऋण नही देता। हाँ, कुछ केन्द्रीय बैंक अवश्य अपनी सरकार को स्थायी ऋण देने के विचार से ही संस्थापित किये गये थे। किन्तु बाद में उनको भी और अधिक ऐसे ऋण देने के लिये मना कर दिया गया। हम जानते है कि बैंक आफ इंगलैण्ड की संस्थापना वहाँ की सरकार को उसकी प्रारम्भ की १२ लाख पाउण्ड की सारी पूँजी देने के लिये दी हुई थी और बाद मे भी धीरे-धीरे उसने उसको इतना ऋण दिया कि वह सब मिलाकर सन् १८०० तक १४,६८६,००० पाउण्ड हो गया। किन्तु फिर सन् १८३३ में इसको घटाकर ११,०१५,००० पाउण्ड कर दिया गया जो सन् १९२८ तक रहा। इसके बाद भी इस रकम में कई बार परिवर्तन किये जा चुके हैं। बैंक आफ फ्रान्स ने भी सन् १८५७ से राज्य को स्थायी ऋण देना प्रारम्भ कर दिया था जो सन् १९२६ तक ३८०० करोड़ पाउण्ड हो गया। फिर, सन् १९२८ मे यह घटाकर २० करोड़ फ्रैंक कर दिया गया। यह कमी जनता से ऋण लेकर और बैंक के स्वर्ण और विनिमय के कोष का फ्रैंक की नई विनिमय की

दर से जो पहिले की दर की केवल ½ ही रक्खी गई थी मूल्य लगाकर की गई थी। किन्तु कुछ ही समय बाद फिर उसने सरकार को ३०० करोड़ फ्रैंक का स्थाई ऋण दिया। इसके बाद सन् १९३५ से सन् १९३८ तक मे उसने उसको थोड़ी अवधि के कई ऋण दिये जिनका कुल जोड़ ५००० करोड़ फ्रैंक था। किन्तु इस वर्ष बैंक के और सरकार के बीच मे एक प्रतिज्ञापत्र लिखा गया जिससे कि बैंक के स्वर्ण और विनिमय के कोष का फिर से प्रति पाउण्ड १७० फ्रैंक के हिसाब से मूल्य लगाने से जो लाभ हुआ उससे बैंक ने सरकार को जो थोड़ी अवधि के लिये ऋण दे रखा था उसका आंशिक भुगतान किया गया और बैंक का सरकार के ऊपर ३२० करोड़ फ्रैंक का स्थायी ऋण माना गया। यह केवल दो उदाहरण मात्र हैं। प्रायः प्रत्येक केन्द्रीय बैंक ने आवश्यकता पड़ने पर अपनी सरकार को अवश्य ही कुछ न कुछ स्थायी ऋण दिये है। नये ऋणों को देने के बाद बार-बार भविष्य मे ऐसा करने पर बन्धेज लगाये गये और फिर उनको तोड़ा गया। इन ऋणों को देने के अतिरिक्त केन्द्रीय बैंक अपनी-अपनी सरकार के साख-पत्र और बिल भी एक बहुत बड़े परिमाण मे खरीदकर अपने पास रखते है। संसार के दो बड़े केन्द्रीय बैंक, बैंक आफ इंगलैण्ड और संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के फेडरल रिजर्व बैंक, प्रथम युद्ध के समय से अब तक बराबर अपनी-अपनी सरकारों की इसी प्रकार सहायता करते आ रहे है।

यहाँ पर यह बता देना भी आवश्यक है कि सरकार को ऋण देकर किसी केन्द्रीय बैंक के अपनी साख बढ़ाने से बैंकों की नकदी के कोष बढ जाते है और उनका साख के प्रसार पर वही प्रभाव पड़ता है जो नोटों के प्रसार पर पड़ता है। यह संसार के कई महत्त्वपूर्ण देशों मे सन् १९१४-१८ के बीच मे और उसके बाद मे हुआ था। जब कोई केन्द्रीय बैंक अपनी सरकार को ऋण देता है तब सरकार उसको जनता को या तो माल खरीद कर या उससे काम करा कर दे देती है। फिर यही बैंकों मे जमा के रूप मे प्राप्त हो जाते है जिनसे उनकी साख-पत्रों पर की लागत (Investments) बिलों पर की लागत तथा ऋणों के परिमाण चढा लिये जाते है।

भारतवर्ष का रिजर्व बैंक यूनियन सरकार को किसी भी सीमा तक इस शर्त पर ऋण दे सकता है कि वह तीन महीनों के अन्दर-अन्दर वापिस हो जायँ। किन्तु यह उनके साख-पत्र भी अपनी

पूँजी, अपने सुरक्षित कोष और अपने बैंकिंग विभाग के जमा के ६० प्रतिशत के मूल्य तक रख सकता है। हाँ, इनमें से जो साल भर के बाद पकने वाले है और जो दस साल के बाद पकने वाले है उनका परिमाण उसकी पूँजी और उसके सुरक्षित कोष के अलावा बैंकिंग विभाग के जमा के क्रमशः ४० प्रतिशत और २० प्रतिशत से अधिक नही हो सकता। थोड़ी अवधि वाले साख-पत्रों का परिमाण इसीलिये अधिक रक्खा गया है कि जिससे उनके मूल्य के ह्रास से उसको क्षति न उठानी पडे और साथ ही वह जब चाहे तब उन्हें वसूल भी कर ले।

सरकार के अढ़तिये और मन्त्री की हैसियत से भी केन्द्रीय बैंकों को बहुत से काम करने पड़ते है। वह सरकारी ऋणों का प्रबन्ध करते हैं; उनके सम्बन्ध के स्टाकों और प्रमाण-पत्रों के हस्तान्तरित होने पर जिस रजिस्टर मे उनके लेखे होते है उनको रखते है; सरकारी ऋणों को निकालते है, उनको दूसरे ऋणों मे बदलते है अथवा उनका भुगतान करते हैं; सरकारी बिल निकालते है और उनके भुगतान करते हैं, विनिमय की निकासी (Clearing) का तथा अन्य बहुत से कार्य करते है।

(३) व्यापारिक बैंकों के नकदी के कोष को रखना—व्यापारिक बैंकों ने अपने-अपने केन्द्रीय बैंकों मे धीरे-धीरे अपने नकदी के कोष रखने प्रारम्भ कर दिये। वास्तव मे यह तभी विशेष तौर पर होने लगा जब उन्होंने यह समझ लिया कि उनकी नोट चलाने की शक्ति के कारण और विशेषतः उनके देश के अन्दर बहुत ही विश्वासपात्र तथा विस्तृत क्षेत्र मे चालू होने के कारण उनके यहाँ अपने खातों को रखने से उनको बहुत लाभ होगा। सच तो यह है कि केन्द्रीय बैंकों मे जमा की हुई रकम उनके स्वयं के पास की रकम के ही सदृश्य है। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय बैंकों से घनिष्ट सम्बन्ध उत्पन्न हो जाने में वह अपना एक बहुत बड़ा सम्मान भी समझने लगे। इंगलैण्ड के अठारहवीं शताब्दी के निजी बैंकों ने भी इन सब बातों को भली भाँति समझ लिया था और इसी से वह बैंक आफ इंगलैण्ड में अपने हिसाब रखने लग गये थे। सन् १८२६ के बाद जब सम्मिलित पूँजी वाले बैंकों की संस्थापना हुई तब उन्होंने भी पूर्वोक्त चलन चालू रक्खा। दूसरे देशों मे भी यही हुआ। किन्तु संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के

फेड्रल रिजर्व बैंक की संस्थापना के साथ ही इस सम्बन्ध के एक नये सिद्धान्त का प्रारम्भ हुआ जो यह है कि प्रत्येक वैंक अपने यहाँ के केन्द्रीय बैंक के पास अपनी जमा का विधान द्वारा निश्चित प्रतिशत अवश्य रक्खें। उसके वाद जितने केन्द्रीय वैंक संस्थापित हुये हैं उनमे से प्रत्येक के विधान मे यह वात दी हुई है। हमारे देश मे भी जैसा एक पिछले अध्याय मे वताया जा चुका है सव सदस्य वैंकों (Scheduled Banks) को उनकी माँग पर वापिस होने वाली और एक निश्चित अवधि के वीत जाने पर वापिस होने वाली दोनों प्रकार की जमा के क्रमशः ५ प्रतिशत और २ प्रतिशत का नकद कोप रिजर्व वैंक मे रखना पड़ता है।

जहाँ तक किसी देश की द्रव्य सम्वन्धी और वैंकिंग सम्वन्धी स्थिति का प्रश्न है वह नकद कोप के इस प्रकार केन्द्रित होने से चाहे वह विधान द्वारा हो चाहे चलन के अनुसार हो वहुत ही अर्थपूर्ण हो जाती है। उसके तेजी और आवश्यकता के समय पर पूर्ण रूप से कार्यान्वित हो सकने के कारण उसकी विना पर साख की लोच वहुत अधिक वढ़ जाती है। यदि हम संसार के मुख्य-मुख्य देशो के वैंकों के द्वारा जो नकदी के कोप उनके यहाँ केन्द्रीय वैंकों की संस्थापना के पहिले रक्खे जाते थे और जो उसके वाद रक्खे जाते है उनकी तुलना करें तो हमको यह अवश्य ही ज्ञात हो जायगा कि इससे उनकी भी कमी हो जाती है। भारतवर्ष ऐसे कृपि-प्रधान देश मे कृपि की ऋतु मे जो अत्यधिक साख की आवश्यकता पड़ती है उसको पूरा करने के लिये वैंकों के नकदी के कोप को केन्द्रित रखना वहुत ही आवश्यक है, किन्तु यहाँ के रिजर्व वैंक की वैंक दर के वरावर एक समान रहने पर भी हम यह नहीं कह सकते कि उक्त वैंक की सस्थापना के वाद से नकदी के कोप के उसके पास केन्द्रित रहने पर भी यहाँ की अत्यधिक साख की माँग वरावर पूरी हो जाती है। किन्तु जो कुछ कठिनाई है वह जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे केवल इसी कारण है कि यहाँ के द्रव्य के आधुनिक वाजार और देशी वाजार के वीच मे कोई घनिष्ठ सम्वन्ध नहीं है।

(४) राष्ट्र के धात्विक कोप को रखना—प्रत्येक केन्द्रीय वैंक को प्रायः विधान के अनुसार ही अपने पास यथेष्ट धात्विक कोप रखना पड़ता है। पहिले तो यह धात्विक कोप केवल नोटों के लिये ही रखना

पडता था किन्तु धीरे-धीरे इस बात की भी आवश्यकता प्रतीत होने लगी कि यह जमा के लिये भी होना चाहिये। सच तो यह है कि प्रायः सभी आगे बढ़े हुये देशों मे आज कल जमा की बिना पर निकाले गये चेकों का प्रयोग नोटों के प्रयोग की अपेक्षाकृत कहीं अधिक बढ़ गया है। अतः, ऐसा होना आवश्यक हो गया है। किन्तु इंगलैण्ड मे और उसके साथ ही अन्य बहुत से देशों मे आज भी जमा के सम्बन्ध मे किसी धात्विक कोष को रखने के लिये कोई विधान नहीं है। हाँ, यह देश वैसे ही इतना अधिक धात्विक कोष रखते है[१] जितना कि केवल उनके नोटों के कारण नहीं होना चाहिये। फिर, यह कोप कितना होना चाहिये यह बात सदा के लिये नहीं निश्चित की जा सकती। अन्त में इसको उस विशेष केन्द्रीय बैंक के निश्चय पर ही छोड़ देना पड़ेगा। वास्तव में जो चीज़ अनिश्चित है वह यह है कि किसी देश की विनिमय की दर और उसकी द्रव्य-प्रणाली को स्थिर और चालू रखने के लिये कितने धात्विक कोष की आवश्यकता पड़ेगी। एक ही देश मे भिन्न-भिन्न समय में और भिन्न-भिन्न देशों के बीच में यह बराबर परिवर्तित होती रहती है। जितने देश हैं उनकी सबकी आर्थिक स्थिति और प्रणाली मे पारस्परिक विभिन्नता के साथ-साथ उनकी जनता की प्रकृति में भी विभिन्नता है, और वास्तव में इन्हीं सब बातों पर उनके धात्विक कोष की मात्रा की आवश्यकता निर्भर रहती है। इसमें सन्देह नही कि केन्द्रीय बैंकों के प्रबन्धकर्ता स्वयं ही इस बात को अपने अनुभव से सीख लेते है और इसी कारण इसके लिये उनको पूर्ण स्वतंत्रता दी जा सकती है। हाँ, जब कोई नया केन्द्रीय बैंक खुलता है तब अवश्य उसके प्रबन्धकर्ताओं के अनुभव-हीन होने के कारण इस बात की आवश्यकता प्रतीत होती है कि यह मात्रा निश्चित कर दी जाय।

कुछ देश अवश्य ऐसे है जिनकी विशेप परिस्थितियों के कारण उनको जो प्रायः आकस्मिक मॉग को पूरा करना पड़ता है उसके कारण अवश्य उन्हे इसकी एक बहुत बड़ी मात्रा रखनी पड़ती है। ये निम्न प्रकार के हो सकते है—(१) जिनके यहाँ से कुछ थोड़ी-सी ही वस्तुओं

---

[१]यह बात इधर कुछ दिनों से सही नहीं है।

का अत्यधिक निर्यात होता है जैसे अर्जैन्टाइना, ब्रेजिल, चिली, कनाडा और न्यूजीलैण्ड। इनके मूल्यों के गिर जाने से इनकी व्यापारिक विषमता (Balance of Trade) इनके विपरीत हो जाती है जिससे इनके यहाॅ के केन्द्रीय बैंकों को अत्यधिक धात्विक कोष निकालना पड़ता है। (२) वे जिनके यहाँ विदेशियों के थोड़ी अवधि के अन्दर वापिस माँगे जाने वाले कोष जमा रहते हैं जैसे ग्रेट ब्रिटेन और संयुक्त राष्ट्र अमेरिका। इनको कभी भी माँगा जा सकता है। (३) वे जिनके यहाॅ की राजनीतिक परिस्थिति के गड़बड़ होने के कारण उनकी करन्सी के विनिमय मूल्य में बराबर परिवर्तन होता रहता है, जैसे फ्रान्स।

सन् १९३२ के पहिले बैंक आफ इंगलैण्ड के पास बहुत कम स्वर्ण-कोप था। किन्तु इसके बाद उसने इसको नोटों के सम्बन्ध में और विनिमय समता कोप (Exchange Equalisation Fund) के सम्बन्ध मे बहुत बढ़ा लिया था। हाॅ, द्वितीय महायुद्ध के कारण इस समय फिर यह बहुत कम हो गया है, किन्तु धीरे-धीरे अवश्य बढ़ जायगा। इसी प्रकार सयुक्त राष्ट्र अमेरिका की फेडूल रिजर्व प्रणाली मे भी इसकी बाहुल्यता है। अब, केन्द्रीय बैंकों के अन्य कार्यों को लेने के पहिले यह भी कह देना आवश्यक है कि प्रायः इनके नाम मे रिजर्व (Reserve) शब्द के आने के कारण जैसे संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के फेडूल रिजर्व बैंक, दक्षिणी अफ्रीका का रिजर्व बैंक, पीरू का केन्द्रीय रिजर्व बैंक, न्यूजीलैण्ड और भारत के रिजर्व बैंक, इत्यादि बहुत से लोग इनके रिजर्व अर्थात् कोप रखने वाले कामों का बहुत महत्व समझते हैं।

(५) व्यापारिक बैंकों, बिलों के दलालों और व्यापारियों तथा इसी प्रकार की अन्य द्रव्य से सम्बन्धित सस्थाओं द्वारा लाये हुये विनिमय के बिलों, सरकारी बिलों और दूसरे उपयुक्त साख-पत्रों पर इन सबको ऋण देना और (६) जब कहीं ऋण न मिल सके तब उसको देने के दायित्व को स्वीकार करना—व्यापारिक बैंकों, बिलों के दलालों और व्यापारियों तथा इसी प्रकार की अन्य द्रव्य से सम्बन्धित संस्थायें प्रायः अपने केन्द्रीय बैंकों के पास ऋण के लिये तब तक नहीं जातीं जब तक उनके स्वयं के और बाहर के वह सब साधन नहीं समाप्त हो जाते जिन तक उनकी आसानी

से पहुँच हो सकती है। अतः, केन्द्रीय बैंक, जब अन्य कहीं ऋण न मिल सके तब उसको देने वाले समझे जाते हैं और क्योंकि वह यह काम प्रायः विनिमय के बिलों, सरकारी बिलों और दूसरे उपयुक्त साख-पत्रों की बिना पर करते है, अतः, (५) और (६) कामों को हम एक साथ ही लेते हैं। किन्तु यहाँ पर यह कह देना भी आवश्यक है कि यद्यपि बैंक आफ इंगलैण्ड ने विनिमय के बिलों, सरकारी बिलों और दूसरे साख-पत्रों पर बहुत दिनों पहिले से ही ऋण देना प्रारम्भ कर दिया था तो भी वह जब कहीं ऋण न मिल सके तब उसको देने के दायित्व को स्वीकार करने के लिये काफी समय तक तैयार नही था। सन् १८२५ तक तो यह उन बिलों के अतिरिक्त अन्य बिलों को लेने के लिये तैयार ही नहीं होता था जिनको वह बराबर लेता चला आ रहा था। हाँ, उस वर्ष के अन्त मे जब बैंकों और दूसरी द्रव्य-सम्बन्धी सस्थाओं के पास वह बिल नहीं रह गये जिनको वह लेने के लिये तैयार था तब उसने अवश्य इस सम्बंध के कुछ बन्धेज अनिच्छापूर्वक हटा दिये। इसके बाद अन्य आर्थिक संकटों के अवसरों पर भी उसने बड़ी अनिच्छा दिखलाई किन्तु सन् १८७३ के पहिले-पहिले तक जब बेजहौट की लौम्बर्ड स्ट्रीट नामक पुस्तक प्रकाशित हुई थी उसने इस दायित्व को पूर्णतया स्वीकार करना प्रारम्भ कर दिया था। अन्य केन्द्रीय बैंकों ने भी यह धीरे-धीरे ही किया। हाँ, सन् १९१३ मे जब सयुक्त राष्ट्र अमेरिका के फेड्रल रिजर्व बैंक स्थापित हुये उस समय तक यह काम केन्द्रीय बैंकों का एक मुख्य काम समझा जाने लगा था। वास्तव मे इसके महत्त्व को सब जगह समझे जाने के कारण ही हौटरे के सहित बैंकिग के सभी बड़े-बड़े लेखकों ने केन्द्रीय बैंकों के कार्यों में से इसको बहुत ही महत्त्वपूर्ण माना है। बिलों पर ऋण देने (Rediscounting) के अर्थ साधारणतया तो विनिमय के बहुत ही अच्छे बिलों पर ऋण देने के ही हैं किन्तु इधर इसमे सरकारी बिल और अन्य साख-पत्र भी सम्मिलित हो गये है। वास्तव मे इस व्यापकता का एक-मात्र कारण यही है कि केन्द्रीय बैंकों ने कही भी ऋण न मिलने पर ऋण देने के अपने दायित्व को स्वीकार कर लिया है और उसके लिये बहुत अच्छे विनिमय के बिल सदा नही मिलते। बैंक, इत्यादि विनिमय के बिलों के अतिरिक्त सरकारी बिलों और अन्य साख-पत्रों पर भी ऋण देते

हैं। सच तो यह है कि प्रथम युद्ध के समय से सरकारी बिलों और अन्य साख-पत्रों का परिमाण विनिमय के बिलों की अपेक्षाकृत कहीं अधिक बढ़ गया है। "बिलों पर ऋण देने का काम नोटों को चालू करने के और नकद कोप को रखने के कामों से बहुत ही सम्बन्धित है क्योंकि यह दोनों जब केन्द्रित हो जाते है तब केन्द्रीय बैंकों की ऋण देने की शक्ति भी अत्यधिक बढ़ जाती है। नोट चलाने के अधिकार के कारण कोई भी केन्द्रीय बैंक उससे जो हाथो-हाथ चलाने वाली करन्सी की माँग होती है उसको और नकद कोप के केन्द्रित होने के कारण उसके पास जो बिलों, इत्यादि पर ऋण देने की प्रार्थना की जाती है उसको पूरी करने मे पूर्णतया समर्थ रहता है।"

किन्तु व्यापारिक बैंकों को इस सुविधा का दुरुपयोग नहीं करना चाहिये। साधारणतया तो उन्हे स्वयं के साधनों पर ही निर्भर रहना चाहिये। 'जब कि प्रत्येक केन्द्रीय बैंक को बैंकों के संकट के समय उनकी सहायता करने के लिये तैयार रहना चाहिये और जब उन्हे कहीं से भी ऋण न मिल सके तब उन्हे ऋण देना चाहिये, इसके यह हर्गिज़ भी अर्थ नहीं है कि बैंकों को हर परि-स्थिति मे अपने केन्द्रीय बैंक से अपरिमित ऋण लेने का अटल अधिकार प्राप्त है।' भारतवर्ष मे अभी हाल तक बैंकों को इस सम्भन्ध का एक बहुत बड़ा भ्रमोत्पादक विश्वास था और यहाँ के रिज़र्व बैंक को उस समय बहुत बुरा-भला कहा गया था जब उसने त्राव-ङ्कुर नेशनल किलन बैंक को सन् १९३८ के मध्य मे जिस समय वह बड़ी कठिनाई मे पड़ा हुआ था और अन्त मे उसका काम बन्द हो गया था, उसको मदद नही दी। अन्त मे बैंक के ७वी दिसम्बर सन् १९३८ के 'सदस्य बैंकों के बिलों पर तथा अन्य प्रकार से ऋण देने के सम्बन्ध के पत्र' के द्वारा जो निम्न आशय का था, यह बात स्पष्ट की गई :—

"संसार के दूसरे देशों मे केन्द्रीय बैंकों का जो चलन है उसके अनुसार तथा इस देश मे बैंकिंग को एक उचित मार्ग पर चलाने के उद्देश्य से रिजर्व बैंक अपने सदस्य बैंकों को साख देने के समय केवल उनके द्वारा लाई गई जमानतों पर ही नहीं वरन् उनके लागत की किस्मों पर और उनका व्यवसाय करने का जो ढंग है उदाहरण के लिये वह जमा आकर्षित करने के लिये व्याज की ऊँची दर तो नही

देते हैं, अथवा साधारण अवसरों पर जब द्रव्य के बाजारों में काफी द्रव्य रहता है तब तो वह रिजर्व बैंक से सहायता नहीं लेते हैं, अथवा वह अत्यधिक व्यापार तो नहीं करते है और वस्तुओं पर अथवा साख-पत्रों पर सट्टेबाजी के लिये अत्याधिक साख तो नही देते है अथवा बिला जमानत प्राप्त किये तो बहुत अधिक व्यवसाय नहीं करते हैं इस पर भी विचार करेगा। इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान रखना चाहिये कि रिज़र्व बैंक विधान के अनुसार केवल अस्थायी ऋण ही दे सकता है। इस बात का निश्चय करने के लिये कि वह जो साख दे रहा है उसका किसी प्रकार का दुरुपयोग तो नहीं होगा रिजर्व बैंक उधार, लेने वाले बैंकों से कोई भी ऐसी सूचना माँग सकता है अथवा उन पर कोई भी ऐसे बन्धेज लगा सकता है जो उसकी दृष्टि में वांछनीय हैं और सहायता की प्रार्थना करने वाले किसी भी सदस्य बैंक को उपर्युक्त सूचना देनी पड़ेगी तथा बन्धेजों को मानना पड़ेगा।

किसी अन्य बैङ्क की तरह रिज़र्व बैङ्क को भी कोई कारण बताये बिना भी किसी बैङ्क को उसके कागजों पर ऋण देने की मनाही कर देने का पूर्ण अधिकार है। किन्तु जो सदस्य बैंक उचित ढंग पर व्यवसाय करते हैं वे रिज़र्व बैङ्क से संकट के समय अथवा आवश्यकता पड़ने पर उचित जमानत देने पर अवश्य ही सहायता पाने की आशा रख सकते है।

इससे यह स्पष्ट है कि कोई केन्द्रीय बैंक जब कहीं ऋण न मिले तब ऋण देने के अपने दायित्व को स्वीकार करते हुये भी अपने यहाँ के बैङ्कों के काम करने के स्तर को ऊँचा कर सकता है। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में भी इस सम्बन्ध की स्थिति अक्टूबर सन् १९३७ के एक फेड्रल रिजर्व पत्र से स्पष्ट की गई थी।

(७) बैंकों के पारस्परिक लेन-देनों को निकास-गृह (Clearing house) के द्वारा निपटाना—इस काम को केन्द्रीय बैंक या तो स्वयं ही या विधान के कहने पर करने लग गये है। इसमें भी बैंक आफ इंगलैण्ड का ही रास्ता दिखाया हुआ है। स्प्रेग के कथन के अनुसार इसका प्रारम्भ सन् १८५४ में हुआ था। वास्तव मे बैंकों के नकद कोष को अपने पास रखने के उपरान्त बैंक आफ इंगलैण्ड के लिये इस काम को करना आवश्यक हो गया था। दूसरे केन्द्रीय बैंकों ने भी शीघ्र ही इसको प्रारम्भ कर दिया। बैंकों का यह अनुभव

है कि दूसरे बैंकों के पास उनके ऊपर के जो चेक, इत्यादि होते हैं उनकी रकम लगभग उन चेकों, इत्यादि की रकम के बरावर ही होती है जो उनके पास दूसरे बैंकों के ऊपर की होती हैं। हो सकता है कि दिन-प्रतिदिन के हिसाब में यथेष्ट अन्तर हो, किन्तु अन्त मे यह बिल्कुल भी नहीं रह जाता। अतः, दिन-प्रतिदिन के हिसाब का निपटारा उनके जो खाते केन्द्रीय बैंक में होते है उन्हीं में जमा नाम करके कर दिया जाता है। अब, यदि इससे किसी विशेष बैंक के खाते मे उतनी बाकी नहीं रह जाती जितनी विधानतः और चलन के अनुसार रहनी चाहिये तब वह बैंक अपने बिलों, इत्यादि पर केन्द्रीय बैंक से ऋण लेकर उसको पूरा कर देता है। यह क्रम बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुआ है। प्रथम तो इससे भिन्न-भिन्न बैंकों के पारस्परिक लेन-देन एक बहुत ही सीधे-सादे ढङ्ग से निपट जाते हैं, अर्थात् केवल उनके खातों में ही लेखे करने पड़ते है। दूसरे, इससे इस काम मे द्रव्य के प्रयोग की बचत होती है। अन्तिम बात यह है कि इससे संकट की स्थिति में भी नकदी के न निकाले जाने की सम्भावना के कारण देश की बैंकिंग-प्रणाली बहुत ही सुदृढ़ बन जाती है।

कुछ देशों मे जहाँ व्यापारिक बैंकों ने केन्द्रीय बैंकों की संस्थापना के पहिले ही अपने पारस्परिक लेन-देनों के निपटारे के लिये स्वयं ही निकास-गृहों मे प्रवन्ध कर लिये थे अथवा जहाँ केन्द्रीय बैंकों ने प्रारम्भ मे इस तरफ कोई ध्यान ही नहीं दिया था, जहाँ पर अब भी स्वतंत्र निकास-गृह है और उनके स्वयं के विधान तथा काम करने के स्थान है। किन्तु वहाँ भी केन्द्रीय बैंक एक तो उनके सदस्य है ही, साथ ही प्रत्येक निपटारे के बाद उनकी बाकी के निपटारे का भी प्रवन्ध करते है। अन्य स्थानों मे वह प्रायः निकास-गृह के लिये स्थान देते हैं, उनके काम करने की विधि सम्बन्धी नियम बनाते हैं, उनका निरीक्षण करते हैं और अन्त मे उनकी बाकी के निपटारे का प्रबन्ध भी करते है।

इंगलैण्ड में लन्दन में बैंक आफ इंगलैण्ड का स्वयं का आफिस है, और साथ ही उन ग्यारह प्रान्तीय शहरों मे से जिन मे निकास गृहों का प्रवन्ध है सात मे भी उसकी शाखायें हैं। तथापि इन सभी स्थानों के निकास-गृह स्वतन्त्र है। हाँ, इनकी बाकी का निपटारा

अवश्य सभी जगह बैंक आफ इंगलैण्ड के द्वारा ही किया जाता है। लन्दन में जहाँ उसका आफिस है और सातों प्रान्तीय शहरों में जहाँ उसकी शाखायें हैं, यह निपटारा उक्त आफिस और उसकी शाखाओं के ऊपर जैसा हो चेकें काट करके किया जाता है। किन्तु उन चार शहरों मे जहाँ उसका कोई आफिस अथवा उसकी कोई साख नहीं है यह उन बैंकों के लन्दन स्थित प्रधान आफिसों के बीच में उनके जो खाते बैंक आफ इंगलैण्ड के लन्दन के आफिस में है, उन्हीं पर चेक काट करके उसी तरह से होता है, जिस तरह से यह लन्दन के निकास-गृह की बाकी के सम्बन्ध में होता है।

भारतवर्ष मे रिजर्व बैंक की संस्थापना के पहिले भी यहाँ के मुख्य-मुख्य स्थानों में स्वतत्र निकास-गृह थे और उनमे कार्य संचालन का अधिकार स्वाभाविक रूप से ही इम्पीरियल बैंक को था जो इस सम्बन्ध के सारे काम सब सदस्यों की ओर से करता था। यद्यपि रिजर्व बैंक विधान की ५८ (क) धारा के अनुसार उसको निकास-गृहों के सम्बन्ध के नियम बनाने के अधिकार हैं, तो भी उसने अभी तक इस विषय मे कोई हस्तक्षेप करना उचित नहीं समझा है और पूर्वोक्त निकास-गृह पहिले की ही तरह स्वतन्त्ररूप से अपना कार्य करते आ रहे हैं। हाँ, उनमें से कुछ के कार्य-संचालन का अधिकार अवश्य इसने ले लिया है! किन्तु कलकत्ता और कानपुर जैसे दो स्थान आज भी ऐसे हैं जहाँ क्रमशः इसके आफिस और इसकी शाखा के होने पर भी इसने इस सम्बन्ध के कार्य-संचालन का कार्य दूसरों के ऊपर ही छोड़ रक्खा है । कलकत्ते में तो यह काम क्लियरिंग बैंक्स एसोसियेशन की साधारण कमेटी के द्वारा नियुक्त एक निरीक्षक के हाथ में है और कानपुर में यही इम्पीरियल बैंक के हाथ में है। किन्तु इन सभी स्थानों में सब बैंक अपनी बाक़ी का निपटारा उनके रिजर्व बैंक में जो खाते हैं उन्हीं के ऊपर चेक काट कर करते हैं। कुछ ऐसे भी स्थान हैं जहाँ न तो रिजर्व बैंक के आफिस हैं और न उसकी शाखायें है। अतः, वहाँ इम्पीरियल बैंक न केवल निकास-गृह सम्बन्धी कार्यों का संचालन ही करता है वरन् उसकी बाकी का भी निपटारा करता है।

(८) व्यापार की आवश्यकता के अनुसार और सरकार के द्वारा निर्धारित द्रव्य-प्रणाली को स्थिर रखने के उद्देश्य से साख का

नियन्त्रण करना—वास्तव में केन्द्रीय बैंकों का यह कार्य अन्य सब कार्यों की तुलना मे सबसे महत्त्वपूर्ण है। इस सम्बन्ध मे शा ने कहा है "किसी केन्द्रीय बैंक का एक मात्र ।वास्तविक और सबसे महत्त्वपूर्ण काम साख का नियन्त्रण करना है।" इसका एक मात्र कारण यही है कि आधुनिक काल में सब प्रकार के द्रव्य-सम्बन्धी और व्यापार-सम्बन्धी लेन-देनों के निपटारे मे साख का ही भाग सबसे प्रधान हो गया है। ऐसा कहा जाता है कि ग्रेट ब्रिटेन और संयुक्त राष्ट्र अमेरिका जैसे देशों मे ९० प्रतिशत भुगतान मुद्राओं और नोटों के द्वारा न किये जाकर चेकों के द्वारा ही किये जाते है। ऐसा होने के कारण साख अच्छे और बुरे दोनों के लिये कार्य रूप मे लाई जा सकती है, अतः, देश के हित के लिये इसका नियन्त्रण बहुत ही आवश्यक हो गया है। इसके अतिरिक्त साख को चालू करने और उसको वापिस करने के काम के वास्तविक रूप मे बैंकिंग के व्यवसाय के अन्तर्गत आने के कारण उसका नियन्त्रण भी राज्य के किसी विभाग के द्वारा किये जाने की अपेक्षाकृत किसी बैंक के द्वारा ही किया जाना चाहिये और यह बहुत से बैंकों की अपेक्षाकृत एक ही बैंक के द्वारा बहुत ही सफलतापूर्वक किया जा सकता है। जहाँ तक इस नियन्त्रण के उद्देश्य का प्रश्न है इस विषय मे बहुत मतभेद है। इसका चालू और जो कुछ ही दिनों के पहिले तक मुख्य उद्देश्य था वह विनिमय की दरों को स्थिर रखने का था। हमारे देश मे तो यह उद्देश्य बराबर ब्रिटिश राज्य के अन्त तक रहा। किन्तु विनिमय की दर की स्थिरता के यह आवश्यक अर्थ नहीं है कि चीजों के मूल्य भी स्थिर रहेगे। प्रायः उनमे बहुत घट-बढ़ होती रहती है। यदि हम इस बात को भली भाँति सोचे तो हमको यह विदित हो जायगा कि विनिमय के दर की स्थिरता की अपेक्षाकृत चीजों के मूल्य की स्थिरता कहीं अधिक वांछनीय है। यह तो सभी जानते है कि मूल्य के परिवर्तन से बहुत से परिवर्तन हो जाते हैं और आधुनिक आर्थिक संगठन बिल्कुल गड़बड़ हो जाता है तथा उससे जो बेतरतीबी फैल जाती है उसके आर्थिक और सामाजिक फल बहुत बुरे होते हैं। फिर विनिमय की स्थिरता को अत्यधिक महत्व देने वाले देश प्रायः किसी एक बड़े देश के अथवा कई मुख्य देशों के आश्रित हो जाते है। कहना न होगा कि जब से भारतवर्ष ने स्टर्लिंग विनिमय मान को अपनाया है तब से इस देश मे भी यही

हो रहा है। इसकी द्रव्य-सम्बन्धी नीति बराबर इंगलैण्ड की द्रव्य-सम्बन्धी नीति पर ही आश्रित रही है। कहना न होगा कि इन देशों की आर्थिक स्थिति के एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न होने के कारण भारतवर्ष के लिये यह बहुत ही हानिकारक सिद्ध हुआ है। विनिमय की अथवा मूल्य की स्थिरता के उद्देश्य को छोड़ कर साख के नियन्त्रण का एक उद्देश्य व्यापारिक चक्र (Business cycles) से रक्षा करना अथवा उसको बिल्कुल दूर करना भी है। अब धीरे-धीरे लोगों का यह विश्वास होता जा रहा है कि साख के नियन्त्रण का सबसे मुख्य उद्देश्य व्यापारिक कार्यों की साधारण एवं बराबर उन्नति करना और अत्याधिक तेज़ी तथा मन्दी को रोकना ही है।

जहाँ तक साख के नियन्त्रण के तरीक़ों का प्रश्न है भिन्न-भिन्न केन्द्रीय बैंकों ने भिन्न-भिन्न अवसरों पर भिन्न-भिन्न तरीकों का प्रयोग किया है। और कभी-कभी तो उनको एक ही अवसर पर साथ-साथ ही कई तरीकों का प्रयोग करना पड़ा है। इनमे से बैंक दर नीति (Bank rate policy) और बाज़ार मे खुले तौर पर सौदा करने की प्रणाली (Open Market Operations) बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुई है। किन्तु हम इनका विस्तृत अध्ययन अगले अध्याय मे ही करेंगे। हाँ, किसी देश मे उसका केन्द्रीय बैंक साख के नियन्त्रण मे कहाँ तक सफल हो सकता है यह भी बहुत सी बातों पर निर्भर है। पहिले तो यह उसके द्रव्य के बाज़ार की उन्नति के स्तर और उसके और केन्द्रीय बैंक के पारस्परिक सम्बन्ध पर निर्भर है। अधिकांश देशों मे द्रव्य के सुसंगठित बाज़ार है ही नहीं। हमारे ही देश मे द्रव्य के दो बाज़ार है—एक देशी और दूसरा आधुनिक—तथा इन दोनों मे कोई विशेप सम्बन्ध नहीं है। देशी बाज़ार आधुनिक बाज़ार की बहुत कम सहायता लेता है, और इसी प्रकार आधुनिक बाज़ार भी देश के केन्द्रीय बैंक की बहुत कम सहायता लेता है। इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह है कि व्यापारिक बैंकों में से कितने बैंक केन्द्रीय बैंक के सदस्य हैं। तीसरे, उनके और केन्द्रीय बैंक के बीच मे कैसा सहयोग है, और अन्तिम यह कि केन्द्रीय बैंक का व्यापारिक बैंकों पर तथा अन्य अर्थ से सम्बन्धित संस्थाओं पर कैसा प्रभाव है। ये भिन्न-भिन्न देशों मे भिन्न-भिन्न हैं। हाँ, केन्द्रीय बैंक इस उद्देश्य से एक स्पष्ट नीति पर चल कर स्थिति का सुधार तो अवश्य ही कर सकते है।

केन्द्रीय बैंकों का सरकार से सम्बन्ध

केन्द्रीय वैकों के जो कार्य है उनके महत्व के कारण हमको उनके और सरकार के वीच के सम्वन्ध का भी अध्ययन अवश्य ही कर लेना चाहिये। प्राय: सभी देशों की सरकारों ने अपने-अपने मुख्य वैकों के कार्यों में किसी न किसी रूप मे हस्तक्षेप करना आवश्यक समझा है। उन्नीसवीं शताव्दी मे तो इस वात को विधान मे ही स्पष्ट कर देने का चलन हो गया था। किंतु प्रथम युद्ध के समय सरकार के अत्याधिक हस्तक्षेप के कारण इनसे जो जनता का अहित हो गया था, उसके कारण कुछ हवा वदल गई थी। सन् १९२० मे ब्रूसेल्स कान्फ्रेन्स ने जो यह निश्चय किया था कि वैकों और विशेप कर नोट चलाने वाले वैकों पर उनकी सरकार का कोई दवाव नही रहना चाहिये और उनको अर्थ-सम्बन्धी मामलों मे दूरदर्शी नीति का पालन करना चाहिये वह उस समय के जनमत का द्योतक है। किन्तु वहुत से स्पष्ट कारणों से अधिकांश देशों मे यह वात मान ली गई है कि प्रत्येक केन्द्रीय वैक के सचालक मण्डल की रचना मे उसकी सरकार का हाथ अवश्य रहना चाहिये और इधर तो उनका राष्ट्रीयकरण भी हो रहा है।

प्रथम तो कुछ ऐसे केन्द्रीय वैक है जिनकी सारी पूँजी उनकी सरकार के द्वारा ही प्राप्त हुई है, अथवा वह सरकार की ओर व्यापारिक वैकों की, अथवा सरकार की, व्यापारिक वैकों की तथा लोगों की सम्मिलित पूँजी है। भारतवर्ष के रिजर्व वैक की पूँजी के स्वामित्व के सम्वन्ध मे सन् १९२७ ही मे एक वड़ा गहरा मतभेद उत्पन्न हो गया था किन्तु अन्त मे जब इसकी संस्थापना हुई थी उसके पहिले ही यह वात पूर्णतया मान ली गई थी कि वह जनता के लोगों की निजी पूँजी ही होनी चाहिये। इस सम्वन्ध मे यह भी कह देना आवश्यक है कि सरकार के स्वामित्व का इस समय कोई विशेप महत्त्व नहीं है क्योंकि वह अव इसके विना भी अनेकों प्रकार से अपने-अपने केन्द्रीय वैकों पर अपना नियन्त्रण रख सकती है। दूसरे, उनके प्रधान कार्यकर्ताओं की नियुक्ति भी सरकार के द्वारा स्वयं ही, अथवा उनके संचालक मंडल की मन्त्रणा से अथवा व्यवस्थापक सभाओं की स्वीकृति से की जाती है। यदि सरकार अपने यहाँ के वैक की पूँजी को एकत्रित करने में कोई भी हिस्सा नहीं वँटाती है तो भी इसके यह अर्थ नही है

कि वह उनके सचालकों की नियुक्ति में भी हिस्सा नहीं बँटा सकती है। कुछ देशों में और उनमें भारतवर्ष भी सम्मिलित है, उनकी सरकारों को उनके केन्द्रीय बैंकों की पूँजी में हिस्सा न भी बँटाने पर उनके संचालकों की नियुक्ति में ऐसा करने का अधिकार है।

प्रश्न

(१) 'केन्द्रीय बैंकिंग ने केवल इसी शताब्दी में ही एक विशिष्ट व्यवसाय का रूप धारण कर लिया है। उपरोक्त कथन पर अपना मत दीजिये।

(२) केन्द्रीय बैंकिग के प्रायः कौन-कौन से काम हैं? क्या यह आवश्यक है कि केन्द्रीय बैंक साधारणतः व्यापारिक बैंको के कार्य न करे?

(३) नोटों को चलाने के एकाधिकार अथवा शेषाधिकार से आप क्या समझते हैं? ससार के मुख्य-मुख्य केन्द्रीय बैंकों ने इन अधिकारों को कब प्राप्त किया है? इस अधिकार के कौन-कौन से लाभ हैं।

(४) नोटों को चलाने का नियन्त्रण करने के लिये कौन-कौन से तरीके हैं? उनमे से प्रत्येक के विषय मे उदाहरण के साथ बताइये।

(५) 'सरकार के बैंकर' के क्या अर्थ हैं? क्या केन्द्रीय बैंक अपनी सरकार को ऋण दे सकते हैं? उदाहरण देकर बताइये कि इस सम्बन्ध के बन्धेज किस प्रकार से बारम्बार तोड़े गये हैं।

(६) यह बतलाइये कि रिजर्व बैंक देश की सरकार को कहाँ तक आर्थिक सहायता दे सकती है।

(७) केन्द्रीय बैंक किन-किन तरीकों से व्यापारिक बैंको के नकद कोष को रखते हैं? इस कार्य से कौन-कौन सुविधायें प्राप्त हो सकती हैं।

(८) राष्ट्र का धात्विक कोष प्रायः किस रूप में उसके केन्द्रीय बैंक के पास रहता है? वास्तविक रकम किस बात पर निर्भर रहती है? अपने उत्तर के सम्बन्ध मे कुछ उदाहरण दीजिये।

(९) बिलों पर ऋण देने और जब कहीं ऋण न मिले तब ऋण देने के दायित्व को स्वीकार करने में क्या सम्बन्ध है? यह बताइये कि इस बाद वाले कार्य की किस प्रकार धीरे-धीरे उन्नति हुई है। भारतवर्ष के रिजर्व बैंक की इस सम्बन्ध में क्या नीति है?

(१०) निकास-गृह का क्या सिद्धान्त है? उससे कौन-कौन से लाभ हैं? इस सम्बन्ध में केन्द्रीय बैंकों का क्या भाग रहता है? अपने उत्तर मे भारतवर्ष और इंगलैण्ड के उदाहरण दीजिये।

(११) केन्द्रीय बैंको के द्वारा साख के नियन्त्रण से आप क्या समझते है ? इसका क्या उद्देश्य होना चाहिये ? इसको करने को दो मुख्य तरीके बताइये।

(१२) किसी केन्द्रीय बैंक का उसकी सरकार से प्रायः क्या सम्बन्ध रहता है ? अपने उत्तर के सम्बन्ध मे उदाहरण दीजिये।

अध्याय ७

केन्द्रीय बैंकिंग (२)

सन् १९१४-१८ के महायुद्ध के पहिले मुख्यतः बैंक दर नीति ही के द्वारा साख नियन्त्रण किया जाता था।

बैंक दर

बैंक दर का अर्थ—बैंक दर वह दर है जिस पर कोई केन्द्रीय बैंक सर्वोच्च कोटि के बिलों को फिर से डिस्काउण्ट (Rediscount) करने के लिये तैयार रहता है। यह हर सप्ताह मे एक विशेष दिन बैंक सचालकों की एक विशेष बैठक मे निश्चित किया जाता है और फिर घोषित कर दिया जाता है। जहाँ तक होता है यह एक बार निश्चित हो जाने पर फिर एक सप्ताह के अन्दर नही बदला जाता। आजकल यह वह दर भी है जिस पर कोई केन्द्रीय बैंक अपने सदस्य बैंकों को उनकी सर्वोच्च कोटि की जमानतों की बिना पर ऋण देने के लिये भी तैयार रहता है। यह परिवर्तन केवल इसीलिये हुआ है कि इधर बिलों की बहुत कमी हो गई है और सरकारी साख-पत्र तथा बिल बहुत बढ़ गये हैं। यह बिलों की कमी कई कारणों से हुई है जिनमे से मुख्य तो यह है कि इधर व्यापारिक बैंक प्रायः अपने ग्राहकों को उनके द्वारा जमा की हुई रकम से कहीं अधिक रकम निकालने की आज्ञा (Overdraft), नकद साख (Cash Credit) तथा जमानती ऋण (Collateral Loans) देने लगे है। इसके अलावा पहिले द्रव्य को एक स्थान से दूसरे स्थान मे भेजने के सम्बन्ध मे भी बिलों का प्रयोग होता था, किन्तु अब ऐसा नहीं है। व्यापारिक बैंकों की सख्या बढ़ती जा रही है और वह इस

कार्य को अधिकाधिक अपने बैंक ड्राफ्टों के द्वारा करते हैं। यह लन्दन में भी हो रहा है और अन्य स्थानों में भी हो रहा है। इसके अलावा प्रथम महायुद्ध के पहिले लन्दन के अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान के केन्द्र होने के कारण वहाँ पर अनेकों विदेशी बिल डिस्काउण्ट होने के लिये आते थे। किन्तु उसके बाद से अन्य स्थान भी अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान के केन्द्र बन गये है, जिसके बिलों के डिस्काउण्ट होने का कार्य उनके बीच में बँट गया है। साथ ही संरक्षण की नीति के चालू हो जाने के कारण, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे भी कमी हो गई है जिससे यह बिल भी अब उतने नहीं निकलते जितने पहिले निकलते थे। इसके विपरीत सरकारी साख-पत्रों और बिलों का प्रयोग विभिन्न सरकारों के ऋण के परिमाण में वृद्धि हो जाने के कारण बहुत बढ़ गया है। कहना न होगा कि यह ऋण के परिमाण की वृद्धि प्रथम और द्वितीय महायुद्ध की और उनके बीच के समय की कठिनाइयों को दूर करने के हेतु ही हुई है।

साख के नियंत्रण में बैंक दर का प्रयोग—साख के नियन्त्रण में बैंक दर का प्रयोग पहिले पहिल बैंक आफ इंगलैंड ने सन् १८३९ मे किया था। इसके पहिले बैंक दर ४ अथवा ५ प्रतिशत रहती थी। यदि बाजार की दर ४ प्रतिशत से नीचे गिर जाती थी तो बैंक अपनी दर को चार प्रतिशत से कम नही करता था। जिसका अर्थ यह होता था कि उसके पास डिस्काउण्ट कराने के लिये बिलों का आना रुक जाता था। बैंक को अपनी दर को ५ प्रतिशत से अधिक बढ़ाने का भी अधिकार नहीं था। बात यह थी कि उस समय वहाँ पर अन्याय ब्याज के विरुद्ध एक विधान (Usury law) था। तीन महीनों तक की अवधि पर के बिलों के लिये सन् १८३३ मे इसके बंधन को हटा दिया गया था। इसके कुछ वर्ष बाद ही यह हर अवधि के बिलों पर के लिये भी हटा दिया गया। किन्तु इसके यह अर्थ नहीं है कि बैंक आफ इंगलैण्ड सन् १८३९ के पहिले साख-नियन्त्रण के लिये कुछ नहीं करता था। वह दूसरे तरीकों को प्रयोग मे लाता था। एक तो वह हर प्रार्थी के ऋण की रकम को सीमित करके साख का एक तरह से राशन बाँध देता था। दूसरे जिन बिलों को वह डिस्काउण्ट करने के लिये तैयार रहता था उनकी अवधि को कम कर देता था। सन् १८३९ में बैंक दर पहिले तो ५½ प्रतिशत और फिर ६ प्रतिशत कर दी गई। किन्तु इसके

साथ ही जिन बिलों को वह डिस्काउण्ट करने के लिये तैयार रहता था उनकी अवधि को भी उसने ९५ दिन से घटा कर ३० दिन कर दिया था। किन्तु साख-नियन्त्रण के लिये बैंक दर नीति का अधिकाधिक प्रयोग केवल सन् १८४४ के वैंक विधान के पास हो जाने के बाद ही होना प्रारम्भ हुआ और जैसे-जैसे बैंक ने और कहीं ऋण न मिलने पर स्वयं ऋण देने का दायित्व स्वीकार कर लिया वैसे-वैसे इस दायित्व को निबाहने के लिये उसको साख-नियन्त्रण के पहिले वाले तरीकों को छोड़ना पड़ा। सन् १८४७ में जब एक संकट का समय (Crisis) उपस्थित हुआ तब बैंक को साख नियन्त्रण की इस नई नीति की परीक्षा करने का अवसर प्राप्त हुआ। किन्तु पहिले तो उसने कुछ नहीं किया और चुपचाप बैठा रहा और बाद मे जब उसने इस नीति को अपनाने का प्रयत्न किया तब इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ सका। अतः, सरकार को हस्तक्षेप करना पड़ा और उसने सन् १८४४ के विधान के उस भाग को कुछ दिनों के लिये रद्द कर दिया जिसके द्वारा बैंक एक निश्चित रकम को छोड़कर अन्य के नोट शत-प्रतिशत स्वर्ण रक्खे बिना नहीं चालू कर सकता था। किन्तु इसके प्रयोग की आवश्यकता नहीं पड़ी। केवल इसके पास कर देने से ही सकट टल गया। सन् १८५७ और १८६६ के संकट काल के समय भी इसने शीघ्रता नहीं की, और अपनी दर को उस समय न बढाकर जब साख की अत्याधिक बाढ़ हो रही थी केवल उसी समय ही बढ़ाया जब स्वर्ण का देश से निर्यात होने लगा। अतः, इन दोनों अवसरों पर भी सन् १८४४ के विधान के जिस भाग का ऊपर संकेत किया गया है उसको रद्द करने के लिये प्रबन्ध करना पड़ा और सन् १८५७ के संकट के समय इसको प्रयोग मे भी लाना पडा। हाँ, सन् १८७३ मे जब इसे एक कठिन परिस्थिति का सामना करना पडा तब इसने शीघ्रता की और उसमे इसको सफलता भी मिली। इसके बाद अन्य अवसरों पर भी इसने यही किया और उनमे भी यह सफल रहा। सन् १८९० मे एक तरफ तो इसने अपनी दर को बढाकर साख के अत्याधिक फैलाव को रोका और दूसरी तरफ अन्य अंग्रेजी बैंकों और अर्थ सम्बन्धी संस्थाओं के सहयोग से बारिंग ब्रदर्स के जो फेल हो चुके थे देने को उनके पकने पर देने का विश्वास दिलाया। इससे न केवल जनता का भय दूर हो गया बल्कि बैंक की मर्यादा भी काफी बढ़ी। किन्तु धीरे-

धीरे साख-नियन्त्रण के अन्य तरीके भी प्रयोग में आने लगे जैसे लन्दन के बाजार मे उधार लेना, किसी हद तक स्वर्ण के क्रय-विक्रय के अपने दर को बढ़ाना और घटाना तथा फ्रान्स और रूस मे साख का प्रबन्ध करना और उसको स्वीकार करना। तथापि प्रथम महायुद्ध के पहिले और विशेषत: सन् १८४४ के विधान के पास हो जाने के बाद तक साख-नियन्त्रण का मुख्य तरीका बैंक दर नीति ही रहा। कहना न होगा कि अन्य केन्द्रीय बैंकों ने भी बैंक आफ इंगलैंड के नियंत्रण संबंधी अनुभव से लाभ उठाया किन्तु इसका और कही भी इतने ज़ोर से और इतनी जल्दी-जल्दी प्रयोग नहीं हुआ। लूवेट के कथन के अनुसार जब कि बैंक आफ इंगलैंड ने सन् १८७५ और १९०० के बीच मे इसका १६७ बार उपयोग किया, बैंक आफ फ्रान्स ने केवल २५ बार और रीश बैंक (जर्मनी के केन्द्रीय बैंक) ने केवल ८४ बार इसका उपयोग किया। इसके कई कारण थे :—(१) लन्दन के स्वर्ण के एक स्वतन्त्र बाज़ार होने के कारण वह विदेशी पूँजी की लागत के लिये बहुत ही उपयुक्त स्थान माना जाता था। अत:, जब कभी कहीं भी गडबड़ मचती थी और वहाँ की पूँजी लन्दन से निकाली जाती थी तब लन्दन मे अवश्य कठिनाई उत्पन्न हो जाती थी। (२) ब्रिटिश साख की रचना की तुलना में इस समय बैंक आफ इगलैंड का स्वर्ण कोष बहुत ही थोड़ा रहता था। (३) ब्रिटिश पूँजी के विदेशों में लगने के कारण ग्रेट ब्रिटेन के बैंकिंग के साधनों पर बराबर बोझ पड़ता रहता था और उसका यह प्रभाव होता था कि कभी-कभी अत्याधिक लागत लग जाती थी तथा उत्पत्ति और व्यापार सीमा का उलंघन कर जाते थे जिससे सट्टेबाज़ी बढ़ जाती थी। यह केवल बैंक दर को ही बढाकर और कभी-कभी तो अत्याधिक बढ़ाकर ही रोकी जा सकती थी।

बैंक दर नीति साख का नियन्त्रण तभी कर सकती है जब केन्द्रीय बैंक के डिस्काउण्ट की दर के परिवर्तन से द्रव्य के अन्य दरों मे भी उसी अनुपात से परिवर्तन हो। इगलैंड मे द्रव्य की विभिन्न दरों के बीच में एक बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध था। बैंक दर प्राय: बाजार के डिस्काउण्ट की दर से कुछ ऊँचा रहा करता था। यह एक प्रकार से दण्ड देनेवाली दर थी। अत:, बाज़ार वाले बैंक से उसी समय ऋण लेते थे जब उनको और कही ऋण नहीं मिलता था। साथ ही बैंक का यह सबसे

नीचा दर था। इस पर बैंक केवल सर्वोच्च बिलों को ही डिस्काउण्ट करने के लिये तैयार रहता था। निम्न श्रेणी के बिलों को डिस्काउण्ट करने के लिये यह और ऊँची दर लगाता था। बैंक जमानतों पर जो ऋण देता था उन पर भी इससे ½ प्रतिशत ऊँची दर लेता था। बैंक दर के परिवर्तन पर बाजार के डिस्काउण्ट के दर मे भी परिवर्तन होता था। बैंक सात दिन की सूचना की शर्त पर जो जमा प्राप्त करते थे उस पर जो व्याज देते थे उसकी दर प्रायः इस दर से १½ प्रतिशत कम रहती थी। सन् १९२१ मे तो यह अन्तर २ प्रतिशत तक का हो गया था। माँग पर वापिस होने वाले ऋणों पर की व्याज की दर प्रायः जमा के व्याज की दर से ½ प्रतिशत अधिक होती थी। फिर बैंक अन्य ऋणों के सम्बन्ध मे अपने ग्राहकों से जो व्याज लेते थे उसकी दर बैंक दर से प्रायः एक प्रतिशत ऊँची होती थी और कम से कम ५ प्रतिशत अवश्य होती थी। कभी-कभी यह क्रम नहीं चलता था, किन्तु प्रायः यही रहता था। किन्तु अन्य देशों में यह सम्बन्ध इतना निश्चित नही रहता था। अतः, वहाँ की बैंक दर नीति साख-नियन्त्रण म इतनी सफल नही होती थी। जिन परिस्थितियों मे कोई केन्द्रीय बैंक साख का नियन्त्रण कर सकता है उनका अध्ययन तो हम पहिले ही कर चुके है, और यह भी स्पष्ट है कि इंगलैण्ड को छोड़कर किसी भी दूसरे देश मे वह परिस्थितियाँ सम्पूर्ण रूप से नही पाई जाती।

जब सन् १९१४ मे फेड्रल रिज़र्व बैंकों ने कार्यारम्भ किया था तब उन्होंने बैंक आफ इंगलैण्ड के साख-नियन्त्रण के तरीकों का अवलम्बन करना चाहा था और न्यूयार्क मे एक बहुत ही उन्नत द्रव्य के बाज़ार की सस्थापना का निरन्तर प्रयत्न किया था। इसमे संदेह नहीं कि वे इसमे बहुत अंशों तक सफल भी हो गये थे। किन्तु उनके यहाँ के बैंक दर और बाज़ारू दरों का सम्बन्ध कुछ भिन्न परिस्थितियों के कारण भिन्न था। ग्रेट ब्रिटेन मे बैंक बैंक आफ इंगलैड से सीधे ऋण की याचना नही करते थे। आवश्यकता के समय वह जो करते थे वह इस प्रकार था कि वे बिल के दलालों से और अन्य ऋण लेने वालों से अपने माँग पर वापिस होने वाले ऋणों को माँग लेते थे और साथ ही उनके बिलों को डिस्काउण्ट करना बन्द कर देते थे। इसका स्वाभावतः यह फल होता था कि बाज़ार वाले बैंक आफ इंगलैड से सहायता माँगते थे और वह उनसे यथोचित व्यवहार करता था। इसके

विपरीत सयुक्त राष्ट्र-अमेरिका में रिज़र्व बैंकों के सदस्य बैंक सीधे रिज़र्व बैंक के साथ काम करते थे। फिर, जब कि इंगलैंड में बैंक आफ इंगलैंड से ऋण प्राप्त करने का सबसे नीचा दर बैंक दर था सयुक्त राष्ट्र अमेरिका में यह बात नही थी। डिस्काउण्ट की दर के अतिरिक्त फेड्रल रिजर्व बैंक अन्य बैंकों के द्वारा स्वीकृत हुये बिलों के क्रय की एक अन्य दर भी घोषित करते थे जो बिलों के बाज़ार की सहायता करने के और उनको बनाये रखने के उद्देश्य से डिस्काउण्ट की दर से नीची और प्रायः बाज़ार की दर के बराबर होती थी। अतः, जब कि सदस्य बैंक रिज़र्व बैंकों से ऊँचे दर पर अपने व्यापारिक साख-पत्रों को डिस्काउण्ट कराते थे बाजार वालों के बैंकरों द्वारा स्वीकृत किये हुये बिलों को वह नीची दर पर खरीद लेते थे। इसका यह फल होता था कि वहाँ पर साख-नियन्त्रण के लिये बैंक दर नीति उतनी कारगर नहीं होती थी जितनी ग्रेट ब्रिटेन में होती थी। तीसरे, जब से फेड्रल रिज़र्व बैंक स्थापित हुये है तब से वहाँ पर स्वर्ण कोष की बाहुल्यता रही है जिससे वह करन्सी के प्रसार के लिए काम मे आता रहा है। इन सब कारणों के साथ-साथ कुछ अन्य कारण भी थे, जैसे वहाँ पर सट्टेबाज़ी की अत्याधिक सुविधा और वहाँ के लोगों का उसके प्रति अत्यधिक झुकाव। फिर, रिज़र्व बैंकों को बैक दर निर्धारित करने की उतनी स्वतन्त्रता भी नही है जितनी बैंक आफ इंगलैंड को है। ऐसे अनेकों उदाहरण हैं, जब रिज़र्व बैंकों की प्रार्थना पर बोर्ड ने बैंक दर बढाने की अनुमति नहीं प्रदान की।

प्रथम महायुद्ध के काल में और उसके बाद भी अनेकों अवसरों पर केन्द्रीय बैंक बैंक दर नीति का पालन केवल इसलिए नहीं कर सके कि उनको सरकार की अर्थ-सम्बन्धी आवश्यकताओं का ध्यान रखता था। किन्तु जैसे ही अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण मान अपना लिया गया और केन्द्रीय बैंक अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करने के लिये मुक्त हो गये वैसे ही साख-नियन्त्रण के लिये बैंक दर नीति का फिर से अधिकाधिक प्रयोग होने लगा। हाँ, साख नियन्त्रण के अन्य तरीकों जैसे बाज़ार मे खुले तौर पर काम करना, अपना नैतिक प्रभाव डालना, इत्यादि की अपेक्षाकृत इसका प्रयोग घटता गया। हम इस बात को तो देख ही चुके हैं कि बिलों की कमी क्यों पड़ने लगी थी और केन्द्रीय बैंक उनके स्थान पर सरकारी बिलों और साख-

पत्रों की जमानत पर ऋण देने मे बैंक दर का किस प्रकार प्रयोग करने लगे थे। किन्तु इससे अधिक लाभ नही हुआ क्योंकि कुछ अन्य परिस्थितियों मे भी परिवर्तन हो चुका था और हो रहा था। एक तो द्रव्य के जितने मुख्य बाजार थे वह सब द्रवित अवस्था मे थे। बात यह थी कि उनके यहाँ के केन्द्रीय बैंकों मे अथवा सरकार के विनिमय सम्बन्धी खातों मे इस समय काफी स्वर्ण कोष था, अतः, उसी से उनके यहाँ करन्सी का काफी प्रसार भी था। दूसरे, सरकारी बिलों की रकम के बढ़ जाने के कारण इस समय केन्द्रीय बैंकों की अपेक्षाकृत सरकार का प्रभाव बाजार पर कही अधिक था। अन्तिम बात यह है कि जब से स्वर्णमान सारे संसार भर से हट गया है तबसे उसके स्थान पर कृत्रिम करन्सी मान चल रहा है। साथ ही आजकल अधिकाश देशों मे स्वाभाविक तौर पर काम होने के स्थान में-योजनाओं के अनुसार काम हो रहा है जिससे मूल्य मे, मजदूरी के दर मे, उत्पत्ति मे और व्यापार मे द्रव्य की दरों के और साख की स्थितियों के परिवर्तन के साथ-साथ योजना के अनुसार ही परिवर्तन हो जाते है। वेजमैन का कथन है कि बैंक दर नीति उसी आर्थिक संगठन मे सफल हो सकती है जिसमे मूल्य, मजदूरी के दर और व्याज के दर प्रायः आवश्यकता के अनुसार स्वाभाविक तौर पर ही कृत्रिम तरीकों से योजना के अनुसार नही बदलते रहते। किन्तु कृत्रिम करन्सी और योजनाओं की प्रणाली के अन्दर ऐसा नहीं होता। अतः, इन परिस्थितियों मे बैंक दर नीति का भी कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

किन्तु प्रायः सभी केन्द्रीय बैंक हर सप्ताह मे अपने-अपने बैंक दर अब भी घोषित करते है। अधिकतर तो उनके विधानों मे ही यह दिया हुआ है कि उनको अपने बैंक दर को निश्चित और घोषित करना पड़ेगा। इससे बैंक दर के आज भी महत्वपूर्ण होने का पता लगता है। पहिले तो इससे यह मालूम हो जाता है कि केन्द्रीय बैंक कुछ विशेष प्रकार के साख-पत्रों की जमानत पर किस दर से ऋण देने के लिये तैयार है। दूसरे, यह इस बात का भी द्योतक है कि ऋण साधारणतः किस दर पर प्राप्त हो सकता है। तीसरे, इससे यह भी पता लगता है कि केन्द्रीय बैंक का देश की साख की स्थिति के विषय मे क्या मत है। कभी-कभी तो इससे वहाँ की

साधारण आर्थिक स्थिति के विषय में भी बैंक के मत का पता चलता रहता है। गिबन के शब्दों मे[1] हम यह कह सकते हैं कि बैंक दर की वृद्धि आर्थिक स्थिति के विकृत रूप की चेंतावनी देती है। एडिस के कथनानुसार[2] यह व्यापारियों के लिये भयसूचक लाल रोशनी का काम करती है और उनको इस बात की चेतावनी देती है कि आगे चलकर उनके ठोकर खाकर गिर जाने की सम्भावना है। इसके विपरीत इसकी कमी हरी रोशनी की द्योतक है जो यह बतलाती है कि रास्ता बिल्कुल साफ है और व्यापार रूपी पोत साव-धानी के साथ आगे बढ़ सकता है।

साख-नियंत्रण के लिए बाज़ार में खुले तौर पर काम करना (Open market operations)—यह तो पहिले ही बतलाया जा चुका है कि बैंक आफ इंगलैण्ड साख-नियन्त्रण के सम्बन्ध मे बैंक दर नीति के साथ-साथ अन्य कई तरीकों का प्रयोग प्रथम महायुद्ध के और उसके बाद के साल के बहुत पहिले से ही करता आ रहा था। अब इन सब में से बाजार मे खुले तौर पर काम करने की नीति (Op‹n market policy) ही धीरे-धीरे विशेष तौर पर प्रधानता प्राप्त करती गई—यहाँ तक कि आज-कल यह बैंक दर नीति के सहायक रूप मे न रह कर स्वय ही एक स्वतन्त्र रीति से प्रयोग मे आने लगी है। इस नीति के यह अर्थ है कि केन्द्रीय बैंक स्वयं ही बाज़ार मे प्रत्यक्ष रूप से उन सब साख-पत्रों का क्रय और विक्रय करने लगे जिनको वह साधारण तौर पर लेता और बेचता है, चाहे वह सरकारी साख-पत्र हों, अथवा जनता के दूसरे साख-पत्र हों, अथवा बैंकों के द्वारा स्वीकृत किये गये बिल हों अथवा व्यापारियों के बिल हों। लेकिन चलन यही है कि बैंक केवल

---

१ 'A rise in Bank rate may be regarded as the amber coloured light of warning of a robot system of finance and economics'—Gibson

२ 'A rise in Bank rate is a danger signal, the red light warning to the business community of rocks ahead on the course in which they are engaged. A fall in it on the other hand may be looked upon as the green light indicating that the coast is clear and that the ship of commerce may proceed on her way with caution'—Addis.

सरकारी साख-पत्रों को ही लेते और बेचते हैं। हाँ, यह लम्बी अवधि और थोड़ी अवधि दोनों के होते हैं। जनता के दूसरे साख-पत्रों को वह कुछ स्पष्ट कारणों से नही छूते। वास्तव में यह सम्भव भी केवल इसी लिये हो सका है कि आज-कल की सरकारों ने बहुत से ऋण ले रक्खे हैं। यह लम्बी अवधि और थोड़ी अवधि दोनों प्रकार के है। ऐसा करने मे बैंक अपनी तरफ से बाजार मे काम करता है, बाज़ार के लोग उसके पास स्वयं नहीं जाते। उनको ऐसा करने की कोई आवश्यकता नहीं होती। बैंक को देश के हित में ऐसा करना आवश्यक मालूम होता है।

किन्तु इस नीति का प्रभाव केवल कुछ विशेप परिस्थितियों मे ही पड़ सकता है। प्रथम तो यह आवश्यक है कि देश की बैंकिंग की प्रणाली बहुत ही उन्नत अवस्था को पहुंच गई हो, अर्थात् लोग अपनी बचत की रक़म अपने पास न रख कर बैंकों मे ही रखते हों। यदि ऐसा नहीं होता तो जब केन्द्रीय बैंक साख-पत्र बेचने लगता है तब उन्हे लोग अपने पास की रक़मों से खरीद लेते है जिससे बैंकों के ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। किन्तु जब उनकी बचत बैंकों मे जमा रहती है तब केन्द्रीय बैंक के द्वारा बेचे गये साख-पत्रों को ख़रीदने के लिये लोग बैंकों से अपनी रकम निकालते हैं और बैंकों के नकद कोष मे इस प्रकार से कर्जा आ जाने पर उनकी साख उत्पादन शक्ति मे भी कमी आ जाती है। यही साख नियन्त्रण है। यह साख-नियन्त्रण उस समय भी नहीं हो पाता जब केन्द्रीय बैंक के द्वारा बेचे हुए साखपत्रों को विदेशी लोग खरीद लेते हैं। दूसरे, बैंकों के नक़द कोप मे वृद्धि होने और कमी पड़ने पर उनकी साख उत्पादन शक्ति पर भी प्रभाव पड़ना आवश्यक है। यदि ऐसा नहीं होता तो साख नियन्त्रण नही किया जा सकता। बहुधा ऐसा होता है कि नकद की वृद्धि पर भी व्यापारिक बैंक साख नहीं बढ़ाते। तीसरे, इसमें केवल यही प्रश्न नही है कि व्यापारिक बैंक केन्द्रीय बैंक की लक्ष्य पूर्ति के लिये तैयार हों, बल्कि यह भी प्रश्न है कि कुछ साहसी लोग काम चलाने के उद्देश्य से ऋण लें और उनका इतना विश्वास हो अथवा उनके पास इस तरह की जमानत हो कि जिस पर बैंक उन्हें उधार दे सकें। यदि यह दोनों बातें नहीं हैं तो बैंकों की इच्छा रहने पर भी साख का प्रसार नही हो सकता। इसी तरह से यदि काम करने वालों को व्यापार

और सट्टे में लाभ दिखाई पड़ता है तो बैंक प्रयत्न करने पर भी शायद साख की माँग में कमी नहीं कर सकते। अन्तिम बात यह है कि बैंकों की जमा की चाल (Deposit velocity) में भी कोई परिवर्तन न हो। स्वाभाविक तौर पर तो व्यापार की वृद्धि से इसमें वृद्धि और उसकी मन्दी से इसमें मन्दी हो जाती है। किन्तु सच बात तो यह है कि उपर्युक्त में से कोई भी बात पूरी तौर से किसी देश में भी नहीं मिलती। लेकिन साधारणतया बाजार में खुले तौर पर काम करने की यह नीति मुख्य-मुख्य देशों में अपना प्रभाव अवश्य रखती है। इसका महत्व यह है कि यह बैंकों की नकदी के कोष बढ़ा अथवा घटा देती है और इन परिवर्तनों से द्रव्य की दरों और साख की स्थितियों में भी परिवर्तन हो जाते हैं जिससे मूल्यों और व्यापारिक स्थितियों में भी आवश्यक उलट-फेर हो जाते हैं। हाँ, यदि कहीं कोई रुकावट पड़ जाती है तो अवश्य इच्छित प्रभाव नहीं पड़ता।

जहाँ तक लन्दन का प्रश्न है वहाँ के क्रिक नामक एक बैंक अर्थशास्त्री ने यह कहा है कि बैंक आफ़ इंगलैंड अपने प्रत्यक्ष काम से वहाँ के नकद कोष को घटा-बढ़ाकर वहाँ के बैंकों की जमा प्रसार और संकुचन बड़े जोरों से और जान-बूझकर कर सकता है और करता है तथा इसी तरह साख के नियन्त्रण में सफल होता है। एम० एच० डी काक ने बैंक आफ़ इगलैण्ड की इस नीति के लक्ष्य के विषय में निम्न बातें बतलाई हैं :—

(१) बैंक दर का प्रभाव उत्पन्न करना अथवा बैंक दर मे परिवर्तन करने के लिये स्थिति पैदा कर देना।

(२) सरकारी द्रव्य की अथवा ऋतु सम्बन्धी गति विधि से द्रव्य के बाजारों में जो हलचल पैदा हो जाती है, उसको रोकना।

(३) स्वर्ण के निर्यात और आयात को रोकना।

(४) नये ऋणों को निकालने और पुराने ऋणों को नये ऋणों में बदलने की अवस्था में सरकारी साख की रक्षा करना।

(५) व्यापार के पुनर्निर्माण में सहायता पहुँचाने के लक्ष्य से सस्ते द्रव्य की स्थितियों को उत्पन्न करना और उनको बनाये रखना।

संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के फेड्रल रिजर्व बैंकों की भी खुले तौर पर बाजार में काम करने की नीति के लक्ष्य के विषय में यही कहा

जा सकता है। हाँ उनके कामों में और उनके इस पर ज़ोर देने तथा इसको करने के स्तर (Standard) मे अवश्य कुछ विशेष अन्तर है।

भारतवर्ष के रिज़र्व बैंक को भी आवश्यकता पड़ने पर इस नीति का प्रयोग करने का अधिकार दिया गया है, और साथ ही जहाँ तक सम्भव हो सका है उन परिस्थितियों को भी उत्पन्न करने का प्रयत्न किया गया है जिनसे इसका यथेष्ट प्रभाव पड़ सकता है। किन्तु अभी तक कोई ऐसा अवसर नहीं आया जब उसने इस नीति का प्रयोग किया हो।

साख नियन्त्रण के अन्य तरीकों का प्रयोग

साख नियन्त्रण के अन्य तरीकों में से कुछ का संकेत तो हम वैक दर नीति के सम्बन्ध मे ही कर चुके हैं। वहाँ पर यह भी बतलाया जा चुका है कि सन् १८३९ के पहिले बैंक आफ इंगलैण्ड (१) प्रत्येक प्रार्थी के ऋण की रकम को बाँध करके साख की राशनिंग कर दिया करता था, और (२) जिन विलों का डिस्काउण्ट करने को तैयार रहता था उनकी अवधि को भी घटा देता था। उसने इस वर्ष साख नियन्त्रण के लिये वास्तव मे बैंक दर नीति के साथ-साथ उपयुक्त दूसरी नीति को भी अपनाया था और डिस्काउण्ट करने वाले विलों की अवधि को ९५ दिन के स्थान पर केवल ३० दिन ही कर दिया था। उसी सम्बन्ध मे हम यह भी देख चुके हैं कि धीरे-धीरे वैक ने साख नियन्त्रण के अन्य तरीकों का भी प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिया था जैसे लन्दन के बाज़ार मे ऋण लेना, स्वर्ण के क्रय और विक्रय की दर को एक विशेष सीमा के अन्दर बढ़ा देना और फ्रांस तथा रूस से उधार लेना अथवा स्वीकार करना। इधर हाल मे कुछ अन्य तरीकों का भी प्रयोग होने लगा है। किन्तु उन सब का अध्ययन करने के पहिले हमको एक बार साख की राशनिंग के तरीके को फिर से भली-भाँति समझ लेना है। बात यह है कि इधर तानाशाही (Fascist) सरकारों ने हाल मे भी इसका काफी प्रयोग किया था। वास्तव मे राष्ट्रीय योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिये ऐसा करना आवश्यक हो जाता है।

साख की राशनिंग—जरमनी ने इसका प्रयोग सन् १९२४ मे

-अपने निउ रैन्टैनमार्क के मूल्य के ह्रास को रोकने के लिये किया था। फिर, वहाँ पर सन् १९२९ में भी यही प्रयोग में लाई गई थी। उस वर्ष यंग योजना के सम्बन्ध की पेरिस की वार्तालाप के कारण वहाँ से द्रव्य का निर्यात प्रारम्भ हो गया था जिससे वहाँ की करन्सी की स्थिति के बिगड़ने की सम्भावना उपस्थित हो गई थी। अतः, उसको इसी नीति के द्वारा साख का नियन्त्रण करके सम्भाला गया था। सन् १९३१ में भी वहाँ पर रीश बैंक ने साख का कोटा (Quota) बाँध करके बड़े-बड़े बैंकों को फेल होने से बचाया था। रूस मे तो यह तरीका वहाँ के सरकारी बैंक की साधारण आर्थिक नीति का प्रायः एक अङ्ग ही बन गया है। कज़नलनबाम (Katzenellen-baum) का कथन है कि केन्द्रीय बैंक का बैंक दर न तो ऋण सम्बन्धी कोष की माँग और भरती (Supply) का सूचक है और न उसकी भरती को ठीक करता है। जहाँ तक रूस के सरकारी बैंक में जमा होने वाले कोष का प्रश्न है उसके सम्बन्ध मे वह एक अन्य सिद्धान्त के अनुसार चलता है अर्थात् जिनको उसकी आवश्यकता होती है उनको वह एक निश्चिन योजना के अनुसार देता है और कभी-कभी जब उनकी माँग उसके पास के कोष की अपेक्षाकृत अधिक हो जाती है तब वह उसको उनके बीच में एक विशेप योजना के अनुसार बाँट देता है। द्वितीय महायुद्ध के काल में प्रजातन्त्र राज्यों में भी इस तरीके का काफी प्रयोग किया गया था।

प्रत्यक्ष कार्यवाही करना और नैतिक प्रभाव डालना (Direct action and moral suasion)—वास्तव में प्रत्यक्ष कार्यवाही करने में नैतिक प्रभाव डालना भी सम्मिलित है। किन्तु एम० एच० डी काक ने इन दोनों के बीच में कुछ अन्तर दिखाने का प्रयत्न किया है। उसके कथन के अनुसार प्रत्यक्ष कार्यवाही करने के अर्थ हैं किसी व्यापारिक बैंक के विरुद्ध कुछ कड़े उपायों का प्रयोग करना और नैतिक प्रभाव डालने के अर्थ हैं उपयुक्त प्रकाश डाल कर अपने लक्ष्य को सिद्ध करना। इसमें केन्द्रीय बैंक का प्रभाव और उसकी स्थिति को समझाने की और उसी के अनुसार काम करा लेने की शक्ति का अधिक महत्व है। केन्द्रीय बैंकों ने इन तरीकों का प्रयोग किसी न किसी रूप में बैंक दर नीति और बाजार में खुले तौर पर काम करने की नीति को अपनाने के साथ-

साथ अथवा उनसे पृथक-पृथक अनेकों वार समय-समय पर किया है। सयुक्त राष्ट्र अमेरिका मे जब जब फेड्रल रिज़र्व बोर्ड ने बैंक दर में परिवर्तन करने की अनुमति नहीं दी और विशेषकर सन् १९२८-२९ मे उसने उसके स्थान पर इन्हीं तरीकों को काम में लाने के लिये इशारा किया था। किन्तु क्लार्क के कथनानुसार हम यह कह सकते है कि फेड्रल रिज़र्व वैकों को इनके प्रयोग का जो अनुभव हुआ है उससे यह ज्ञात होता है कि यह काफी उपयोगी नहीं सिद्ध हुये, अतः, इनका प्रयोग बहुत ही समझ बूझ कर करना चाहिए। हाँ, रीश वैंक ने भी प्रायः इनका प्रयोग किया है और वह इसमे फेड्रल रिज़र्व बैंकों की अपेक्षाकृत अधिक सफल हुआ है। किंतु यह केवल इसीलिये हो सका कि उसमे बहुत कडे उपायों को प्रयोग मे लाने वा भय दिखाया गया था जो कि केवल तानाशाही शासन प्रणाली ही के अन्तर्गत सम्भव है।

न्यूनतम नक़दी केन्द्रीय बैंकों में रखने वाले व्यापारिक बैंकों में परिवर्तन—पाँचवे अध्याय मे जब हम व्यापारिक वैकों के नकद कोप के विपय मे अध्ययन कर रहे थे तब हमने यह देखा था कि कुछ देशों मे इन वैकों को चालू जमा और स्थायी जमा का एक निर्धारित अश अपने यहाँ के केन्द्रीय वैकों मे रखना पड़ता है। इधर केन्द्रीय वैकों ने कभी-कभी इस अंश को घटाने वढ़ाने की शक्ति का भी प्रयोग किया है। पहिले पहिल इसका आविष्कार संयुक्तराष्ट्र अमेरिका मे सन् १९३३ मे हुआ था और फिर इसका संशोधन वहाँ पर सन् १९३५ मे किया गया था। इसके संबंध का जो विधान बना था उसके द्वारा फेड्रल रिज़र्व प्रणाली के शासक मण्डल को साख के हानिकारक प्रसार और सकुचन को रोकने के लिये सदस्य वैकों द्वारा उनके पास उनकी जमा का जो अंश जमा किया जाता है उसको घटाने बढ़ाने का अधिकार दे दिया गया है। वस्तुतः इसका प्रयोग वहाँ पर सन् १९३६ के अगस्त मे किया गया था। उस वर्प जमा होने वाले कोष का अंश पहिले से ड्योढ़ा कर दिया गया। उस समय शासक मण्डल ने यह कहा था कि इसकी अपेक्षाकृत कि पहिले तो यह अत्याधिक कोष साख वनने के काम मे आवे और फिर उसको वापिस लिया जाय यह अधिक श्रेष्ठकर है कि इसके प्रयोग मे आने के पहिले ही इसके एक अंश की उत्पादन शक्ति

को रोक दिया जाय। किन्तु स्वर्ण के बराबर आयात होने के कारण सदस्य बैंकों के कोष बढ़ते रहे और सन् १९३७ के आरम्भ में शासक मण्डल को फिर उनके द्वारा जमा किये जाने वाले कोष के अनुपात को दो किस्तों में बढ़ाना पड़ा जिससे सदस्य बैंकों को अगस्त १९३६ के पहिले जो न्यूनतम जमा रखनी पड़ती थी उससे अब दुगुनी जमा रखनी पड़ने लगी। परंतु सन् १९३८ मे इस जमा किये जाने वाले कोष का प्रतिशत नये प्रतिशत से १२½ प्रतिशत कम कर दिया गया। न्यूज़ीलैन्ड और स्विडेन ने भी इस तरीके का अभी हाल ही मे प्रयोग किया था।

निस्सन्देह साख नियन्त्रण का यह तरीका बहुत ही अच्छा है किन्तु साथ ही इसमें कुछ कठिनाइयाँ भी हैं। प्रथम तो सब बैंकों के कोष एक साथ तथा एक ही मात्रा में नहीं घटते-बढ़ते। अतः, केन्द्रीय बैंकों के उनके यहाँ जमा किये जाने वाले अंश को घटा बढ़ा देने से भिन्न-भिन्न बैंकों पर भिन्न-भिन्न असर पड़ता है। दूसरे, यह तरीका तभी सफल हो सकता है कि जब बाज़ार मे खुले तौर पर काम करने की नीति को सफल बनाने के लिये जिन परिस्थियों का होना आवश्यक है वह सब परिस्थितियाँ इस तरीके को प्रयोग में लाने के लिये भी मौजूद हैं।

साख-पत्रों के मूल्य के उस अंश को घटाना-बढ़ाना जिसके बराबर उनकी बिना पर ऋण दिये जाते हैं—सन् १९३४ के साख-पत्र विनिमय विधान (Securities Exchange Act) के द्वारा फेडूल रिज़र्व प्रणाली को साख नियन्त्रण का एक अन्य तरीका भी बतला दिया गया है, अर्थात् साख-पत्रों के मूल्य के उस अंश को घटाना-बढ़ाना जिसके बराबर उसकी बिना पर ऋण दिये जाते है। जैसा कि स्पष्ट है इसका उद्देश्य साख-पत्रों की सट्टेबाजी को रोकना है। सन् १९३६ में मंडल (Board) ने बैंकों और दलालों के लिये यह आवश्यक कर दिया था कि वह लोग साख-पात्रों की ज़मानत पर अपने ग्राहकों को ऋण देते समय उनके मूल्य की कम से कम ५५ प्रतिशत की गुंजाइश अपने पक्ष में रख ले। फिर, सन् १९३७ के नवम्बर में यह घटा कर ४० प्रतिशत कर दी गई थी। द्वितीय महायुद्ध के समय यह तरीका कई अन्य देशों में भी प्रयोग मे लाया गया था।

विज्ञप्ति—सभी केन्द्रीय बैंक समय-समय पर किसी न किसी रूप मे अवश्य कुछ न कुछ विज्ञप्ति करते रहते है। किन्तु साख नियन्त्रण के लिये इसका प्रयोग जितना संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में हुआ है उतना अन्य किसी भी देश मे नहीं हुआ है। बरगैस के कथनानुसार फेड्रल रिजर्व प्रणाली के अफसरों के वक्तव्यों की साख नियन्त्रण के लिये कभी-कभी तो उतना ही असर पड़ा है जितना कि शायद उनके प्रत्यक्ष दबाव का पड़ता। रीश बैंक ने भी इसका काफी प्रयोग किया है।

केन्द्रीय बैंकों का व्यापारिक चक्र (Bussiness cycles) रोकने की शक्ति

केन्द्रीय बैंकों के साख नियन्त्रण के कार्य के सम्बन्ध मे यह तो पिछले अध्याय मे ही बताया जा चुका है कि इसका एक उद्देश्य व्यापारिक चक्र के प्रभाव को कम करना अथवा उसको बिल्कुल रोक देना भी है। साथ ही हम वहीं पर यह भी देख चुके हैं कि आज कल तो इस साख नियन्त्रण का पहिला उद्देश्य व्यापारिक कार्यों की बराबर स्वाभाविक तौर पर उन्नति करते रहना और तेजी मन्दी (Booms and slumps) को रोकना ही है, अन्य सब बातें तो बाद मे आती हैं। अब, इस बात को समझने के पहिले कि केन्द्रीय बैंक इसमे कहाँ तक सफल हुये है, हमको यह भी समझ लेना चाहिए कि व्यापारिक चक्र, तेजी और मन्दी (Booms and slumps) के क्या अर्थ हैं। जहाँ तक व्यापारिक चक्र के प्रयोग का प्रश्न है वह इस लिये होने लगा है कि व्यापारिक कार्य्यों की जो घट-बढ़ होती है वह एक प्रकार से चक्र ही की तरह की है। वैसले मिचेल ने व्यापारिक चक्र की जो परिभाषा[1] दी है वह कुछ इस आशय की है :—यह व्यापारिक कार्यों का एक क्रमिक प्रसार और संकुचन है। इसमें यह आवश्यक नहीं है कि तेजी और मन्दी का परिवर्तन एक संकट के रूप में हो। इसमें दो

---

1. Business cycle is any single succession of expansion and contraction of business activity, i e. between one period of prosperity and another or between one depression and another, irrespective of whether the transition from prosperity to depression is of the nature of a crisis or merely mild recession.--Wesley Mitchell.

तेजी की भी अवधि हो सकती है और दो मन्दी की भी अवधि हो सकती है। इसी बिना पर एम० एच० डी काक इसमे चार प्रकार की गतिविधि को सम्मिलित करता है, अर्थात् उत्थान (Prosperity), वापिसी (Recession), झुकाव (Depression) और पुन-रुत्थान (Revival)। इनमें से उत्थान की अवधि को तेजी की अवधि (Boom period) और झुकाव की अवधि को मन्दी की अवधि (Slum period) कहते हैं। जहाँ तक इसके कारणों का प्रश्न है वह द्रव्य सम्बन्धी (Monetary) और ग़ैर द्रव्य सम्बन्धी (Non Monetary) दोनों हैं। अतः, द्रव्य सम्बन्धी करण तो पूरी तरह से नहीं कुछ अंशों मे अवश्य ही रोके जा सकते हैं। बात यह है कि उत्थान और प्रसार के समय के बाद जो वापिसी अथवा संकट का समय आता है वह केवल अत्याधिक सट्टेबाज़ी के कारण ही आता है। एम० एच० डी० काक ही के कथन के अनुसार उत्थान के और व्यव-साय की वृद्धि के समय जन-साधारण मे साहस और आशा की भावना स्वाभाविक रूप से ही दृष्टिगोचर होने लगती है। ऐसे समय मे व्यवसाय मे आसानी से लाभ बढ़ाने के लिये व्यवसायी समुदाय अपनी बिक्री और उत्पादन को भी बढ़ाता है और उसके लिये बैंकों की सहायता प्राप्त करना चाहता है। इसका फल यह होता है कि बैंक उत्पादकों और अन्य व्यवसायियों को साख देते है और उत्पादक और व्यवसायी भी अच्छी परिस्थितियों से प्रभावित होकर अपने ग्राहकों को साख देते हैं। अतः, पूँजी की तुलना में व्यवसाय के अनुपात की उपभोग तथा उत्पत्ति के सामान के उत्पादन और व्यापार के परिमाण की उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है और चारों तरफ तेज़ी ही तेज़ी (Boom) दिखाई पड़ने लगती हैं। अब, यह लाभ की वृद्धि का, बढ़ते हुये व्यापार और उत्पादन का, अधिकाधिक सट्टेबाजी का और भूमि, सामान तथा साखपत्रों के मूल्योत्कर्ष का क्रम सदा के लिये तो नहीं बढ़ सकता। कभी न कभी तो विपरीत परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती है और बिल्कुल उल्टा हो जाता है। वास्तव मे सट्टे को रोकना ही चाहिये। इसमें सन्देह नही कि बैंकों के पास जन समुदाय की भावनाओं को रोकने के साधन तो नहीं है किन्तु वह ऐसे साख का नियन्त्रण करके उनके कार्यान्वित होने को तो रोक ही सकते हैं। कहना न होगा कि इससे वापिसी (Recession) भी रुक जाती है।

(६) कोई बैंक अपने ग्राहकों की चेकों को किन-किन परिस्थितियों में भुगतान किये बिना ही वापिस कर सकता है ?

(७) चेकों को भुगतान किये बिना ही वापिस करने पर बैंक प्रायः कौन-कौन से लिख भेजते हैं ? उनको भली भाँति समझाइये।

(८) यदि कोई बैंक किसी चेक को भुगतान किये बिना ही गलती से लौटाल दे तो उसके कौन-कौन से दायित्व हैं ? अपने उत्तर के साथ-साथ उपयुक्त उदाहरण भी दीजिये।

(९) एक स्थानीय (Domiciled) बिल के भुगतान के सम्बन्ध में किसी बैंक के कौन-कौन से दायित्व हैं ? ऐसे बिलों को किन-किन परिस्थितियों में तिरस्कृत किया जा सकता है।

(१०) एक रेखाङ्कित चेक की वसूली के सम्बन्ध में उसके वसूल करने वाले बैंक को कौन-कौन से अधिकार और दायित्व हैं ? इस सम्बन्ध में उसे जो वैधानिक बचत दी गई है, उसे स्पष्ट कीजिये।

(११) रेखाङ्कन से आप क्या समझते हैं ? उसके भिन्न-भिन्न रूपों को बताइये। रेखाङ्कन का क्या उद्देश्य है ?

(१२) बैंकर के स्वत्व (Lien) से आप क्या समझते हैं ? इस सम्बन्ध मे साधारण स्वत्व और विशेप स्वत्व के अन्तर को बताइये।

(१३) बैंकों को किन विशेष प्रकार के ग्राहकों से काम करना पड़ता है ? उनको इनसे काम करने में किन बातों का ध्यान रखना चाहिये ?

अध्याय १०

ऋण के लिये बैंकों की उपयुक्त ज़मानतें

यह तो हम पहिले ही देख चुके हैं कि बैंक केवल अच्छी जमानतों के आकार पर ही ऋण देते है। वास्तव मे इनके अनेकों रूप हैं। उनकी जो जोखिमे हैं उनको समझने के लिये हमको उनमें से प्रत्येक के विषय मे बहुत ही अच्छी जानकारी प्राप्त कर लेनी चाहिये। बैंकों को किसी प्रकार की ज़मानत पर भी काम करने के

समय बहुत ही सावधान रहना चाहिये। उनको न केवल यही देखना चाहिये कि जमानतें मूल्य की पक्की और शीघ्र ही बिक जाने वाली हैं वरन् यह भी देखना चाहिये कि उन पर के अधिकार अरक्षित नहीं होंगे।

बिना ज़मानत के ऋण (Clean advances)

कई बार जब कोई ग्राहक बहुत ही ऊँची साख का होता है और उसकी आर्थिक स्थिति भी बहुत अच्छी होती है तब उसको केवल उसकी वैयक्तिक जमानत पर ही ऋण मिल जाता है अथवा उसके खाते में से उसको जमा की हुई रकम से अधिक रकम निकाल लेने का अधिकार प्रदान कर दिया जाता है। ऐसी अवस्था में बैंकर केवल उसकी ईमानदारी, चाल-चलन और उद्यत तथा व्यापाराना ढङ्ग पर ही भरोसा रखता है। हाँ, कभी-कभी अपनी बचत के ध्यान से वह उसके लिखे हुए प्रण-पत्र पर किन्हीं एक अथवा दो स्वतन्त्र व्यक्तियों के हस्ताक्षर भी ले लेता है, जिससे उस ऋण के सम्बन्ध की उनकी भी वैयक्तिक जमानत हो जाती है। किन्तु समय पर ऋण की वसूली न होने पर मुख्य देनदार तो ऋण लेने वाला व्यक्ति ही होता है। बैंकर को जामिन के प्रति अपने अधिकारों का तभी प्रयोग करना चाहिये जब उसकी पूरी रकम देनदार की स्वयं की सम्पत्ति से न वसूल हो सके। ऐसे ऋणों को बिना जमानती ऋण (Clean advances) कहा जाता है।

अब उपर्युक्त जमानत जारी रहने वाली (Continuing) और विशेष (Specific) भी हो सकती है। जारी रहने वाली जमानत की अवस्था में जमानत करने वाला व्यक्ति एक विशेष रकम तक चाहे वह कितनी बार ही क्यों न ली दी जाय, दायी रहता है और विशेष जमानत की अवस्था में वह केवल एक ही बार दी हुई रकम पर दायी रहता है। मान लीजिये कि 'अ' पाँच सौ रुपये का ऋण लेता है, और कुछ ही दिनों बाद वह २०० रु० वापिस कर देता है, किन्तु फिर १०१ रु० ले लेता है। अब, उस पर ४०० रु० की बाकी बची है। अतः, जारी रहने वाली जमानत में जमानत करने वाला व्यक्ति ४०० रु० के लिये दायी है और वह उस २०० रु० का लाभ नहीं उठा सकता जो 'अ' ने पहिले वापिस किये थे। हाँ, विशेष

ज़मानत में वह ३०० रु० के लिये दायी होगा क्योंकि २०० रु० तो 'अ' ने वापिस कर दिये थे। इस अवस्था में उससे उन १०० रु० से कोई मतलब नहीं है जो 'अ' ने बाद में फिर लिये थे। जमानत करने वाला व्यक्ति जब ज़मानत की रकम दे देता है तब वह उस रकम को मुख्य देनदार से वसूल कर सकता है।

अतिरिक्त ज़मानत (Collateral Securities)

उधार लेने वाले व्यक्तियों को उधार रकम के सम्बन्ध में प्रायः कुछ अतिरिक्त ज़मानत भी जमा करनी पड़ती है। अतिरिक्त ज़मानत किसी भौतिक पदार्थ की अथवा उनके सम्बन्ध के अधिकार-पत्रों की हो सकती है। यह ज़मानत वैयक्तिक ज़मानत के अतिरिक्त होती है और इसीलिये अतिरिक्त जमानत कहलाती है। वास्तव में इनको बेचकर ऋण की वसूली तभी की जा सकती है जब देनदार उसको वैसे ही देने से इन्कार कर दे अथवा न दे। यह अतिरिक्त जमानत स्वत्व (Lien) के अथवा गिरवी (Pledge) के अथवा रेहन (Mortgage) के रूप मे हो सकती है।

स्वत्व में ज़मानत को अपने पास रोक रखने का अधिकार है, उसको बेचा नहीं जा सकता। हाँ, यदि ऐसा करना है तो पहिले अदालत से डिक्री प्राप्त करनी पड़ती है और फिर उस डिक्री में उस चीज़ को कुर्क करवाना पड़ता है और तब बेचा जा सकता है। किन्तु पूर्ण रूप से अच्छा अधिकार देने वाले पत्रों की ज़मानतों में जैसे देखनहार बाण्ड, शेयर वारण्ट, स्टाक और सर्टीफिकेट, देखनहार और रजिस्टर्ड ऋण-पत्र, विनिमय के बिल, प्रण-पत्र और चेकों मे बैंक के स्वत्व मे देनदार को उचित सूचना देकर इनको बेच लेने का भी अधिकार है। जहाँ तक अन्य अधिकार-पत्रों का प्रश्न है उनमे अवश्य यह अधिकार नहीं है। उनको केवल रोका जा सकता है।

गिरवीं की हालत में बैंकर को ज़मानतों को रोकने और फिर उचित सूचना देकर बेचने का भी अधिकार है। अतः, स्वत्व और गिरवीं में पूर्ण रूप से अच्छा अधिकार देने वाले पत्रों को छोड़कर शेष में यही अन्तर है कि जब एक मे ज़मानत की वस्तुओं को केवल रोका ही जा सकता है, दूसरे मे उसको बेचा और रोका दोनों जा

सकता है। इसका यह निष्कर्ष है कि गिरवीं स्वत्व से अधिक अच्छा है।

जब जमानत अचल सम्पत्ति की दी जाती है तब उसका रेहन करवाना पड़ता है। इसमें स्वत्व और गिरवीं के विपरीत जमानत की वस्तु का कब्जा लेनदार का नहीं हो जाता। वह या तो देनदार का ही रहता है अथवा देनदार जिसको चाहता है उसका रहता है। इसमें प्रायः स्वामित्व अवश्य हस्तान्तरित हो जाता है। स्वत्व और गिरवीं में जैसा कि हमको मालूम है क़ब्ज़ा तो प्रायः बदल जाता है किन्तु स्वामित्व नहीं बदलता। किन्तु यहाँ पर जो कुछ रेहन के विषय में कहा गया है वह केवल वैधानिक रेहन (Legal Mortgage) के लिये ही लागू है। वास्तव मे रेहन कई प्रकार के होते है, किन्तु यहाँ पर हमें केवल वैधानिक रेहन (Legal Mortgage) और सादे रेहन (Equitable Mortgage) के विषय में ही समझना है। वैधानिक रेहन रेहननामे के आधार पर होता है जिसको लिखने के लिये एक सरकारी कागज का प्रयोग किया जाता है और जो रेहन के रजिस्ट्रार के पास रजिस्टर्ड करवाया जाता है। इसके विपरीत सादा रेहन (Equitable Mortgage) मे केवल अधिकार-पत्रों को अकेले ही अथवा एक स्मरण-पत्र (Memorandum) के साथ अथवा केवल स्मरण-पत्र (Memorandum of Charge) को ही जिसके पास रेहन रक्खा जाता है उसको सौंप दिया जाता है। अतः, दोनों में यह अन्तर है कि जब कि पहिले में रेहन की सम्पत्ति का स्वामित्व जिसके पास वह रेहन की जाती है उसका हो जाता है और इसी से ऋण की अदायगी न होने पर उसको उसे बेच लेने का अधिकार रहता है, दूसरे मे ऐसा नहीं हो पाता। इसमें जिसके पास रेहन रक्खा जाता है उसे पहिले अदालत की शरण लेनी पड़ती है, और उसकी आज्ञा प्राप्त करने के बाद ही वह उसको बेच सकता है। सादा रेहन (Equitable Mortgage) भारतवर्ष मे केवल कलकत्ते, मद्रास, बम्बई, कराची और उन शहरों में ही किया जा सकता है जिनको गवर्नर जनरल समय-समय पर गजट मे निकालता है। वैधानिक रेहन मे भी ऋण की अदायगी के बाद रेहन रखने वाले को रेहन रक्खी हुई सम्पत्ति को फिर से स्वामित्व प्राप्त हो जाता है।

रेहन रखने वाले के इस अधिकार प्राप्ति के दावे को छुटकारे का दावा (Equity of Redemption) कहा जाता है।

अतिरिक्त ज़मानतों के विभिन्न रूप

अतिरिक्त जमानते विभिन्न रूप की हो सकती हैं जो निम्नाङ्कित है :—

(१) स्टाक एक्स्चेञ्ज में बिकने वाले पत्र

इनमे सरकार के और कम्पनियों के दोनों के पत्र आ जाते है। ये (अ) पूर्ण रूप से अच्छा अधिकार देने वाले हस्तान्तरित होने वाले (Fully Negotiable Convertible) और (व) अच्छा अधिकार न देने वाले हस्तान्तरित न होने वाले (Non-negotiable Inconvertible) दोनों होते है। हस्तान्तरित न होने वाले स्टाक फिर से रजिस्टर मे स्वयं हस्ताक्षर करने पर हस्तान्तरित होने वाले (Inscribed) और हस्तान्तर-पत्र (Transfer deed) भरकर हस्तान्तरित होने वाले (Registered Stocks and Shares) स्टाकों मे विभाजित किये जा सकते है। पूर्ण रूप से अच्छा अधिकार देने वाले स्टाक दूसरों को देकर अथवा वेचान करके हस्तान्तरित किये जा सकते है। हस्तान्तरित न होने वाले वह स्टाक जो रजिस्टर मे स्वयं हस्ताक्षर करने पर हस्तान्तरित किये जा सकते है (Inscribed) वह हैं जिनको हस्तान्तरित करने के लिये हस्तान्तरकर्ता को स्वयं कम्पनी मे जाकर अथवा अपने किसी प्रतिनिधि को भेजकर कम्पनी के रजिस्टर में हस्ताक्षर करना पड़ता है। अतः, यह दूसरों को देकर अथवा वेचान करके हस्तान्तरित नहीं किये जा सकते। इसलिये इनके रेहन रक्खे जाने पर वैकर को इन पर अपना पूरा अधिकार प्राप्त करने के लिये इनके मालिक से इनके हस्तान्तरित किये जाने के प्रमाण स्वरूप कम्पनी के रजिस्टरों मे हस्ताक्षर करवा लेने चाहिये। जहाँ तक हस्तान्तर-पत्र को भरकर हस्तान्तरित होने वाले स्टाकों (Registered stocks) का प्रश्न है उनके हस्तान्तर होने का प्रमाण उनको निकालने वाली कम्पनी एक मुहरवन्द प्रमाण-पत्र दे-

कर देती है और वह वैधानिक तौर से (Legal transfer) अथवा सादे तौर से (Equitable charge) हस्तान्तरित किये जा सकते हैं। वैधानिक तौर से हस्तान्तरित करने के लिये (Legal transfer) एक हस्तान्तर-पत्र लिखना अथवा लिखकर मोहर करवाना पड़ता है और जब उसका प्रमाण-पत्र (Certificate) हस्तान्तर-पत्र के सहित कम्पनी के पास पहुँच जाता है तब वह उसके अधिकारी के स्थान पर बैंकर का नाम दर्ज करके बैंकर को एक दूसरा प्रमाण-पत्र (Certificate) भेज देती है। इसके विपरीत सादे तौर से हस्तान्तरित करने के लिये (Equitable charge) प्रमाण-पत्र (Certificate) को जमा करने के एक स्मरण-पत्र (Memorandum of deposit) के सहित अथवा उसके बिना अथवा हस्तान्तरित करने के एक स्मरण-पत्र (Memorandum of transfer) के सहित अथवा उसके बिना तथा एक सादे हस्तान्तर-पत्र पर हस्ताक्षर करके बैंकर के पास जमा कर देना पड़ता है। जब प्रमाण-पत्र (Certificates) जमा किये जाते हैं तब उनके साथ प्रायः जमा का एक स्मरण-पत्र (Memorandum of deposit) और हस्ताक्षर किया हुआ एक सादा हस्तान्तर-पत्र (Duly Executed Blank Transfer) अवश्य रहता है। बात यह है कि जब इससे बैंकर के लिये यह सुविधा हो जाती है कि जब उसकी ऋण की रकम वसूल नहीं होती तब वह हस्ताक्षर किये हुये सादे हस्तान्तर-पत्र को भरकर स्टाकों को कम्पनी को सूचना देकर अपने नाम मे हस्तान्तरित करवा लेता है। इसके विपरीत जब केवल प्रमाण-पत्र ही जमा रहते हैं अथवा उनके साथ जमा का स्मरणपत्र भी होता है, तब उधार की रकम के न मिलने पर बैंकर देनदार को बुलवाकर उससे स्टाकों को वैधानिक तौर से हस्तान्तरित करने को कहता है और उसके ऐसा न करने पर अदालत से उनके हस्तान्तर करने की और बेचने की आज्ञा प्राप्त करता है। कहना न होगा कि इसमें उसको बहुत असुविधा होती है। अतः इस तरह की जमानत प्रायः चालू नहीं है।

स्टाक एक्सचेञ्ज में बिकने वाले पत्र

- पूर्ण रूप से अच्छा अधिकार देने वाले स्टाक—हस्तान्तरित होने वाले स्टाक (इनको दूसरों को देकर अथवा बेचान करके हस्तान्तरित किया जा सकता है)
- पूर्ण रूप से अच्छा अधिकार न देने वाले स्टाक-हस्तान्तरित न होने वाले स्टाक
  - रजिस्टर में स्वयं हस्ताक्षर करने पर हस्तान्तरित होने वाले स्टाक (Inscribed stocks) इनको दूसरों को देकर अथवा बेचान करके हस्तान्तरित नहीं किया जा सकता। इनके अधिकारी को स्वयं अथवा किसी प्रतिनिधि से कम्पनी के रजिस्टरों में हस्ताक्षर करवाने पड़ते हैं।
  - हस्तान्तर-पत्र भरकर हस्तान्तरित होने वाले स्टाक (Registered stocks and shares)
    - वैधानिक तौर से हस्तान्तरित होना (Legal transfer)—इसमे हस्तान्तर-पत्र भरकर कम्पनी मे भेजना पड़ता है।
    - सादे तौर से हस्तान्तरित होना (Equitable charge)

इसमे प्रमाण-पत्र जमा के अथवा हस्तान्तर करने के स्मरण-पत्र के साथ अथवा किसी ऐसे पत्र के बिना ही और एक सारे हस्ताक्षर किये हुये हस्तान्तर-पत्र के साथ रख दिया जाता है।

गुण—(१) ये आसानी से और शीघ्रतापूर्वक वसूल किये जा सकते हैं।

(२) इनकी वास्तविक बाजारू कीमत आसानी से मालूम की जा सकती है।

(३) इनकी कीमत बहुत नहीं घटती-बढ़ती।

(४) इनके स्वामित्व में कोई झगड़ा नहीं होता। अतः, यह आसानी से बेचे जा सकते हैं।

(५) पूर्ण रूप से अच्छा अधिकार देने वाले स्टाकों के सम्बन्ध में यदि उनको अच्छी नीयत से और उनकी पूरी कीमत चुकाकर प्राप्त किया गया है तो बैंकर के पास उनका अच्छा अधिकार रहता है, और जब तक उसके ऋण की रकम का भुगतान नहीं हो जाता वह उनको प्रत्येक व्यक्ति के विरोध में भी अपने पास रख सकता है।

(६) यदि बैंकर को द्रव्य की आवश्यकता पड़ती है तो वह इनको केन्द्रीय बैंक मे रखकर इन पर ऋण प्राप्त कर सकता है।

दोष—(१) जिन हिस्सों अथवा ऋण-पत्रों पर आंशिक भुगतान हुआ है उन पर कुछ और भुगतान माँगा जाने पर बैंकर को उस भुगतान को देना पड़ सकता है, क्योंकि भुगतान के न पहुँचने पर उनके जब्त हो जाने का डर रहता है।

(२) कुछ कम्पनियों की यह शर्त होती है कि हिस्सेदार के ऊपर कम्पनी की कोई भी रकम बाकी रहने पर वह उसके हिस्से से वसूल की जायगी। यदि ऐसा है और बैंकर को यह नहीं मालूम है कि हिस्सेदार के ऊपर कम्पनी की कोई रक़म चाहिये तो बाद में अपनी रकम वसूल करते समय उसको यह मालूम होने पर कि पूरी रकम वसूल नहीं की जा सकती उसे हानि हो सकती है।

(३) जब यह पूर्ण रूप से अच्छा अधिकार देने वाली हस्तान्तरित होने वाली नहीं होती तब इनके हस्तान्तर करवाने में बड़ी कठिनाई पड़ती है। ऐसी अवस्था में बैंकर का अधिकार हस्तान्तरकर्ता के अधिकार की ही तरह का होता है, और उसके दूपित होने पर उसका अधिकार भी दूषित हो जाता है।

सावधानियाँ—स्टाक एक्सचेंज मे बिकने वाले पत्रों की जमानतों के सम्बन्ध मे यदि निम्न बातों का ध्यान रक्खा जाय तो उनके सब दोष दूर हो सकते हैं।

(१) यथा सम्भव गुञ्जाइश देनी चाहिये। जब कभी भी मूल्य गिर जाय और अधिक जमानत माँग लेनी चाहिये।

(२) आंशिक भुगतान वाले हिस्सों और ऋण-पत्रों को कभी नहीं लेना चाहिये।

(३) अच्छा अधिकार न देने वाले पत्रों की अवस्था में पहिले से हस्तान्तर करवा लेना चाहिये।

(४) सट्टे वाले हिस्सों को नहीं लेना चाहिये।

[२] अच्छा अधिकार देने वाले पुरज़े

हमको यह तो ज्ञात ही है कि विनिमय के बिलों को बैंकों से भुनवाया जा सकता है। अतः, जब वह ऐसा करते है तब उन पर उन्हे पूरे अधिकार मिल जाते हैं जिससे वे उनको बेच भी सकते हैं और दूसरों से फिर से भुना भी सकते है। हाँ, यदि यह गिरवीं रक्खे जाते हैं तो बैंकर ऐसा नहीं कर सकता। उसे इन्हें इनके पकने तक अपने पास रखना ही पड़ता है। अतः, बैंकर के विचार से तो इनको उसके हाथ बेच देना ही अच्छा है, गिरवीं रखना नहीं।

गुण–(१) यदि बैंकर ने इनको अच्छी नीयत से प्राप्त किया है तो उसका इन पर अच्छा अधिकार ही रहता है।

(२) इनका मूल्य निर्धारित रहता है।

(३) इनको फिर से भुनाया जा सकता है।

(४) इनके पकने पर द्रव्य का मिलना निश्चित है।

दोष–इनके पकने पर बैंकर को इनकी वसूली करनी पड़ती है।

सावधानियाँ—जहाँ तक हो सके इनको भुना दिया जाय गिरवी न रक्खा जाय।

[३] माल अथवा माल के अधिकार-पत्र

जब माल बैंकर के यहाँ गिरवी रक्खा जाता हैं तब या तो वह उसी के गोदाम में ले आया जाता है या उधार लेने वाले के पास ही छोड़ दिया जाता है। यदि वह उधार लेने वाले के पास ही छोड़ दिया जाता है तो उसके गोदाम की तालियाँ अवश्य बैंकर को ही दे दी जाती है। दोनों ही स्थितियों में माल का बीमा कराना पड़ता है और उसका खर्च उधार लेने वाले को देना पड़ता है। जब माल बैंकर के गोदाम मे रक्खा जाता है तब वह उसका किराया भी ले लेता है। माल के अधिकार-पत्रों को भी गिरवीं रक्खा जा सकता

है। इन में जहाजी बिल्टी (Bill of lading) डाक पत्र (Dock-warrant), गोदाम वालों के प्रमाण-पत्र (Warehouse keeper's certificates) घटवारे का प्रमाण-पत्र (Wharfinger's certificate), रेल की बिल्टी (Railway Receipt), माल देने के लिये आदेश-पत्र तथा ऐसे ही कोई अन्य कागजात जो माल के स्वामित्व को हस्तान्तरित करने में काम में आये जाते है सम्मिलित हैं।

गुण--(१) माल और माल के सम्बन्ध के कागजात एक प्रकार से स्वयं वास्तविक वस्तु हैं अथवा उनके प्रतिनिधि हैं, अतः, जमानत के लिये बहुत अच्छे हैं।

(२) इनके मूल्य बहुत नहीं घटते-बढ़ते।

(३) इनको बहुत आसानी से बेचा जा सकता है।

(४) इनकी जमानत पर जो ऋण दिया जाता है उसके अवश्यमेव भुगतान होने की सम्भावना रहती है। बात यह है कि वह द्रव्य इन्हीं के क्रय के लिये लिया जाता है और इन्हीं के विक्रय पर वापिस कर दिया जाता है।

(५) इनका मूल्य आसानी से मालूम हो जाता है।

दोष—(१) माल खराब हो सकता है।

(२) इनके मूल्य में दैनिक परिवर्तन होता है। हाँ, यह परिवतन बहुत अधिक नहीं होता।

(३) कभी-कभी एक ही माल कई किस्म का होता है। अतः इसमे धोखा दिया जा सकता है।

(४) कुछ माल को रखने में बहुत जगह की आवश्यकता पड़ती है।

(५) इसमें चोरी हो जाने की भी बड़ी आशंका रहती है।

(६) इनको देनदार थोड़ी-थोड़ी रकम देकर थोड़े-थोड़े परिमाण मे उठाता रहता है। अतः, माल देने में गलती हो सकती है।

(७) माल सम्बन्धी अधिकार-पत्रों में जालसाजी की बड़ी गुञ्जाइश रहती है।

भारतवर्ष में इनके प्रिय न होने के कारण—(१) यहाँ पर लाइलेन्स प्राप्त गोदाम नहीं के बराबर हैं।

(२) प्रायः माल की उचित किस्में निर्धारित नहीं हैं और जहाँ पर ऐसा है भी वहाँ पर उनका उचित ध्यान नहीं रक्खा जाता।

(३) बहुत-सी जगहों मे बहुत-सी चीजों के संगठित बाजार नहीं हैं। अतः, उनके मूल्य का पता लगाने मे असुविधा होती है।

सावधानियाँ—(१) जिस माल के खराब हो जाने की अधिक सम्भावना है उसको नहीं रखना चाहिये और यदि वह रक्खा भी जाय तो उसका बीमा करवा लेना चाहिये। जहाँ तक माल के खराब हो जाने का डर है, सोना-चाँदी खराब नहीं होता है, अतः वह सर्वोत्तम है।

(२) माल के मूल्य का बराबर पता लगाते रहना चाहिये। वास्तव मे उधार देते समय ही यथेष्ट गुञ्जाइश रख लेनी चाहिये और यदि मूल्य बहुत कम हो जाय तो और अधिक अतिरिक्त जमानत मँगवा लेनी चाहिये।

(३) जो माल रक्खा जाय उसकी किस्म को समझ लेने के लिये एक बहुत ही अनुभवी व्यक्ति को रखना चाहिये।

(४) जब माल छोड़ा जाय तब बहुत निगाह रखनी चाहिये। जहाँ तक हो सके इसके लिये एक अलग गुमाश्ता होना चाहिये।

(५) माल सम्बन्धी कागजों पर उधार देने के पहिले उनकी वास्तविकता का पता लगा लेना चाहिये। साथ ही उनके वास्तविक अधिकारी की भी जाँच-पड़ताल करा लेनी चाहिये।

(६) बैंकर को वही माल लेने चाहिये जिनको वह अपने गोदाम में आसानी से रख सकता हो। यदि माल ऋणी के ही गोदाम में छोड़ दिया जाता है तो उसके गोदाम की जाँच करवा लेनी चाहिये और उसके दोषों को दूर करवा देना चाहिये। खत्तियों मे कच्ची खत्तियों की तुलना में पक्की खत्तियाँ कहीं अच्छी होती है।

(७) सबसे आवश्यक तो यह है कि बैंकर को ऋण लेने वाले की ईमानदारी, इत्यादि का पता लगा लेना चाहिये। जो काम वह करता हो उसमें उसे होशियार होना चाहिये।

(८) बैंकर को अपने ग्राहकों के कर्मचारियों इत्यादि को उधार देते समय बहुत सावधान रहना चाहिये। प्रायः इनके अधिकार सीमित रहते हैं।

(९) माल के गिरवीं रक्खे जाने का प्रमाण बराबर लिखित रूप में ले लेना चाहिये।

(१०) जहाजी 'बिल्टी (Bill of lading)' की कई प्रतिलिपियाँ होती हैं। अतः, सबको ले लेना चाहिये जिससे जाल न किया जा सके।

[४] जान बीमा-पत्र

बीमे का प्रस्ताव पत्र भरते समय यदि कोई बात गलत नहीं लिखी गई है तो जान बीमा-पत्र के आधार पर उसके परित्यज्य मूल्य (Surrender Value) तक की रकम बहुत ही अच्छी तरह से उधार दी जा सकती है। किन्तु बैंकों के पास प्रायः जो जमानतें रहती हैं उनमें यह बहुत अधिक मात्रा में नहीं पाया जाता। बात यह है कि बीमा कम्पनियों के स्वयं ही बीमा-पत्रों के आधार पर रकम उधार देने के लिये तैयार रहने के कारण अधिकांश में इनके आधार पर उन्हीं से ऋण ले लिया जाता है और इसमें बीमा कम्पनियों को तथा उधार लेने वाले दोनों को बहुत ही सुविधा रहती है। इनका भी वैधानिक रेहन (Legal mortgage) अथवा सादा रेहन (Equitable mortgage) हो सकता है। सादे रेहन में बीमा-पत्र दे दिया जाता है, चाहे साथ में जमा करने का स्मरण-पत्र दिया जाय अथवा नहीं। इसके विपरीत वैधानिक रेहन में एक बेची-पत्र (Deed of assignment) भी भरा जाता है जिसमें मूल धन और ब्याज के देने का वायदा रहता है और बीमा-पत्र की ऋण की अदायगी हो जाने पर छुटकारे की शर्त के साथ उसकी बेची भी रहती है।

गुण— (१) इनका त्याज्य मूल्य आसानी से मालूम किया जा सकता है। प्रायः, इनकी पीठ पर इसको निकालने का तरीका दिया रहता है। साथ ही बीमा कम्पनी से भी इसका पता लगाया जा सकता है।

(२) यदि बीमे का प्रतिफल बराबर चुकता होता रहता है तो इनका त्याज्य मूल्य भी बराबर बढ़ता जाता है।

(३) यदि बीमा-पत्र स्मरण-पत्र के बिना ही जमा कर दिया जाता है तो भी ऋण लेने वाले के दिवालिया हो जाने पर पहिले बैंकर को बीमा-पत्र से ऋण की रकम वसूल करने का अधिकार रहता है और फिर उसके बाद सरकार द्वारा निर्धारित इतिकर्ता का अधिकार होता है।

(४) ऋण लेने वाले के एक विशेष आयु पर पहुँचने पर अथवा मर जाने पर उसका जान बीमा-पत्र स्वयं ही पक जाता है।

(५) यदि जान बीमा-पत्र की बेची हो गई है और बीमा-कम्पनी को सूचना दी जा चुकी है तो यह पूर्ण रूप से सुरक्षित रहता है। इसमे अधिकार के खराब होने का प्रश्न नहीं उठ सकता।

(६) आवश्यकता पड़ने पर बैंकर इसकी बेची किसी अन्य धनी के नाम भी कर सकता है।

दोष—(१) यदि प्रस्ताव-पत्र ठीक नही भरा गया था तो बीमा-पत्र के पकने पर वह अवैध ठहराया जा सकता है।

(२) यदि बीमा कराने वाले की आयु का प्रमाण बीमा कम्पनी के द्वारा पहिले से स्वीकृत नहीं कराया जा चुका है तो बीमा कराने वाले की मृत्यु पर बैंकर को ऐसा कराने मे कठिनाई पड़ सकती है।

(३) प्राय: आत्महत्या और न्यायालय की ओर से फाँसी की सजा बीमा-पत्रों के अन्दर नहीं सम्मिलित होतीं।

(४) बीमा प्राय: विधवा और बच्चों के हित के लिये करवाया जाता है। अत:, बैंक के लिये उसकी रकम लेना भलमनसाहत नहीं समझी जाती।

(५) बीमे का मूल्य उसका प्रतिफल देने से ही बढ़ता है। अत:, यदि बीमा कराने वाला यह प्रतिफल नहीं देता तो उसको बैंक को देना पड़ सकता है।

(६) यदि बीमा किसी अन्य व्यक्ति ने करवाया है तो जिसकी

जान का बीमा हुआ है उसकी जान में बीमा कराने वाले की आर्थिक दिलचस्पी न होने के कारण बीमा अवैध सिद्ध हो सकता है।

(७) यदि बीमा-पत्र नहीं ले लिया गया है तो वह किसी और के नाम बेचा जा सकता है। वास्तव में जो व्यक्ति भी पहिले बीमा कम्पनी को बीमे की बेची की सूचना दे देता है वही उसको पाने का हकदार समझा जाता है।

सावधानियाँ--(१) बैंकर को यह बात देख लेनी चाहिये कि जिसका जान बीमा कराया गया है उसकी आयु के प्रमाण को बीमा कम्पनी ने मान लिया है।

(२) उसको यह भी देख लेना चाहिये कि बीमा कराने वाले की जिसका जान बीमा कराया गया है उसकी जान में बीमा कराने के समय आर्थिक दिलचस्पी थी।

(३) उसको सादे रेहन की अपेक्षाकृत वैधानिक रेहन पर अधिक जोर देना चाहिये।

(४) उसको इस बात को देखते रहना चाहिये कि प्रतिफल देने की रसीदें बराबर उसके यहाँ जमा होती रहती हैं और प्रतिफल बराबर दिया जाता है।

(५) उसको बीमा कम्पनी को रेहन की सूचना दे देनी चाहिये और इस बात का पता लगा लेना चाहिये कि वह पहिले से तो रेहन नहीं थी।

(६) बैंकर की दृष्टि से एक निश्चित अवधि पर अथवा यदि उससे पहिले मृत्यु हो जाय तो उस पर पकने वाला बीमा (Endowment) केवल मृत्यु पर पकने वाले बीमे (Whole life) की अपेक्षाकृत कहीं अधिक अच्छा है।

(७) कुँवारी स्त्रियों के बीमे के सम्बन्ध मे उनका विवाह हो जाने पर बीम-पत्र के ऊपर विवाह की बात लिखवा लेनी चाहिये।

(८) प्रत्येक बीमा-पत्र की सब धाराओं को अपने अधिकार और दायित्व को समझने के लिये बहुत अच्छी तरह से समझ लेना चाहिये।

अचल सम्पत्ति

जब अचल सम्पत्ति जमानत की तौर पर दी जाती है तब उसका

रेहन-नामा होता है और जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है यह रेहन-नामा प्राय: वैधानिक होता है क्योंकि सादा रेहन-नामा तो हमारे यहाँ कुछ विशेष शहरों को छोड़कर अन्य शहरों मे होता ही नहीं और न उसमे सम्पत्ति के वेचने का ही अधिकार रहना है। अचल सम्पत्ति-सम्बन्धी अधिकार-पत्रों को भी भली भाँति जँचवा लेना चाहिये अन्यथा उन पर का अधिकार भूठा प्रमाणित हो सकता है। उनके मूल्य को भी भली भाँति अँकवा लेना चाहिये और उनका बीमा भी करवा लेना चाहिये।

गुण—सत्य तो यह है कि अचल सम्पत्ति में ऐसा कोई गुण ही नहीं है जिससे कि वह जमानत के तौर पर स्वीकृत की जाय, किन्तु प्राय: ऐसे ग्राहक मिलते हैं जिनके पास इनको छोड़कर और कोई चीज जमानत के तौर पर देने के लिये निकलती ही नहीं। अत: इनको स्वीकार करना ही पड़ता है।

दोष—(१) वैधानिक रेहन में तो बहुत ही खर्च पड़ता है और वह असुविधाजनक भी होता है, और सादा रेहन कुछ विशेष शहरों को छोड़कर अन्य शहरों में हो ही नहीं सकता।

(२) अचल सम्पत्ति के वास्तविक अधिकारी का पता लगाना बहुत ही कठिन है। बात यह है कि हमारे देश मे हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों के उत्तराधिकार सम्बन्धी नियम बहुत ही टेढ़े-मेढ़े हैं।

(३) अचल सम्पत्ति के मूल्य को ठीक-ठीक आँक लेना बहुत ही कठिन हो जाता है, और यह भी घटता-बढ़ता रहता है।

(४) इसको वेचने में बहुत ही असुविधा होती है, क्योंकि इसमें बहुत सी वैधानिक कार्रवाइयाँ करनी पड़ती है। फिर इनको खरीदने वाले भी मुश्किल से ही मिलते है और भिन्न-भिन्न व्यक्ति इनके भिन्न-भिन्न मूल्य लगाते है।

(५) कुछ मकान मरम्मत, इत्यादि के न होने के कारण बहुत जल्दी ही खराब हो जाते हैं।

(६) ऋण की अदायगी न होने पर जिस दिन से जमानत पर रक्खे गये मकान इत्यादि वैंक के हाथ में आ जाते हैं, उस दिन से

उसको उनमें किरायेदार रखने और उनकी मरम्मत कराने के दायित्व अपने ऊपर लेने पड़ते हैं।

(७) इनके अधिकार-पत्रों की वास्तविकता का पता लगाना बहुत ही कठिन हो जाता है।

(८) जहाँ पर ज़मीन पट्टे पर होती है वहाँ पर किराया न पहुँचने पर पट्टे की समाप्ति की आशंका रहती है।

(९) इसके आग से नष्ट हो जाने का डर रहता है।

सावधानियाँ—(१) अचल सम्पत्ति लेते समय ऋण लेने वाले के उस पर के अधिकार का भली भाँति से पता लगा लेना चाहिये।

(२) अधिकार-पत्रों को अच्छी तरह से जँचवा लेना चाहिये।

(३) भविष्य में मरम्मत, इत्यादि के लिये प्रबन्ध कर लेना चाहिये।

(४) पट्टे की सम्पत्ति के सम्बन्ध में किराया देने का प्रबन्ध हो जाना चाहिये।

(५) इसका आग बीमा करवा लेना चाहिये, और ऋण लेने वाले से वार्षिक प्रतिफल देने का जिम्मा भरवा लेना चाहिये।

(६) जहाँ तक हो एक रेहन के बाद दूसरा रेहन नहीं स्वीकार करना चाहिये, और यदि दूसरे रेहन की सूचना मिल जाय तो फिर और रकम उधार नहीं देनी चाहिये।

प्रश्न

(१) 'उधार' (Advances) से आप क्या समझते हैं ? चालू (Continuing) और विशेष (Specific) जमानतों को भली भाँति समझाइये।

(२) अतिरिक्त जमानत (Collateral securities) से आप क्या समझते हैं ? ये किस प्रकार की होती हैं ? इनमें से प्रत्येक के विषय में बताइये।

(३) बैंक प्रायः किस प्रकार की अतिरिक्त जमानतों को ले लेते हैं ? प्रत्येक की विशेषताओं पर छोटी-छोटी टिप्पणियाँ लिखिये।

(४) बैंकर की दृष्टि से स्टाक एक्सचेञ्ज में बिकने वाले साख-पत्रों

की ज़मानत कैसी होती है ? इसके दोषों को कम करने के लिये अपने सुझाव रखिये।

(५) माल और माल के अधिकार-पत्रों के अतिरिक्त जमानत की तरह से प्रयोग मे आने के गुण और दोषों को भली भाँति समझाइये। इनको लेने के समय किन बातों का ध्यान रखना चाहिये ? भारतवर्ष में यह बहुत अधिक प्रिय क्यों नहीं हैं ?

(६) जान बीमा-पत्रों को जमानत की तरह पर लेने में कौन-कौन से गुण और दोष हैं ? इनको लेने के समय किन-किन बातों का ध्यान रखना चाहिये ?

(७) 'अचल सम्पत्ति अच्छी जमानत नहीं है' इस बात को बैंकर की दृष्टि से समझाइये।

(८) 'अच्छा अधिकार देने वाले पुर्जों को जहाँ तक सम्भव हो गिरवीं की तरह से ही लेना चाहिये' इस पर अपने विचार लिखिये।

अध्याय ११

बैंकों का निकासगृह (Clearing House)

बैंकों का निकासगृह वह संस्था है जहाँ स्थानीय बैंकों के पारस्परिक लेन-देनों का निपटारा हो जाता है। जैसा कि छठे अध्याय मे बताया जा चुका है यह काम प्रायः सभी केन्द्रीय बैंक या तो चलन के अनुसार करते आ रहे हैं या विधान ने उनको ऐसा करने के लिये बाध्य कर रक्खा है। जिन देशों मे केन्द्रीय बैंकों की संस्थापना के बहुत पहिले ही से व्यापारिक बैंकों ने स्वयं ही अपने लेन-देनों का निपटारा करने के लिये प्रबन्ध कर लिया था अथवा जहाँ पर केन्द्रीय बैंकों ने इस काम को बहुत दिनों तक प्रारम्भ ही नहीं किया था वहाँ पर स्वतन्त्र निकासगृह स्थापित है और उनके स्वयं के नियम तथा काम करने के स्थान बने हुए है। हाँ, इतना अवश्य है कि वहाँ के केन्द्रीय बैंक भी इनके सदस्य है और साथ ही प्रत्येक दिन की निकासी के अन्त में बैंकों के जो शेष बचते है उनके निपटारे का भी प्रबन्ध वही करते है। अन्य देशों मे तो वही निकासगृह के लिये स्थान देते है, वही काम करने के लिये नियम बनाते हैं, वही

उनकी निगरानी करते है और वही अन्त में बचे हुए शेष का निप-टारा करते हैं। उपर्युक्त अध्याय मे इस बात का भी संकेत कर दिया गया था कि बैंकों का अनुभव यह बतलाता है कि एक विशेष समय के अन्दर एक विशेष बैंक के ग्राहकों के द्वारा उस पर कटे हुये उन चेकों की रकम जो दूसरे बैंकों के द्वारा उसके यहाँ वसूली के लिये आती है उन चेकों का रकम के प्राय: बराबर होती हैं जो उसके पास दूसरे बैंकों के ऊपर की उसके ग्राहकों के द्वारा इसी काम के लिये आती है। वस्तुत:, बैंकों के निकासगृहों की सस्थापना ही इसी सिद्धान्त के आधार पर की गई है।

काम करने का ढङ्ग

इनमे काम करने का ढङ्ग बहुत ही साधारण है। मान लीजिये कि अ, ब, स, और द नाम के चार बैंकों के बीच मे निकासी का काम होना है। अब इनमें से प्रत्येक के पास जाने वाली निकासी के सम्बन्ध के विशेष तौर पर छपे हुये कागज (Summary sheets of out-clearing) रहते है जिनमे उन सभी चेकों और बिलों, इत्यादि का लेखा कर लिया जाता है जिनकी एक बैंक को अन्य बैंकों से वसूली करनी होती है। अत:, यदि 'अ' बैंक को चेकों और ड्राफ्टों को छाँटने पर 'ब' बैंक के ऊपर के चेक और ड्राफ्ट मिलते हैं तो वह इन्हे उक्त कागज में 'ब' बैंक का नाम लिखकर लिख लेता है। इसी तरह से दूसरे बैंकों के ऊपर की रकमे भी अलग-अलग लिख ली जाती है। कहना न होगा कि यह प्रत्येक बैंक करता है। इसके बाद चेकों, इत्यादि को फिर से देखकर उनके अलग-अलग बण्डल बना लिये जाते है। फिर, इन बण्डलों को निकासगृह मे ले जाया जाता है और चारों बैंकों के उनके निर्धारित स्थान में प्रत्येक दूसरा बैंक उनके ऊपर के इन बण्डलों को रख देता है। वहाँ पर इन बैंकों के कर्मचारी प्राप्त बण्डलों से उसी प्रकार के आने वाली निकासी के कागजातों (Summary sheets of in-clearing) मे लेखे करते हैं जिस प्रकार इनके लेखे जाने वाली निकासी के कागजातों मे पहिले किये गये थे। अब यदि 'अ' बैंक को 'ब' बैंक से जो पाना है वह उसको जो उसे देना है उससे अधिक है तब उसको उससे पाना है और यदि इसका उल्टा है तो उसको उसे देना है। अत:, प्रत्येक बैंक से अन्त मे जो पाना है अथवा उसको देना है

वह एक साधारण चिट्ठे (General Balance-Sheet) में लिख लिया जाता है। इस चिट्ठे मे निकासगृह के सब सदस्य बैंकों के नाम, उनके पाउने और देने के खानों के सहित छपे रहते हैं। अब, यदि किसी बैंक से पाना है तो वह पाउने के खाने मे और यदि देना है तो वह देने के खाने मे लिख लिया जाता है। अन्त मे पाउने और देने के जोड़ों का शेष निकाल लिया जाता है, और यदि पाउना ज्यादा है तो केन्द्रीय बैंक से अपने एकाउण्ट को क्रेडिट करने (जमा करने) और यदि देना ज्यादा है तो अपने एकाउण्ट को डेविट करने (नाम लिखने) को कह दिया जाता है। केन्द्रीय बैंक इन लेखों के दोहरे लेख निकासी के एकाउण्ट (Clearing) मे करता है। अब, यदि सबका हिसाब ठीक है तो निकासी के एकाउन्ट में दोनों तरफ के लेखे बराबर हो जाते है अन्यथा ग़लती ढूँढ़कर ठीक कर ली जाती है। अन्त मे सब बैंक वाले अपने-अपने ऊपर की चेकों को अपने यहाँ ले जाते है और वहाँ पर उनकी जाँच-पड़ताल करके उनके लेखे कर लेते हैं और यदि वहाँ पर वह ठीक नही जंचती तो दूसरे दिन की निकासी मे वह वाहर जाने वाली चेकों के साथ वापिस कर दी जाती है।

लाभ

इस सगठन से बैंकों और जनता दोनों को वहुत से लाभ है। बैंकों के लिये तो यह इस प्रकार से लाभदायक है कि उनको अपने कर्मचारियों को भिन्न-भिन्न बैंकों मे नहीं भेजना पड़ता। केवल एक कर्मचारी निकासगृह में चला जाता है। फिर उनको व्यर्थ मे नकदी मे भुगतान नहीं करना पड़ता—एक तो प्रत्येक बैंक को भुगतान नहीं किया जाता, दूसरे सब बैंकों का मिलाकर भुगतान भी केवल केन्द्रीय बैंक मे जो एकाउन्ट रहता है उसी मे लेखा करने से हो जाता है। इससे यह भी लाभ होता है कि बैंकों को अपने पास वहुत कम नक़दी रखनी पड़ती है। यह जनता के लिये भी वहुत लाभप्रद है। वात यह है कि इससे उसका बहुत कम नकदी से काम चल जाता है। फिर, इसके कारण चेकों, इत्यादि का जो प्रयोग वढ़ जाता है उससे भी जो साख की वृद्धि होती है उससे भी जनता का वड़ा लाभ होता है।

अंग्रेज़ी निकासगृह

जैसा कि छठे अध्याय मे बताया जा चुका है, इंगलिस्तान में, लन्दन में और ग्यारह प्रान्तीय शहरों में स्वतन्त्र निकासगृह है। इनमें से लन्दन में और सात प्रान्तीय शहरों मे तो जहाँ बैंक आफ इंगलैन्ड के अपने दफ्तर और शाखायें है बैंक अपनी पारस्परिक बाकी का निपटारा उनके बैंक आफ इगलैण्ड मे जो स्थानीय एकाउन्ट हैं उन पर चेकें काटकर कर लेते है। किन्तु उन चार शहरों में जहाँ निकासगृह तो हैं किन्तु बैंक आफ इंगलैन्ड के दफ्तर और शाखायें नहीं हैं ऐसा नहीं हो पाता। अतः, वहाँ पर यह काम उनके लन्दन स्थित प्रधान दफ्तर के जो एकाउन्ट बैंक आफ इंगलैन्ड मे है उनके द्वारा करवाया जाता है।

लन्दन में निकासी का काम—लन्दन में निकासी का काम तीन भागों में विभक्त है। (१) शहर से सम्बन्धित निकासी (Town-clearing), (२) अन्य शहरों से सम्बन्धित निकासी (Country clearing) और (३) शहर के दूर स्थित स्थानों से अथवा वृहत लन्दन से सम्बन्धित निकासी (Metropolitan clearing)

[१] शहर से सम्बन्धित निकासी के अन्तर्गत वह क्षेत्र आता है जो बैंक आफ इंगलैण्ड के दफ्तर से करीब है। इसकी प्रति दिवस प्रायः दो निकासी होती है, एक प्रातः और दूसरी मध्याह्न में। निकासगृह का प्रत्येक सदस्य बैंक हर निकासी के समय प्रत्येक बैंक के ऊपर की अथवा उन बैंकों के ऊपर की चेकों के जिनके में सदस्य बैंक प्रतिनिधि है प्रथक-प्रथक बण्डल बनाकर जिनको वहाँ पर चारजेज (Charges) कहा जाता है निकासगृह के दफ्तर में भेज देता है। वहाँ पर ये आपस मे बदले जाते हैं और फिर इनसे लेखे तैयार किये जाते हैं, और अन्त मे जोड़, इत्यादि को ठीक करके बाकी निकाली जाती है। फिर वह साधारण चिट्ठे में प्रत्येक बैंक के नाम के आगे डेबिट (नाम) अथवा क्रेडिट (जमा) मे जैसा होता है लिख ली जाती है। इसके बाद दोनों खानों को प्रथक-प्रथक जोड़कर उनकी बाकी निकाल ली जाती है। अब, प्रत्येक बैंक का केन्द्रीय बैंक मे एकाउण्ट तो होता ही है। अतः, उसी एकाउण्ट मे इस बाकी को डेबिट अथवा क्रेडिट करके जैसा होता है इसका निपटारा कर दिया जाता है।

[२] **अन्य शहरों से सम्बन्धित निकासी** के अन्तर्गत वृहत् (समूचे) लन्दन को छोड़कर इगलैन्ड और वेल्स में फैले हुए सभी वैकों और उनकी शाखाओं के चेकों की निकासी आ जाती है। लन्दन के बाहर जितने वैक है प्रायः उन सबों ने लन्दन शहर मे स्थित किसी न किसी बैंक को निकासी के लिये अपना प्रतिनिधि अवश्य बना रक्खा है। अतः, इनके पास उनके जो अन्य वैकों के ऊपर के चेक, इत्यादि रहते हैं वह आ जाते है। इसमे भी निकासा का वही क्रम चलता है जो शहर से सम्बन्धित निकासी में चलता है। हाँ, यह निकासी प्रतिदिन केवल एक बार ही होती है और इससे साधारण चिट्ठे से जो वाकी निकलती है वह सीधे-सीधे न निपटकर तीसरे दिन की शहर से सम्बन्धित निकासी के साधारण चिट्ठे मे शामिल कर ली जाती है। इस देरी का कारण यह है कि ऊपर वाले वैकों के प्रतिनिधि वैक जो चेक पाने वाले वैकों के प्रतिनिधि वैकों से पाते हैं उन्हें वह ऊपर वाले वैकों के पास भेजते है और वहाँ से उनके सकर जाने पर ही उन्हे निकासी मे सम्मिलित करते है।

शहर से दूर स्थिति स्थानों से अथवा वृहत लन्दन से सम्बन्धित निकासी वहुत वाद मे प्रारम्भ हुई थी। इसमें उस क्षेत्र के वैकों की चेकों की निकासी होती है जो न तो प्रथम और न दूसरे प्रकार की निकासी मे सम्मिलित की जा सकती हैं। वात यह है कि वृहत लन्दन का क्षेत्र वहुत वड़ा है। अतः, इससे लन्दन के उन वैंकों को सुविधा दी गई है जो वैक आफ इंगलैन्ड के दफ्तर से दूर पर स्थित है। ये वैंक इस क्षेत्र फल मे स्थिति वैकों की चेकों, इत्यादि को छाँटकर लन्दन शहर के अपने प्रतिनिधि वैकों के पास भेज देते हैं जो उनको ऊपर वाले वैंकों के अपने यहाँ के प्रतिनिधि वैंकों के वडलों मे शामिल कर लेते हैं। इस निकासी से सम्बन्धित साधारण चिट्ठे की वाकी भी दूसरे दिन की शहर से सम्बन्धित निकासी के साधारण चिट्ठे मे शामिल कर ली जाती है। इसमे भी प्रतिनिधि वैक प्राप्त चेकों को ऊपर वाले वैकों के पास सकरने के लिये भेजते है जिसकी सूचना दूसरे दिन आ जाती है।

प्रत्येक निकासी की लौटी हुई चेक दूसरे दिन की उसी निकासी के लिये जाने वाली चेकों की निकासी में मिला दी जाती है।

एक बात और ध्यान देने की है कि शहर से सम्बन्धित और वृहत लन्दन से सम्ब्रन्धित निकासी में चेकें और ड्राफ्ट दोनों सम्मिलित कर लिये जाते हैं किन्तु अन्य शहरों से सम्ब्रन्धित निकासी में केवल चेकें ही शामिल की जाती है ड्राफ्ट नहीं शामिल किये जाते।

भारतवर्ष में निकासी

पाँचवे अध्याय मे यह भी बताया गया था कि हमारे देश मे भी रिजर्व बैंक की सस्थापना के पहिले से ही कई जगह स्वतंत्र निकासगृह थे जिनमें कार्य की देख-रेख स्वभावत: इम्पीरियल बैंक ही अन्य सदस्य बैंकों की ओर से किया करता था। फिर रिजर्व बैंक की सस्थापना होने पर यह काम रिजर्व बैंक के पास आ गया। किन्तु फिर भी कलकत्ता और कानपुर दो ऐसे स्थान है जहाँ पर रिजर्व बैंक के क्रमश: दफ्तर और शाख के होने पर भी वहाँ के निकासगृहों की देख-रेख रिजर्व बैंक के जिम्मे नहीं है। हाँ, बाकी का निपटारा तो अवश्य बैंकों के जो इसके यहाँ एकाउन्ट हैं उन्हीं पर चेके काटकर होता है। जिन स्थानों मे रिजर्व बैंक का दफ्तर अथवा शाख नहीं है वहाँ पर इम्पीरियल बैंक न केवल निकासगृह की देख-रेख करता है वरन् बाकी का निपटारा भी करता है। बैंकिंग प्रथा की उन्नति और चेकों के प्रयोग के आदत की वृद्धि के साथ-साथ यहाँ पर नये निकासगृहों की आवश्यकता पड़ेगी। कुछ बड़े शहरों मे निकासी को लन्दन की तरह भागों मे भी विभक्त करना पड़ेगा। किन्तु रिजर्व बैंक और बैंकों की संस्था इन बातों को समझती हैं। अत:, आवश्यकता पड़ने पर वह इनका प्रबन्ध करेंगी।

अन्य देशों के निकासगृह

अमेरिका के निकासगृह वहुत लाभदायक काम करते हैं। वे जमा करने वालों को दिया जाने वाला न्यूनतम व्याज निश्चित करते हैं। साथ ही वे बैंको को ऐसे प्रमाण-पत्र देते है जिनके आधार पर उन्हे ऋण प्राप्त हो सकता है, इत्यादि, इत्यादि। यूरोप मे भी प्रत्येक वड़े देश मे निकासगृह स्थापित है। हाँ, इनमे उतना काम नहीं होता जितना इंगलैण्ड और वेल्स में होता है। वात यह है कि यूरोप मे चेकों का चलन और रेखाङ्कन का चलन उतना नहीं है जितना इंगलैण्ड और वेल्स में है।

प्रश्न

(१) निकासगृह की परिभाषा दीजिये और यह बताइये कि केन्द्रीय बैंक इस सम्बन्ध में क्या काम करते हैं। यह भी बताइये कि निकासगृहों में किस सिद्धान्त पर काम होता है।

(२) निकासगृह की कार्य व्यवस्था को सक्षेप मे किन्तु स्पष्ट तौर पर समझाइये। अपने उत्तर के सम्बन्ध में एक उदाहरण ले लीजिये।

(३) निकासगृह के कौन-कौन से लाभ हैं। उनका वर्णन कीजिये।

(४) इंगलिस्तान की निकासी (Clearing) का वर्णन कीजिये। लन्दन मे निकासी (Clearing) का जो प्रबन्ध है उसको विस्तृत रूप मे बताइये।

(५) भारतवर्ष मे निकासी (Clearing) का क्या प्रबन्ध है ? उसका थोड़ा-सा विवरण दीजिये। क्या उसमें कुछ सुधार की आवश्यकता है ?

अध्याय १२

भारतीय बैंकिंग

ऐतिहासिक दृष्टि

भारतवर्ष मे आधुनिक बैंकिंग का प्रादुर्भाव तो अंग्रेजों के आने के साथ-साथ ही हुआ था। किन्तु इसके यह अर्थ नहीं हैं कि उसके पहिले हमारे यहाँ बैंकिंग थी ही नहीं। ऋण देने के प्रमाण तो यहाँ पर वैदिक काल मे ही ईसा से कम से कम दो हजार वर्ष पहिले मिलते हैं। ऋग्वेद और अथर्व वेद में 'ऋण' शब्द बार बार आया है। फिर ऋण देने वाले महाजनों के नाम बौद्ध पुस्तकों (जातकों) मे भी मिलते हैं जो विन्सेट स्मिथ के अनुसार ईसा से पाँच, छै सौ वर्ष पहिले से सम्बन्धित हैं। इसके बाद सरस्वती नगर के महाजनों ने फिरोज शाह को (१३५१-८८) बहुत काफी रकम उधार में दी थी जिसे उसने फौज के खर्च में लगाया था। इसी तरह से हमको साख-पत्रों का भी जिक्र मिलता है। भगवान कृष्ण के समय

की एक कथा प्रसिद्ध है जिसमें जूनागढ़ के नरसिंह भगत ने द्वारिका-पुरी के सेठ साँवल साह के ऊपर एक हुण्डी की थी। सम्भव है कि यह केवल कथा ही हो, क्योंकि बौद्ध पुस्तकों के और सूत्रों के समय तक हुण्डी का अन्य कहीं जिक्र नहीं पाया जाता। किन्तु कुछ शहरों के बड़े-बड़े व्यापारी साख-पत्र (Letters of credit) तो अवश्य निकालते थे। इसके अलावा जमा का काम भी होता था—यहाँ तक कि ईसा की दूसरी और तीसरी शताब्दी में मनु के समय तक यह काफी बढ़ गया था क्योंकि उसने अपनी स्मृति में जमा और गिरवी पर एक पूरा अध्याय लिखा है। साथ ही सिक्कों के विनिमय का काम भी बहुत पहिले ही होने लगा था और मुग़लकाल तक तो यह बहुत ही अधिक उन्नति कर चुका था। बात यह है कि उस जमाने में बहुत से नये-नये सिक्के बनाये गये थे, जिनमे से कुछ तो एक ही नाम के थे, यद्यपि प्रत्येक का बाजारू दर भिन्न था। इस सब से यह स्पष्ट है कि भारतवर्ष के ऐतिहासिक काल मे तो अवश्य ही यहाँ पर बैंकिंग की एक ऐसी सुघड़ प्रणाली चालू थी जो यहाँ की आवश्यकताओं के लिये पूर्ण रूप से उपयुक्त थी। हाँ, यह पश्चिमी प्रणाली से अवश्य भिन्न थी।

आधुनिक बैंकों के प्रवेश के पहिले देशी बैंकों (Indigenous Bankers) का महत्व

आधुनिक बैंकों के प्रवेश के पहिले यहाँ पर देशी बैंकों का बहुत महत्व था। उस समय के महाजनों के धनी मानी होने से उनके व्यवसाय का लाभप्रद होना तो स्वयं सिद्ध है। इसके अतिरिक्त पश्चिम के यहूदियों के विपरीत, जनता और सरकार दोनों ही उनको बहुत ही अच्छी दृष्टि से देखते थे। यहाँ तक कि औरङ्गजेब जैसा धर्मपरायण बादशाह भी उनका बड़ा सन्मान करता था। इतिहास इस बात का साक्षी है कि उसने उस समय के सबसे प्रसिद्ध महाजन मानिकचन्द को 'सेठ' की उपाधि से विभूषित किया था। उसके बाद बादशाह फर्रुखसियार ने अपने समय के महाजन फतेहचन्द को जो सेठ मानिकचन्द का दत्तक पुत्र था 'जगत सेठ' की पीढ़ी दर पीढ़ी चलने वाली उपाधि प्रदान की थी। फिर इनका सम्बन्ध अंग्रेजों से भी बहुत अच्छा रहा। रेवेरेण्ड जे० लाङ्ग के लेख के

अनुसार क्लाइव ने सन् १७५९ मे उस समय के जगत सेठ की चार दिन की आवभगत मे १७४३४ रु० खर्च किये थे जिसका बदला उसने उसका बगाल के नवाब के विरुद्ध साथ देकर दिया था। अव, जहाँ तक इनकी व्यवसाय कुशलता का प्रश्न है उसके लिये हम सुप्रसिद्ध फ्रांसीसी यात्री जे० बी० टेवरनियर के लेख को देख सकते हैं। उसने लिखा है कि इटली के सब यहूदी जो द्रव्य और विनिमय के काम में बहुत ही दक्ष है, भारतवर्ष के इन महाजनों के यहाँ के काम सीखने वालों की भी मुश्किल से बराबरी कर सकते हैं[1]।

देशी बैंकों की अवनति

किन्तु इनका व्यवसाय और इनकी शक्ति धीरे-धीरे कम होने लगी—यहाँ तक कि अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक इनका महत्व वहुत ही घट गया था। इसके निम्न कारण थे :—

(१) अंग्रेजी व्यापारी इनकी लिखावट को न समझ सकने के कारण इनका प्रयोग नहीं कर सके।

(२) इनका चलन भी नहीं बदला। ये अपने ही ढङ्ग प्रयोग में लाते रहे और केवल कृषि, हाथ की कारीगरी तथा देशी व्यापार ही को सहायता पहुँचाते रहे।

(३) यद्यपि वहुत दिनों तक ईस्ट इन्डिया कम्पनी ने यहाँ पर पश्चिमी वैंकों को नहीं आने दिया किन्तु अन्त मे वह आ ही गये और देशी महाजनों के व्यवसाय के कुछ अंगों में उनकी होड़ करने लगे और अन्त मे उनको पछाड़ दिया।

(४) मुग़ल साम्राज्य की अवनति के वाद जो गड़बड़ी मची थी उसके कारण भी देशी महाजनों की वहुत हानि हुई। प्रायः उन लोगों की जो रकम राजाओं, इत्यादि के यहाँ थी वह वसूल नहीं हो सकी।

(५) देशी महाजन स्वयं बेईमानी, इत्यादि करने लगे जिससे वह वदनाम हो गये और अन्त मे उनका व्यवसाय गिर गया।

---

[1] All the Jews who occupy themselves with money and exchange in the empire of the Grand Seigneur pass for being very sharp, but in India they would scarcely be apprentices to these!

(६) सन् १८३५ के बाद ब्रिटिश भारतीय रुपये के सारे देश में चल जाने के कारण उनका विनिमय का व्यवसाय भी बन्द हो गया जिससे उनकी बड़ी हानि हुई।

(७) रेलों, वाष्पयानों, डाक और तार, इत्यादि के खुल जाने के कारण व्यापारिक मार्ग और सम्बन्ध बदल गये जिससे भारतीय व्यापारियों को विदेशी व्यापारियों के लिये जगह छोड़नी पड़ी और वे लोग अंग्रेजी बैंकों को अधिक काम देने लगे।

आधुनिक बैंकों की संस्थापना

जहाँ तक ज्ञात है सबसे पहिला आधुनिक बैंक मद्रास प्रान्त में खुला था, यद्यपि अधिकांश पुस्तकों में कलकत्ते की आढ़ती कोठियों के बैंकों (Calcutta Agency Houses) का जिक्र है। यह सरकारी बैंक था और इसका प्रबन्ध काउन्सिल के सदस्यों के हाथ मे था। शायद यह सन् १६८८ में खुला था। फिर सन् १७२४ में बम्बई की सरकार ने बम्बई शहर में ऐसा ही एक बैंक खोला। इसके बाद मद्रास में कई निजू बैंक खुले और एक अन्य सरकारी बैंक भी खुला। पहिले तो ये सब बैंक जमा प्राप्त करने और एकाउण्ट रखने के लिये खोले गये थे किन्तु बाद मे इन्होंने अपना नोट भी चलाना प्रारम्भ कर दिया। बंगाल मे सबसे पहिले आधुनिक बैंक कलकत्ते की आढ़ती कोठियों के द्वारा खोले गये। ये कलकत्ते की आढ़ती कोठियाँ व्यापारिक संस्थाये थी और विशेषतः चाय और नील का काम करती थीं। बैंकिंग का तो इनका एक अतिरिक्त व्यवसाय था। अलेक्जैण्डर एण्ड कम्पनी ने कुछ अन्य कम्पनियों के साथ मिलकर सन् १७७० मे बैंक आफ हिन्दुस्तान खोला। बंगाल बैंक और जनरल बैंक आफ इण्डिया लगभग सन् १७८६ में खुले। इनमें से प्रथम तो किसी भी आढ़ती कोठी से सम्बन्धित नहीं था, और १६ मार्च सन् १७८६ के कलकत्ता गजट के अनुसार उसको व्यापार करने की मनाही भी थी। जहाँ तक दूसरे बैंक का प्रश्न है, अभी तक यही ज्ञात है कि वह सारे ब्रिटिश साम्राज्य में सीमित दायित्व का सबसे पहिला बैंक था। वास्तव में इंगलिस्तान में यह सीमित दायित्व का सिद्धान्त बहुत देर मे अर्थात् सन् १८५५ में लागू किया गया और वह भी बैंकों के लिये नहीं। बैंकों के लिये तो यह वहाँ पर सन् १८५७ के संकट (Crisis) के बाद माना गया

और तब भी नोट इससे अलग रक्खे गये। भारतवर्ष मे इस सिद्धान्त को सन् १८६१ के भारतीय कम्पनी विधान मे स्थान दिया गया।

जनरल बैंक आफ इण्डिया उत्तरोत्तर वृद्धि करता गया। शीघ्र ही यह सरकार का बैंक बना दिया गया। वास्तव मे इसका प्रबन्ध बहुत ही अच्छे हाथों में था और इसी से इसने अपने प्रतिद्वन्दियों विशेषकर–बैंक आफ हिन्दुस्तान तथा बंगाल बैंक को पछाड़ दिया। किन्तु सन् १७८७ मे जो करन्सी के सम्बन्ध का संकट उपस्थित हुआ, उसमें इसके सम्बन्ध मे अनेकों बेसिर-पैर की बातें कही गई और अनुचित आलोचना की गई। फिर, सन् १७८८ के दुर्भिक्ष के बाद जब यह सरकार को ८ प्रतिशत के व्याज से ऋण न दे सका तब सन् १७८९ में इसका सरकार से सम्बन्ध विच्छेद हो गया। अन्त मे ३१ मार्च सन् १७९१ को यह इच्छा से भङ्ग कर दिया गया। इस वर्ष के अन्त तक बारम्बार की माँग को पूरा न कर सकने के कारण बंगाल बैंक भी बन्द हो गया। केवल बैंक आफ हिन्दुस्तान ही बच रहा। इसने न केवल सन् १७९१ के संकट का वरन् सन् १८१९ और सन् १८२९ के संकटों का भी बड़ी सफलता से सामना किया। किन्तु अन्त मे सन् १८३२ मे अलेक्जैण्डर एण्ड कम्पनी के जिससे कि यह प्रारम्भ से ही सम्बन्धित था फेल होने पर यह भी फेल हो गया। आढती कोठियों के द्वारा खोले गयें अन्य बैंकों का भी यही हाल हुआ। मैसर्स पामर ऐण्ड कम्पनी के द्वारा खोला गया कलकत्ता बैंक तो सन् १८२९ मे ही फेल हो चुका था। मैसर्स मैकिंटोश ऐण्ड कम्पनी से सम्बन्धित कमर्शियल बैंक आफ कलकत्ता सन् १८३३ मे भंग हो गया। ये सब बैंक नोट भी निकालते थे, अतः, इनके फेल होने से न केवल इनमें रु० जमा करने वाले लोगों की ही जिनमे बहुत-सी विधवाये और बहुत से पेन्शन पाने वाले लोग भी थे वरन् नोट रखने वाले लोगों की भी बड़ी हानि हुई। यह सब यूरोपीय धन्धे थे; अतः, इनके फेल होने का दायित्व भारतीयों के सिर पर नहीं मढा जा सकता।

प्रेसीडैन्सी बैंक

बैंक आफ बगाल जो कि सर्व प्रथम प्रेसीडैन्सी बैंक था सन् १८०६ मे कलकत्ता बैंक के नाम से स्थापित हुआ था, और उसको सन् १८०९

में बैंक आफ बंगाल के नाम से अधिकार-पत्र प्राप्त हुआ था। इसकी संस्थापना का मुख्य उद्देश्य किसी विशेष जोखिम और असुविधा को उठाये बिना जनता की सेवा करना और आवश्यकता पड़ने पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सरकार को आर्थिक सहायता देना था। इसका एक उद्देश्य मुद्रा की पूर्ति करना भी था। सन् १८२३ में इसको नोट चलाने की भी आज्ञा प्रदान कर दी गई और सन् १८३९ में इसको अपनी शाखायें खोलने और भारतीय विनिमय का काम करने की भी आज्ञा दे दी गई—विदेशी विनिमय का काम करने की आज्ञा इसको नहीं मिली। बंगाल की सरकार ने इसके कार्यों को रक्षा की सीमा के अन्दर रखने के उद्देश्य से इसके प्रबन्ध में भाग लेने के लियें इसकी पंचमाश पूँजी भी अपने पास से लगाई थी। अतः, बैंक का सेक्रेटरी प्रायः सिविल सरविस का सदस्य होता था, और कुछ संचालकगण (Directors) भी सरकार चुनती थी।

बैंक आफ बम्बई और मद्रास भी क्रमशः सन् १८४० और १८४३ में संस्थापित हुये और इनकी पूँजी के भी कुछ हिस्सों को इनकी सरकारों ने बंगाल की सरकार की तरह ही लिया। ये भी नोट चलाते थे। तीनों प्रेसीडैन्सी बैंकों को सरकार के बैंकिंग व्यवसाय को करने का एकाधिपत्य भी दिया गया था। किन्तु नोट चलाने का अधिकार इनसे सन् १८६१ में छीन लिया गया क्योंकि उस वर्ष स्वयं सरकार ने इसका एकाधिकार ले लिया। हाँ, नोट चलाने के अधिकार को छीन लेने से इनकी जो क्षति हुई थी उसकी पूर्ति के लिये सरकार की नकदी प्रेसीडैन्सी शहरों में तथा अन्य स्थानों में जहाँ इनके दफ्तर और इनकी शाखायें थीं इनके पास इनसे कुछ ब्याज लिये बिना ही रक्खी जाने लगी।

सन् १८६८ में एक विशेष घटना घटित हो गई जिसके फलस्वरूप सरकार का प्रेसीडैन्सी बैंकों से जो सम्बन्ध था उसमे एक बड़ा भारी परिवर्तन हो गया। बात यह थी कि अमेरिका के घरेलू युद्ध के कारण रुई की कीमत बढ़ गई थी और उसमें सट्टेबाजी होने लगी थी। अतः, बैंक आफ बम्बई इसमें फँस गया जिससे उसकी बड़ी हानि हुई। इसके फलस्वरूप उसे भङ्ग कर दिया गया। किन्तु फौरन ही एक दूसरा बैंक इसी नाम से एक करोड़ रुपये की पूँजी से खोल दिया गया। पुराने

बैंक की जमा की रकम तो सब दे दी गई, किन्तु हिस्सेदारों को लगभग कुछ नहीं मिला। अतः, सरकार ने इसके बाद बैंक आफ बंगाल और मद्रास के हिस्से भी बेच दिये और फिर वह किसी भी बैंक के न तो संचालकों को चुन सकती थी और न उसके कार्यों में भाग ले सकती थी। साथ ही बैंक आफ़ बम्बई के फेल होने के कारणों का पता लगाने के लिये एक कमीशन की नियुक्ति की गई और उसकी रिपोर्ट निकलने के बाद सन् १८७६ में एक प्रेसीडैन्सी बैंक विधान पास किया गया जिसके अनुसार इन बैंकों के कामों पर कुछ प्रतिबन्ध लगा दिये गये। संक्षेप में ये निम्नाङ्कित थे—

(१) वे विदेशी विनिमय का काम नहीं कर सकते थे।

(२) उनको भारतवर्ष से बाहर उधार लेने और जमा प्राप्त करने की भी मनाही कर दी गई थी।

(३) वे छै महीनों से अधिक के लिये उधार नहीं दे सकते थे।

(४) उनको रेहन पर, अचल सम्पत्ति की जमानत पर, दो स्वतन्त्र व्यक्तियों से कम के द्वारा लिखे गये प्रण-पत्रों पर और माल पर जब तक कि वह माल अथवा उसके सम्बन्ध के अधिकार-पत्र उनके पास न रख दिये जायँ उधार देने की मनाही कर दी गई थी।

वे अब सरकार की नकदी का भी पूर्ण रूप से उपयोग नहीं कर सकते थे। बात यह थी कि प्रेसीडैन्सी शहरों में सरकार के स्वयं के सुरक्षित कोष (Reserve Treasuries) खुल गये और उन्हीं में उसकी अधिकाश नकदी रक्खी जाने लगी। प्रेसीडैन्सी बैंकों के पास सरकार की बहुत कम नक़दी रहती थी।

यद्यपि ये बैंक जमा प्राप्त करते थे, देशी बिलों को डिस्काउण्ट करते थे और यहाँ के सरकारी ऋण का प्रबन्ध करते थे, तो भी यह विदित हो गया था कि ये केवल प्रेसीडैन्सी शहरों के लिये ही अथवा अधिक से अधिक थोड़े से बड़े-बड़े व्यापारिक शहरों के लिये भी उपयोगी थे अन्य स्थानों के लिये नहीं। वास्तव में इनमें निम्न दोष थे—

(१) इनके बीच में किसी प्रकार का एकीकरण नहीं था। वास्तव में बैंक आफ़ बंगाल को सारे भारतवर्ष का बैंक बनाने की माँग ईस्ट इण्डिया कम्पनी के सञ्चालक कोर्ट के सामने सन् १८३६ ही में रक्खी जा चुकी थी। फिर सन् १८६० और ७६ में भी यह माँग दोहराई

गई। सन् १८९८ में भी फाउलर कमीशन के सामने कुछ लोगों ने एक केन्द्रीय बैंक की संस्थापना की माँग रक्खी। सन् १९१३ में चैम्बरलेन कमीशन ने इस प्रश्न पर विचार करने के लिये एक अनुभवी कमेटी की नियुक्ति का सुझाव पेश किया। प्रथम महायुद्ध के समय एक केन्द्रीय बैंक की अनुपस्थिति बहुत ही खली।

(२) इन्होंने केवल उन्हीं स्थानों में अपनी शाखायें खोली थीं जिनमें इनको लाभ मिलने की सम्भावना थी। जिस समय इन तीनों बैंकों को एक किया गया था, उस समय सब मिलाकर इनकी केवल ५९ शाखायें थी।

(३) देश के व्यापार को सहायता पहुँचाने के लिये इनके पास काफी रकम नहीं थी। इनकी सब को मिलाकर केवल ३$\frac{3}{4}$ करोड़ रुपये की पूँजी थी, इनका सुरक्षित कोष केवल ३,७७,७९,००० रु० था और इनकी जमा की रकम इनके एकीकरण के समय सन् १९२० में ८७,०४,५३,००० रु० थी। सरकार की अधिकांश नकदी उसके कोष और उपकोष मे फालतू पड़ी रहती थी।

(४) देश की व्यापारिक माँग के अनुसार यहाँ के चालू नोटों के घटने-बढ़ने के लिये कोई प्रबन्ध नहीं था, अतः, उससे ब्याज और डिस्काउण्ट की दरों मे बहुत कमी-बेशी होती रहती थी। सरकार का नियन्त्रण तो करन्सी पर था, और साख पर जो कुछ नियन्त्रण था वह प्रेसीडैन्सी बैंकों का था। अतः, इनमें कोई सम्बन्ध नहीं था।

(५) ऊपर जो पहिले दो बन्धन दिये हुये हैं वह केवल जोखिम से बचाने के लिये थे। किन्तु विनिमय की दर के स्थिर हो जाने पर भी जब विनिमय के काम मे कोई जोखिम नहीं रह गई तब भी यह बन्धन चलते रहे। तीनों बैंकों ने लन्दन और भारतवर्ष मे उधार लेने की और विदेशी विनिमय मे काम करने की एक संयुक्त माँग सरकार से सन् १८७७ में पेश की थी। सन् १८९९ में बैंकों की माँगों पर विचार करने के लिये एक सभा भी हुई थी किन्तु जनता के इनके पक्ष में रहने पर भी सरकार ने कुछ भी नहीं किया। लन्दन में उधार लेने के प्रश्न को तो बराबर अच्छी तरह से विचार किये बिना ही अस्वीकृत कर दिया जाता था।

(६) ये न तो बैंकों के बैंक ही थे और न अन्य किसी जगह से उधार मिलने पर उधार देने के ही दायित्व को स्वीकार करते थे।

सच तो यह है कि यह इतने मज़बूत ही नहीं थे कि उपर्युक्त कार्य कर सकते। जो हो, इन्होंने तो उतना भी नहीं किया जितना ये कर सकते थे।

स्वतन्त्र व्यापारिक बैंक

आढ़ती कोठियों के द्वारा स्थापित किये गये बैंकों के सन् १८३३ मे फेल हो जाने के बाद, यहाँ पर स्वतन्त्र व्यापारिक बैंक खुले। सन् १८६० तक ये अपरिमित दायित्व के सिद्धान्त पर रहे। इस बीच में सी० एच० कुक के अनुसार यहाँ पर लगभग १२ बैंक खुले और उनमें से लगभग आधे फेल भी हो गये। बात यह थी कि जब तक आढ़ती कोठियाँ थीं तब तक तो वे सरकारी कर्मचारियों के लिये बैंकिंग का काम करती थीं। किन्तु सन् १८२९-३२ के संकट काल के समय इनके फेल हो जाने के बाद, बड़ी कठिनाई पड़ी। अतः, उस कठिनाई को दूर करने के लिये शीघ्र ही आगरा ऐण्ड युनाइटेड सरविस बैंक तथा गवर्नमेन्ट सेविंग्स बैंक, कलकत्ता खुले। फिर आगरा सेविंग्स बैंक और अनकवेनैन्टेड सरविस बैंक स्थापित किये गये। किन्तु यह बैंक भी दीर्घ काल तक नही चल सके। इनके फेल होने के कारणों मे सट्टेबाज़ी और जालसाज़ी मुख्य थे। बात यह थी कि उस समय के एकाउण्ट का निरीक्षण ठीक नहीं था। अच्छी बैंकिंग के लिये अच्छा एकाउण्ट निरीक्षण बहुत ही आवश्यक है। जो हो, इस काल के कुछ बैंकों ने बड़ा अच्छा काम किया।

सन् १८६० भारतीय बैंकिंग के लिये विशेष महत्व का था। उस वर्ष यहाँ पर बैंकों को सर्वप्रथम सीमित दायित्व के सिद्धान्त की सुविधा दी गई। अतः, इसके फलस्वरूप और अमेरिका के घरेलू युद्ध के कारण वहाँ से रुई का निर्यात रुक जाने से भारतीय रुई की जो कीमत बढ़ गई थी उससे यहाँ पर जो धन वृद्धि हो गई उसके फलस्वरूप, यहाँ पर विशेषतः सन् १८६४-६५ मे लगभग २५ बैंक खुले। किन्तु ये सब बहुत शीघ्र ही काल कवलित हो गये। सत्य तो यह है कि जिस सट्टे के कारण ये उत्पन्न हुये थे उसकी समाप्ति पर ही यह भी समाप्त हो गये। हाँ, बैंक आफ अपर इण्डिया जो कि सन् १८६४ मे खुला था अवश्य सन् १९१४ तक चला।

सन् १८६५-१९०५ का समय विश्राम का समय था। इन चालीस

वर्षों में बहुत कम बैंक खुले। किन्तु जो खुले उनमें से कुछ ने तो बड़ा काम किया। इलाहाबाद बैंक जो सन् १८६५ में खुला था आज तक है और पाँच बड़े बैंकों में से एक है। अलायन्स बैंक आफ शिमला सन् १८७४ में खुला था। यह बहुत ही सफल रहा और सन् १९२३ में जब फ़ेल हुआ केवल अपने अभाग्य ही के कारण फेल हुआ। सन् १९२१ के उसके सम्बन्ध के जो अङ्क प्राप्त हैं उनसे उसकी सुदृढ़ स्थिति का पता चलता है :—

प्राप्त पूँजी	८८ लाख रु०
सुरक्षित कोष	५३ लाख रु०
स्थायी जमा	९०० लाख रु०
चालू जमा	६७९ लाख रु०
कुल जमा	१,६२७ लाख रु०
नकद रोकड़	४३९ लाख रु०
शाखायें	३६

अवध कमर्शियल बैंक सन् १८८१ में रजिस्टर्ड हुआ था। इसका प्रधान आफिस फैजाबाद मे है। यह रिजर्व बैंक का सदस्य बैंक (Scheduled Bank) है। पंजाब नेशनल बैंक सन् १८९४ में खुला और इस समय यहाँ के पाँच बड़े बैंकों में से एक है। पिंडपिल्स बैंक सन् १९०१ में खुला और सन् १९१३ में बन्द हो गया। इसका एक मात्र उद्देश्य औद्योगिक संस्थाओं को खोलना और चलाना था। किन्तु जिन परिस्थितियों मे इसने इस काम को अपने ऊपर लिया था वह संतोषजनक न थीं। उद्योग धन्धे या तो थे ही नहीं या अधूरी हालत में थे। अतः, इसके प्रबन्ध संचालक ने स्वयं ही कई काम खोले और उनका प्रबन्ध किया जिसका फल वही हुआ जो बैंकिंग और व्यापार को सम्मिलित करने का होता है। ऐसी हालत में बैंकिंग के सिद्धान्त नहीं निभ पाते, सन् १९१० में इसकी जो स्थिति थी उसका पता नीचे दिये हुये अंकों से मालूम हो सकता है।

प्राप्त पूँजी...........११·५ लाख रु०
सुरक्षित कोष ....१·८ लाख रु०
जमा..........९८·४ लाख रु०
नक़द साख, बिल, प्रणपत्र,
जमा की हुई रकम से अधिक

निकाली हुई रकम ७९'३ लाख रु०
दूसरे बैंकों के यहाँ जमा २'४ लाख रु०
ड्राफ्ट की बाकी..........१'९ लाख रु०
ऋण-पत्र और दूसरी लागत ४'२ लाख रु०
सरकारी कागज़.... ....४'२ लाख रु०
नकद रोकड़ और बैंक मे ७'१ लाख रु०

सन् १८६५ मे जो बैक फ़ेल हुये थे उससे बैंक सस्थापकों की हिम्मत टूट गई थी। जो बैंक फ़ेल हुये थे वे भारतीय और यूरोपीय दोनों प्रकार के लोगों के प्रवन्ध मे थे। हम जानते है कि बैंक आफ बम्बई जैसा मजबूत बैंक भी अपमानित हो चुका था और प्रधानतः सन् १८६५ से सट्टे के कारण जो संकट पैदा हो गया था उसी के फल-स्वरूप सन् १८६८ में भङ्ग किया जा चुका था। किन्तु उपर्युक्त विश्राम का एक अन्य कारण भी था जिससे स्थिति बहुत कुछ स्पष्ट हो जाती है। हमको ज्ञात है कि चाँदी का मूल्य सोने मे सन् १८७१-७२ के बाद गिरने लगा था। अतः, भारतवर्ष के उस समय रजतमान पर होने के कारण, चाँदी के मूल्य मे जो भी कमी होती थी उसका प्रभाव रुपये के विनिमय की दर पर पड़ता था। इससे देश के विदेशी व्यापार मे अनिश्चितता आ गई और उससे उद्योग-धन्धों पर भी बुरा प्रभाव पड़ा। यह स्थिति सन् १८९३ तक रही। करन्सी की कठिनाइयों ने वैंकिंग पर दोहरा प्रभाव डाला। एक तो लोगों का ध्यान वैंकिंग की स्थापना की ओर से हटकर द्रव्य की इकाई को स्थिर करने की ओर लग गया, और दूसरे व्यापार की अनिश्चितता से ऐसी परिस्थितियाँ और ऐसा वातावरण उत्पन्न हो गया जो बैंकों की संस्थापना के विरुद्ध था।

इसके बाद के काल मे सन् १९०६-१३ का स्वदेशी आन्दोलन चला जिसके फलस्वरूप इस बीच मे ९८ बैंक संस्थापित किये गये। इनमे से बहुत से बहुत छोटे थे और सन् १९१३-१९ के बीच में फ़ेल हो गये। किन्तु आजकल के बहुत से महत्वशाली बैंक भी इसी समय मे चालू हुये थे। इस समय के पाँच बड़े बैंकों मे से दो तो जैसा कि पहिले ही बताया जा चुका है इसके पहिले के काल मे संस्थापित हो चुके थे। अन्य तीन इसी काल मे खुले थे। बैंक आफ इण्डिया सन् १९०६ में रजिस्टर्ड हुआ था, बैंक आफ बरोदा सन् १९०९ में और सेन्ट्रल बैंक आफ इंडिया सन् १९११ मे रजिस्टर्ड हुए थे। अन्य बैंकों

में से जो इस समय संस्थापित हुये थे और आज तक चल रहे हैं, ये मुख्य हैं :—इंडियन बैंक (१९०७), पंजाब एंड सिंध बैंक (१९०८) और बैंक आफ मैसूर (१९१३)। ये सभी रिजर्व बैंक के सदस्य बैंक (Scheduled Bank) हैं।

प्रथम युद्ध और युद्धोत्तर की तेजी ने बैंकिंग को एक और प्रोत्साहन दिया। सबसे पहिले टाटा इंडस्ट्रियल बैंक सन् १९१८ में खुला। इसका भविष्य बड़ा ही उज्ज्वल प्रतीत होता था। किन्तु लम्बी अवधि के काम को साधारण बैंकिंग के काम के साथ करने के कारण और अधिकांश यूरोपीय कर्मचारियों की जिनके हाथ में इसका काम था अनभिज्ञता तथा उसी से उत्पन्न साधारण जनता और भारतीय कर्मचारियों की उदासीनता के फलस्वरूप यह फ़ेल हो गया और सन् १९२३ में सेन्ट्रल बैंक आफ इन्डिया के साथ मिला दिया गया। फिर, इन्डस्ट्रियल बैंक आफ़ वेस्टर्न इन्डिया, कारनानी इन्डस्ट्रियल बैंक, यूनियन बैंक आफ इन्डिया तथा अन्य कई बैंक जो आज तक चालू है और रिजर्व बैंक के सदस्य बैंक हैं इसी समय खुले। किन्तु बहुत से अन्य बैंक भी इसी अवधि के बीच मे खुले जो केवल फेल होने वाले बैंकों की संख्या बढाने के लिये ही थे। यद्यपि सन् १९१३-१९ के संकट की उग्रता कम हो गई तो भी सन् १९१९-२५ मे भी बैंक फेल होते रहे। सब मिला कर इस अवधि में ५·१ करोड़ रु० की पूँजी के ८४ बैंक फेल हुये जिनमे अलायन्स और टाटा जैसे सुदृढ़ बैंक भी थे।

इसके बाद आज तक बहुत से छोटे और बड़े बैंक संस्थापित हो चुके है। सन् १९४०-४५ के बीच में इसमें विशेष तौर पर उन्नति हुई। इसके लिये जो मुख्य कारण थे वह निम्नांकित हैं—युद्ध की परिस्थितियों के सुधर जाने के कारण विश्वास की मात्रा का बढ़ जाना, युद्ध सम्बन्धी परिस्थितियों के कारण आर्थिक लेन-देनों की वृद्धि और सरकार द्वारा मित्र राष्ट्रों की तरफ से क्रय करने के कारण करन्सी के परिमाण में अत्याधिक वृद्धि। पाँच लाख और उससे अधिक की पूँजी और सुरक्षित कराने वाले सम्मिलित पूँजी के बैंकों की संख्या सन् १९२६ के २८ से बढ़कर सन् १९४० मे ५८ (४१ सदस्य बैंक और १७ साधारण बैंक) और सन् १९४७ में ९९ सदस्य बैंक हो गई थी। इसी तरह से एक लाख और पाँच लाख

के बीच वाले बैंकों की संख्या सन् १९२६ मे ४७, सन् १९४० में १२० और सन् १९४५ मे १७४ थी। हाँ, पचास हज़ार और एक लाख के बीच वाले बैंक सन् १९४० और सन् १९४५ में क्रमशः १२१ और ११४ थे अर्थात् पचास हज़ार से नीचे वाले बैंक इन्हीं वर्षों मे क्रमशः ३३२ और २४४ थे। छोटी पूँजी वाले बैंक अब कम खुलते हैं, विशेषतः पचास हज़ार से कम पूँजी वाले बैंकों का खुलना तो सन् १९३६ से विधान के द्वारा ही बन्द कर दिया गया है। इसके अतिरिक्त जो ऐसे बैंक हैं भी उनको अपने सुरक्षित कोष को बढ़ाकर अपनी पूँजी को बढ़ाने के लिये बाध्य किया जा रहा है।

इन वर्षों में बैंक फेल भी काफी हुये। सन् १९३१ में जिस वर्ष सब से कम बैंक फेल हुये थे यह संख्या १८ थी और सन् १९४० में जिस वर्ष सबसे अधिक बैंक फेल हुये थे यह संख्या १०२ थी। इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि सन् १९३६ के पहले जब भारतीय कम्पनी विधान मे 'बैंक' शब्द की कोई परिभाषा थी ही नहीं, यहाँ पर बैंकों के फेल होने का कोई विशेप अर्थ नही था। बात यह थी कि उस समय तक कोई भी संस्था चाहे वह बैंकिंग का काम करती रही हो अथवा नहीं अपने को बैंक कह सकती थी। अतः, ऐसी संस्थाओं के फेल होने से यही समझा जाता था कि बैंक ही फेल हुये हैं, किन्तु वास्तव मे यह बात न थी। फिर प्रायः थोड़े ही दिनों के खुले हुये और थोड़ी ही पूँजी वाले बैंक ही अधिक फेल होते थे। हाँ बैंक आफ अपर इंडिया, अलायन्स बैंक आफ शिमला, पिउपिल्स बैंक और टाटा इन्डस्ट्रियल बैंक का फेल होना अवश्य कुछ अर्थ रखता था। किन्तु सन् १९३६ से तो बैंकों के फेल होने के विशेष अर्थ हैं, यद्यपि इधर भी प्रायः कमज़ोर बैंक ही फ़ेल हुये हैं। हाँ कुछ बड़े-बड़े बैंक भी फ़ेल हुये हैं, जैसे सिवराम अय्यर बैंक, मद्रास; बंगाल नेशनल बैंक; ट्रावन्कोर-नेश्नल ऐन्ड किलन बैंक; बनारस बैंक; और अभी हाल ही में ज्वाला बैंक। इनका फेल होना बहुत ही शोक की बात है, और विशेषतः इसलिये कि यह सदस्य बैंक थे।

इम्पीरियल बैंक

यह तो पहले ही बताया जा चुका है कि सारे देश के लिये एक केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता तो सन् १८३६ से ही प्रतीत होने लगी

थी। अतः, सन् १९२० में उस वर्ष के इम्पीरियल बैंक विधान द्वारा तीनों प्रेसीडैन्सी बैंकों का एकीकरण करके एक इम्पीरियल बैंक बनाया गया। इसकी प्राप्त पूँजी ५·६२ करोड़ रु० रक्खी गई और इसको जनता के हित में काम करने के लिये कहा गया। यही कारण था कि इसके केन्द्रीय मंडल के १६ शासकों में से १० की नियुक्ति सपरिषद् गवर्नर जनरल के हाथ में रक्खी गई। इसका निर्माण निम्न भाँति होता था—

(१) सपरिषद् गवर्नर जनरल के द्वारा नियुक्त—

(अ) केन्द्रीय मण्डल की सिफारिश पर विचार करते हुये दो प्रबन्ध शासक (Managing Governors)।

(ब) भारतीय हित का प्रतिनिधित्व करने वाले चार गैर-सरकारी शासक।

(स) बम्बई, कलकत्ता और मद्रास के तीनों स्थानीय मंडलों के तीन मंत्री।

(द) करन्सी संचालक (Controller of Currency)।

(२) हिस्सेदारों के द्वारा निर्वाचित—तीनों स्थानीय मंडलों के सभापति और उप-सभापति।

जिन बातों का सम्बन्ध सरकार की आर्थिक नीति अथवा उसका इसके पास जो नकद कोष रहता था उसकी रक्षा से होता था उनमे सरकार इसको कोई भी आदेश दे सकती थी। वह इसके कामों, कागजातों तथा पाउने और देने की सूची के सम्बन्ध में इससे किसी प्रकार की पूछ-ताछ भी कर सकती थी। वह इसके हिसाब की जाँच-पड़ताल करने और उस पर अपनी रिपोर्ट देने के लिये अपने निरीक्षक (Auditors) भी नियुक्त कर सकती थी। अन्तिम, नये स्थानीय दफ्तर और मण्डल खोलने के पहिले बैंक को उसकी स्वीकृति प्राप्त कर लेना भी आवश्यक था।

इस बैंक और भारत सचिव के बीच में एक समझौता भी हुआ था जिसमे यह तै पाया था कि बैंक सरकार के सब बैंकिंग के कार्य करेगा और उसके ऋण की भी व्यवस्था करेगा। साथ ही यह भी कि यह अपनी संस्थापना के पाँच वर्षों के अंदर अपनी सौ नई शाखायें खोलेगा जिनमे से कम से कम पचीस का स्थान स्वयं सरकार निश्चित करेगी। अब, इनके एवज मे जहाँ-जहाँ इसकी शाखायें थीं वहाँ-वहाँ इसको सरकार

को नक़द कोष अपने पास रखने का अधिकार दिया गया था और यह अपने कोष को करन्सी के द्वारा जहाँ चाहे वहाँ कुछ प्रतिफल दिये बिना ही भेज सकता था। इसके अतिरिक्त जिन दो स्थानों मे इसकी शाखायें थीं उनके बीच मे सरकार ने करन्सी ट्रान्सफ़र (Currency Transfer) और सप्लाई बिलों (Supply Bills) को न निकालने का वचन दिया था। हाँ, इसके लिये इसने करन्सी संचालक से स्वीकृति कमीशन पर जनता को एक जगह से दूसरी जगह द्रव्य भेजने की सुविधा देना स्वीकार किया था।

फिर विधान ने यह भी निर्धारित कर दिया था कि यह बैंक बैंकिंग के कौन-कौन से काम नहीं कर सकेगा। इसके अलावा इसको अच्छी ऋतु मे द्रव्य के बाज़ार की सहायता करने की क्षमता प्रदान करने के लिये सरकार के कागजी मुद्रा विभाग को इसको देशी बिलों और हुंडियों की जमानत पर १२ करोड़ रु० तक की अतिरिक्त करन्सी, पहिले चार करोड़ तक तो ६ प्रतिशत ब्याज पर और शेष आठ करोड़ ७ प्रतिशत ब्याज पर, उधार के रूप मे दे देने का अधिकार दे दिया गया था।

किन्तु देश में एक सर्वांगी केन्द्रीय बैंक संस्थापित करने की माँग बराबर होती रही, और अन्त में हिल्टन यंग कमीशन ने इस बैंक से प्रथक एक केन्द्रीय बैंक स्थापित करने की बहुत ही स्पष्ट शब्दों मे सिफारिश की। अतः, सन् १९३५ में जो रिज़र्व बैंक खोला गया वह उसी सिफारिश के फलस्वरूप था।

विदेशी बैंक

इस देश मे जो बैंक खुले उनके अलावा कुछ विदेशी बैंक भी जिनके प्रधान कार्यालय यहाँ से बाहर है अपनी शाखाओं के द्वारा यहाँ पर काम करते आ रहे है। पहिले तो सन् १८५३ तक ईस्ट इंडिया कम्पनी ने आढती कोठियों की सहायता से ओरियन्टल बैंकिंग कारपोरेशन को छोड़कर जो यहाँ पर सन् १८४२ मे खोला गया था अन्य विदेशी बैंकों को यहाँ पर नही खुलने दिया। इसका एकमात्र कारण यह था कि वह यह नही चाहती थी कि उसके अलावा अन्य कोई संस्था भारतवर्ष के किसी प्रकार के भी व्यवसाय से लाभ उठा सके। वह यह कहती थी कि तृतीय जार्ज के शासन काल में जो ४७वाँ

लोन आफिस, निधि और चिट फण्ड

उपर्युक्त संस्थायें तो सभी जगह हैं। किन्तु कुछ ऐसी संस्थायें भी हैं जो केवल कुछ ही स्थानों में है, जैसे बंगाल के लोन आफिस और मद्रास के निधि और चिट फण्ड। बंगाल के लोन आफिसों को तो पहिले भूमि बन्धक बैंकों के स्थान पर ही खोला गया था। वे जमा प्राप्त करते हैं। उनका मुख्य व्यवसाय भूमि तथा अन्य मूल्यवान वस्तुओं की ज़मानत पर ज़मीन्दारों और कृषकों को ऋण देना है। वे वैयक्तिक ज़मानतों पर भी ऋण देते है। कुछ व्यापार और उद्योग-धन्धों को और विशेष कर चाय के धन्धे को भी आर्थिक सहायता प्रदान करते हैं। कुछ ऋण देने के साथ-साथ व्यापार भी करते हैं। निधि पहिले-पहिल मद्रास मे चालू हुई थी। ये पारस्परिक ऋण देने वाली संस्थाये हैं। किन्तु अब इन्होंने आधुनिक बैंकों के कुछ कार्यों को करना प्रारम्भ कर दिया है और जमा प्राप्त करने तथा गैर सदस्यों को उधार भी देने लग गई हैं। चिट फण्ड भी कुछ लोगों की एक ढीली-ढाली समिति है जो मितव्यता को फैलाने मे बड़ी सहायक है। इसके सदस्य कुछ किस्त इसके सस्थापक के पास बराबर जमा करते जाते हैं और वह पहिली किस्त की पूरी रकम तो स्वय अपने परिश्रम के लिये ले लेता है और शेष किस्ते एक-एक करके सब सदस्यों को बारी-बारी से दे देता है।

प्रश्न

(१) इस देश की बैंकिंग की क्रमिक उन्नति का इतिहास लिखिये और मध्यकाल में उसकी जो अवस्था थी-उसका दिग्दर्शन कराइये। बाद में इसकी अवनति के क्या कारण थे?

(२) इस देश के आधुनिक काल के बैंकों की प्रथम सस्थापना के विषय में एक सक्षिप्त टिप्पणी लिखिये। उनके फेल होने के क्या मुख्य कारण थे?

(३) प्रेसीडैन्सी बैंकों का एक संक्षिप्त ऐतिहासिक विवरण दीजिये और यह बताइये कि वह कौन कौन से काम नहीं कर सकते थे? उनमें कौन-सी कमी थी?

(४) सन् १८३३ से अब तक आधुनिक बैंकों की जो संस्थापना हुई

(८) ऋणदाताओं और इण्डीजेनस बैंकरों के व्यवसाय को सुधारने के लिये अपने सुझाव दीजिए। उनके रिजर्व बैंक से सम्बन्धित हो जाने पर कौन-कौन से लाभ होंगे, यह बताइये।

(९) रिजर्व बैंक ने इण्डीजेनस बैंकरों को अपने से सम्बन्धित करने के लिये जो नीति बरती है उस पर आपके क्या विचार हैं ?

(१०) ऋणदाताओं और इण्डीजेनस बैंकरों का इम्पीरियल बैंक तथा दूसरे व्यापारिक बैंकों से क्या सम्बन्ध है ? उसके सुधार के सम्बन्ध में अपने सुझाव रखिये।

अध्याय १४

कृषि सम्बन्धी आर्थिक व्यवस्था

कृषि सम्बन्धी आर्थिक व्यवस्था पर हमे न केवल इसलिये विशेष ध्यान देना चाहिये कि इस देश मे इस धन्धे का एक विशेष स्थान है बल्कि इसलिये भी कि इसको कुछ विशेष कठिनाइयाँ हैं। वास्तव में कृषि के तथा अन्य धन्धों के बीच मे कुछ विशेष अन्तर है और सत्य तो यह है कि यही कृषि संबंधी आर्थिक व्यवस्था के मूल मे है। प्रथम तो कृषि की उपज की इकाई का संगठन प्राय: एक ही व्यक्ति के हाथ मे होने से उसे जो साख प्राप्त हो सकती है वह बहुत ही संकुचित है। इसे साख पाने का आधुनिक तरीका अर्थात् संयुक्त प्रणाली उपलब्ध नही है। हम जानते है कि अन्य धंन्धे वाले भविष्य को पूँजी के रूप मे परिवर्तित कर लेते है अथवा यों कहिये कि अपनी कल्पित आय की शक्ति के आधार पर द्रव्य एकत्रित कर लेते हैं। किन्तु कृषक ऐसा नही कर सकता। उसकी कल्पना की वास्तविकता का साधारण लोगों की दृष्टि में कोई व्यापारिक मूल्य नही है। अतः, उसके पास साख लेने के लिये केवल अपना व्यक्तित्व ही है। दूसरे, व्यापारिक बैंकों का संगठन भी उसके लिये उपलब्ध नहीं है। उसकी मुख्य आवश्यकता तो स्थायी पूँजी की है जिससे वह अपने खेत का विस्तार अथवा उसमे किसी प्रकार का सुधार कर ले और यह हुआ एक लम्बी अवधि का ऋण जिसका भुगतान वह एक फसल अथवा कुछ फसलों

की सहायता से नहीं कर सकता। फिर, भूमि तथा अन्य प्रकार की जो चीजें वह जमानत के तौर पर दे सकता है उन्हें कोई व्यापारिक बैंक पसन्द भी नहीं करता। हम जानते हैं कि उन्हें तो अपने को द्रवित अवस्था में रखना है जो इस प्रकार की लागतों में फँसा देने से नहीं रह सकती। अन्तिम यह है कि यहाँ पर कृषि का उद्यम आर्थिक दृष्टि से लाभप्रद है ही नहीं। कृषि पर जो शाही कमीशन बैठा था उसके कथनानुसार यहाँ पर यह एक लाभप्रद व्यवसाय न होकर केवल एक जीवन निर्वाह का ढङ्ग है। इससे कठिनाइयाँ और भी बढ़ जाती हैं और ऋण की अदायगी असम्भव-सी हो जाती है। शाही कमीशन के शब्दों में कृषक ऋण में पैदा होते हैं, ऋण में रहते हैं और अपने बोझ को अपने उत्तराधिकारियों को देते हुए ऋण मे ही मर जाते हैं। हमारे कृषकों का सम्पूर्ण ऋण १२०० करोड़ रुपये के लगभग है, अतः, इसके भुगतान का भी प्रश्न है। संक्षेप में कृषकों की आवश्यकतायें तीन प्रकार की होती हैं:—(अ). अल्पकालीन (Short term), (ब) मध्यकालीन (Intermediate), और (स) चिरकालीन (Long-term)। अब, हम इनकी समस्याओं और उनके हल की ओर ध्यान देंगे।

(अ) अल्पकालीन ऋण की आवश्यकता

भारत मे कृषकों की अल्पकालीन ऋण की आवश्यकता उनके कृषि सम्बन्धी दैनिक व्यय के लिये उदाहरणार्थ बीज के दाम के लिये, श्रम के भुगतान के लिये और जब वह कृषि का काम करते हैं अथवा अपनी उपज बाजारों मे ले जाते है तब वे उनके और उनके कुटुम्ब के व्यय के लिये और उनके अन्य चालू खर्चों के लिये जैसे लगान तथा ब्याज के भुगतान के लिये हैं। यदि किसी के पास आर्थिक दृष्टि से उचित भूमि है तो साधारणतः उसे यह सब अपनी एक वर्ष की उपज को बेचकर दे देना चाहिये। अतः, इसमे नौ महीने लग जाते हैं। कुछ लेखक इसमें विक्रय और चलानी के व्यय भी सम्मिलित कर लेते है। किन्तु कृषकों का अधिक लाभ तभी हो सकता है जब यह कुछ अधिक समय तक के लिये अर्थात् तीन वर्ष तक के लिये मिल जाय। ऐसी स्थिति में यह मध्यकालीन ऋण के अन्तर्गत आ जाता है। यहाँ पर अधिकतर तो उपज गाँवों में ही बिक जाती है। अधिकांश में कृषकों

को अपनी ग़रीबी के कारण अपनी उपज को अच्छा मूल्य पाने के समय तक रोक रहने की शक्ति न होने के कारण उसे फौरन ही कम मूल्य पर बेच देना पड़ता है। यदि उसे उचित आर्थिक सहायता मिल जाय तो वह अपनी सब उपज एक साथ न बेचकर धीरे-धीरे बेचे जिससे उसका उचित मूल्य भी प्राप्त हो सके।

अब, हमें यह देखना चाहिये कि उधार देने वाले वर्तमान संगठन किस तरह से कृषकों की इस अल्पकालीन ऋण की आवश्यकता को पूरी करते है। इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि जो संगठन ऐसा कर रहे हैं वह प्रायः भिन्न-भिन्न प्रकार की ऋण की आवश्यकताओं में कोई भेद नहीं करते। हाँ, कुछ अपवाद अवश्य हैं जिनका अध्ययन हम उचित स्थान पर करेंगे।

रिज़र्व बैंक आफ़ इण्डिया

प्रथम तो सन् १९३५ से रिज़र्व बैंक आफ़ इण्डिया है। यह कृषि को निम्न प्रकार से आर्थिक सहायता दे सकता है :—

(अ) सरकारी कागज़ों के अथवा स्वीकृत भूमिबन्धक बैंकों के उन स्वीकृत ऋण-पत्रों के आधार पर जिनमे धरोहर रक्खी जा सकती है (Trustee Securities) और जो आसानी से बेचे जा सकते हैं, प्रान्तीय सहकारी बैंकों को और उन केन्द्रीय भूमिबन्धक बैंकों को जो प्रान्तीय सहकारी बैंकों के बराबर घोषित कर दिये गये है और उनके मार्फ़त क्रमशः सहकारी केन्द्रीय बैंकों को तथा प्रारम्भिक भूमि बन्धक बैंकों को नौ महीनों के अन्दर देय ऋण के रूप में ;

(ब) केन्द्रीय सहकारी बैंकों के उन प्रण-पत्रों के आधार पर जो कृषि-सम्बन्धी कामों को मौसमी सहायता देने के लिये तैयार किये जाते हैं, प्रान्तीय सहकारी बैंकों को नौ महीनों के अन्दर देय ऋण के रूप में अथवा डिस्काउण्ट के रूप मे ;

(स) स्वीकृत सहकारी विक्रय और माल रखने वाली समितियों के उन प्रण-पत्रों के आधार पर जिन पर प्रान्तीय सहकारी बैंकों के बेचान हों और जो उपज की बिक्री के लिये बने हों उन्हीं को अधिक से अधिक नब्बे दिन के लिये ऋण के रूप में अथवा यदि वह नौ महीने के अन्दर पकने वाले हों तो डिस्काउण्ट के रूप

में अथवा उन्हीं के उन प्रण-पत्रों के आधार पर जिनके साथ माल रखने वाली समितियों की रसीदें हों अथवा ऐसे माल की गिरवीं रक्खी गई हो जिसके आधार पर इन्होंने विक्रय और माल रखने वाली समितियों को नकद उधार अथवा जमा की हुई रकम से अधिक रकम निकालने दी हो इनको ऋण के रूप में।

अब यह समझने की बात है कि जो ऋण नव्बे दिन के अन्दर वापिस किये जाने की शर्त पर दिये जाते हैं वह तो कृषि के अधिक काम में आ ही नहीं सकते। इन्हें तो प्रान्तीय सहकारी बैंक अथवा वह केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंक जो इनके बराबर घोषित कर दिये गये हैं यदि उनको तीन महीनों के अन्दर-अन्दर इनके वापिस कर देने का निश्चय है तो केवल अपनी अल्पकालीन क्षणिक माँग को पूरा करने के लिये ही प्रयोग मे ला सकते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि वह साधारणतः तो कृषि की अर्थ पूर्ति के लिये रिज़र्व बैंक का सहारा नहीं ले सकते। हाँ, अत्यन्त आवश्यकता पड़ने पर थोड़े समय के लिये ऐसा कर सकते हैं। किन्तु केन्द्रीय सहकारी बैंकों के उन प्रण-पत्रों को फिर से डिस्काउण्ट कर देने की शर्त भी है जो कृषि के मौसमी कामों की सहायता करने के लिये लिखे जाते हैं अथवा ऐसा ही स्वीकृत सहकारी विक्रय और माल रखने वाली समितियों के प्रण-पत्रों के सम्बन्ध मे भी है, और दोनों स्थितियों में प्रण-पत्र नौ महीनों मे पकने वाले हो सकते हैं तथा सहायता प्रान्तीय सहकारी बैंकों ही को प्राप्त हो सकती है। यह अवश्य ही उपयोगी सिद्ध हो सकता है; किन्तु जहाँ तक सहकारी विक्रय अथवा माल रखने वाली समितियों के प्रण-पत्रों का प्रश्न है वह तो यहाँ हो ही नहीं सकते क्योंकि जैसा कि हम जानते हैं इस देश में तो बहुत कम सहकारी विक्रय और माल रखने वाली समितियाँ हैं। उपर्युक्त से यह भी स्पष्ट है कि रिज़र्व बैंक सहायता देने के लिये केवल प्रान्तीय सहकारी बैंकों को मानता है; केन्द्रीय सहकारी बैंकों को नहीं मानता। हम जानते हैं कि कृपक प्रारम्भिक समितियों से ऋण लेते हैं और वह केन्द्रीय बैंकों के पास सहायता के लिये जाती है। अतः, रिज़र्व बैंक के केवल प्रान्तीय बैंकों को सहायता देने के कारण वह केवल इन्हीं से सहायता प्राप्त कर सकते हैं। इसमे सचमुच बहुत ही घुमाव-फिराव है, अतः, यह सुझाव रक्खा जा रहा है कि रिज़र्व बैंक को

उन केन्द्रीय सहकारी बैंकों को भी सहायता देनी चाहिये जो उसके माप के अन्दर आ जायँ।

इम्पीरियल बैंक आफ इण्डिया और अन्य व्यापारिक बैंक

रिजर्व बैंक के बाद इम्पीरियल बैंक आफ इण्डिया तथा अन्य व्यापारिक बैंक है। इम्पीरियल बैंक आफ इन्डिया प्रान्तीय सहकारी बैंकों को और केन्द्रीय सहकारी बैंकों को क्रमशः केन्द्रीय सहकारी बैंकों के तथा प्रारम्भिक सहकारी समितियों के प्रण-पत्रों के आधार पर नकद साख अथवा जमा की हुई रकम से अधिक निकालने के रूप में ऋण देता है। किन्तु इधर यह ऐसे ऋण कम करता जा रहा है, क्योंकि यह प्रण-पत्र प्रायः भूमि के आधार पर लिखे होते हैं और यही भूमि का आधार उपयुक्त आधार नहीं मानता। दूसरे, यह कृषि की सहायता इण्डीजेनस बैंकरों के द्वारा भी करता है क्योंकि वे कभी-कभी अपनी हुण्डियों को इसके यहाँ डिस्काउण्ट कराते है अथवा उपज को गिरवीं रखकर ऋण प्राप्त करते है। अन्य व्यापारिक बैंकों में देश के सम्मिलित पूँजी वाले बैंक आ जाते है। यह लगभग वैसा ही व्यवसाय करते हैं जैसा इम्पीरियल बैंक करता है। इनमे से कुछ ज़मींदारों को उनकी जमीन, इत्यादि के आधार पर भी ऋण देते हैं।

साख सहकारी समितियाँ

(Credit Cooperative Societies)

अब हम साख सहकारी समितियों की ओर आते है। ये इस आधुनिक रूप मे पहिले-पहिल सन् १८४९ मे जर्मनी मे खोली गई थीं। आजकल सहकारी समितियों की जो दो प्रणालियाँ हैं उनके चलाने वाले दो व्यक्ति थे जिनके नाम क्रमशः एफ० डबल्यू रैफिसेन (F. W. Raiffeisen) और फ्रिज हरमन शुल्ज डेलिश (Fritg Hermann Schulze Delitzsch) हैं। इन प्रणालियों को क्रमशः रैफिसेन और शुल्ज डेलिश प्रणालियाँ कहते हैं। प्रथम मे एक ही पड़ोस के अथवा स्थान के रहने वाले बहुत से किसान अपनी इच्छा से मिल जाते है और पारस्परिक सहायता के लिये एक समिति बना लेते है। प्रत्येक सदस्य का दायित्व सीमित रहता है। समिति को जमा से, प्रवेश शुल्क से और कभी-कभी सदस्यों के पूँजी देने

से और उधार के रूप में द्रव्य मिलता है और उसे वह अपने सदस्यों को उनकी आवश्यकतानुसार उधार दे देती है। प्रबन्ध प्रायः निशुल्क होता है; केवल लेखकों को वेतन मिलता है। सब की राय से उनमें जो बहुत ही बुद्धिवान, होता है वही मुख्य कार्य संचालन और देख-रेख करता है। द्वितीय में एक ही शहर में रहने वाले बहुत से कारीगर जो स्वय अपने लिये काम करते हैं मिलकर एक समिति बना लेते हैं। इसमें हर सदस्य को एक जमानती हिस्सा लेना पड़ता है जो काफी ऊँची रकम का होता है। यह कई किस्तों में वसूल की जाती है जिससे वह मितव्ययता सीखते हैं। यह समिति भी जमा और ऋण के रूप में रकम प्राप्त करती है और यह ऋण की रकम उतनी ही अधिक होती है जितनी जमानती पूँजी होती है। सदस्यों का दायित्व प्रायः असीमित होता है किन्तु यह सीमित भी हो सकता है। समिति का द्रव्य सदस्यों में ऋण के रूप मे बाँट दिया जाता है। प्रबन्धक को प्रतिफल के रूप मे उचित रकम भी दी जाती है और लाभ की बँटनी भी होती है तथा उसका एक सुरक्षित कोष भी बनता है। दोनों प्रकार की समितियों की मुख्य-मुख्य बातें संक्षेप में तुलनात्मक रूप में दी जा सकती हैं :—

रैफिसेन समिति	शुल्ज डेलिश
(१) काम करने का क्षेत्र सीमित रहता है।	(१) काम करने का क्षेत्र विस्तृत रहता है।
(२) पूँजी प्रायः नहीं होती। यदि वह होती भी है तो बहुत कम होती है।	(२) पूँजी प्रायः होती है।
(३) सदस्यों का दायित्व असीमित होता है।	(३) सदस्यों का दायित्व कभी-कभी सीमित होता है।
(४) ग़ैर सदस्यों को ऋण नहीं दिया जाता।	(४) ग़ैर सदस्यों को भी ऋण दिया जा सकता है।
(५) ऋण प्रायः उत्पत्ति के कामों के लिये दिया जाता है।	(५) ऋण उपभोग के लिये भी दिया जा सकता है।
(६) लाभ की बँटनी नहीं होती।	(६) लाभ की बँटनी होती है।
(७) प्रबन्ध निशुल्क होता है।	(७) प्रबन्ध के लिये प्रतिफल दिया जाता है।

भारतवर्ष में सहकारिता का विकास

यद्यपि भारतवर्ष में सहकारिता को प्रारम्भ करने के लिये पहिले भी प्रयत्न किये गये थे किन्तु सरकारी तौर पर यह यहाँ पर सन् १९०४ ही में प्रारम्भ हुआ। इसके सम्बन्ध के पहिले वाले सुझाव सर विलियम वैडरबर्न और जस्टिस रान्डे के थे, किन्तु उनके भारत सरकार की स्वीकृति प्राप्त कर लेने पर भी भारत सचिव ने उन्हें स्थगित कर दिया। फिर, सर फ्रेड्रिक निकल्सन ने सन् १८९२ मे भारत सरकार को भूमि और कृषक बैंकों सम्बन्धी अपनी रिपोर्ट पेश की और रैफिसेन प्रणाली की समितियों की संस्थापना का सुझाव रक्खा। किन्तु यह भी कार्यरूप में नहीं लाया गया। तत्पश्चात् संयुक्त प्रान्त सिविल सर्विस के श्री० डुपरनैक्स ने प्रयत्न किया और वह कुछ सफल भी हुये क्योंकि संयुक्त प्रान्त, बंगाल और पजाब में कुछ समितियाँ स्थापित हुई। अन्त में सन् १९०१ में लार्ड करजन की सरकार ने एक कमेटी बनाई जिसकी सिफारिसों के फलस्वरूप सन् १९०४ का सहकारी साख समिति विधान बना।

इस विधान में केवल साख सम्बन्धी समितियों के खुलने का ही प्रबन्ध था, और ग्रामीण समितियों पर नागरिक समितियों की अपेक्षाकृत अधिक जोर दिया गया था। इसके अनुसार एक ही गाँव के अथवा शहर के अथवा वर्ग के अथवा जाति के कोई दस व्यक्ति अपने को एक समिति के रूप मे संगठित करने के लिये आवेदन-पत्र भेज सकते थे। अब, यदि सब सदस्यों के कम से कम ⅘ ग्रामीण होते थे तो वह समिति ग्रामीण साख समिति कहलाती थी, अन्यथा नागरिक कही जाती थी। प्रथम तो रैफिसेन वर्ग की थी और द्वितीय शुल्ज डेलिश वर्ग की। इनके निरीक्षण, आडिट और भङ्ग करने का अधिकार सरकार को दे दिया गया था।

इस आन्दोलन ने खूब ही उन्नति की और सन् १९०४ का विधान अपर्याप्त प्रतीत होने लगा। अतः, सन् १९१२ मे एक दूसरा विधान बना। इसने सन् १९०४ के विधान के दोषों को दूर किया और साख के अतिरिक्त अन्य उद्देश्यों से स्थापित समितियों की संस्थापना के लिये भी नियम रक्खा। इसने अभी तक समितियों का जो विभाजन था, अर्थात्, ग्रामीण तथा नागरिक उसके स्थान पर एक अन्य अधिक

वैज्ञानिक विभाजन का नियम बनाया जिसके अनुसार यह परिमित दायित्व वाली तथा अपरिमित दायित्व वाली कहलाई जाने लगीं। अन्तिम बात यह थी कि इसने केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सहकारी बैंकों की भी योजना की और इस तरह से इसका नीचे से ऊपर तक एक मजबूत संगठन बना दिया। किन्तु साख के अतिरिक्त अन्य कामों के लिये समितियाँ बनाने पर जो पहिले बन्धन था उसको सन् १९१२ के विधान के द्वारा दूर कर देने पर भी आज तक अधिकांश समितियाँ साख समितियाँ ही है।

सन् १९१४ मे सहकारिता के सम्बन्ध मे मैकलेगन कमेटी नियुक्त हुई। उसने अपनी रिपोर्ट प्रकाशित करने के लिये एक वर्ष लिया। उससे समितियों का पुनर्संगठन हुआ और उनके प्रबन्ध में बहुत-सा परिवर्तन हो गया। जो अयोग्य थीं वह बन्द भी कर दी गई। ऋण की वापिसी के लिये समय पालन पर जोर दिया जाने लगा और इनके चलाने मे जनता का हाथ बढ़ा दिया गया।

सन् १९१९ के सुधारों ने सहकारिता को एक हस्तान्तरित विषय बना दिया। अतः, इसके मन्त्रियों (Ministers) ने बड़ी दिलचस्पी दिखलाई और शीघ्र ही बहुत-सी समितियाँ स्थापित हो गई। तब से लगभग प्रत्येक प्रान्त मे इसके सुधार के लिये कमेटियाँ भी बनीं जिन्होंने अच्छे-अच्छे सुझाव रक्खे। रिजर्व बैंक की वैधानिक रिपोर्ट मे भी इस सम्बन्ध मे काफी प्रकाश डाला गया है और पुनसंगठन के लिये अच्छे सुझाव रक्खे गये हैं।

देश में साख सम्बन्धी सहकारिता के आन्दोलन की वर्तमान स्थिति—भारतवर्ष में साख सम्बन्धी सहकारिता के आन्दोलन में (१) प्रारम्भिक सहकारी समितियाँ, (२) केन्द्रीय सहकारी बैंक, तथा (३) प्रान्तीय सहकारी बैंक है। एक अखिल-भारतवर्षीय सहकारी बैंक की भी आवश्यकता है किन्तु वह अभी तक नहीं बना है।

प्रारम्भिक साख सहकारी समितियाँ ग्रामीण तथा नागरिक दोनों प्रकार की हैं। इनकी संख्या क्रमशः लगभग १½ लाख तथा १८००० है। ग्रामीण सहकारी समितियों की पूँजी प्रवेश शुल्क से, हिस्सों (Shares) से, गैर सदस्यों की जमा अथवा ऋण से, केन्द्रीय और

प्रान्तीय सहकारी बैंकों और सरकार के ऋण से तथा अपने कोष से प्राप्त होती है। सब रकम काफी बड़ी है। सन् १९४२-४३ के अन्त में यह १,२१,१४,३२,००० रु० थी। यह किस प्रकार प्राप्त हुई थी यह भी जानने योग्य है :—

हिस्सों से प्राप्त पूँजी	रु० १५,७०,७९,०००
सुरक्षित तथा अन्य कोष	रु० १९,९२,२३,०००
जमा से प्राप्त पूँजी	रु० ७८,४५,३९,०००
ऋण	रु० ७,०५,९१,०००
कुल कार्यशील पूँजी	रु० १२१,१४,३२,०००

इससे यह स्पष्ट है कि सदस्यों से प्राप्त जमा मिलाकर इनकी स्वयं की पूँजी ५६ करोड़ रु० के लगभग है और उधार ली हुई पूँजी ६५ करोड़ रु० के लगभग है।

केन्द्रीय सहकारी बैंक प्रायः जिले के मुख्य शहर में स्थित हैं। इनकी संख्या लगभग ६९० है। इनका काम न केवल प्रारम्भिक समितियों को आर्थिक सहायता देना है बल्कि जिनके पास फालतू रकम है उनकी रकम जिनके पास उसकी कमी है उन्हें देना है और सबका पथ प्रदर्शन और निरीक्षण करना भी है। इन्हें प्रारम्भिक समितियाँ तथा बाहरी लोग दोनों मिलकर बनाते हैं और इनकी पूँजी इनके हिस्सों से, सुरक्षित कोष से, जमा से और ऋण से प्राप्त होती है।

प्रान्तीय सहकारी बैंक इस समय प्रायः सभी बड़े-बड़े प्रान्तों में और कुछ रियासतों में भी है। अधिकांश में इनका संगठन मिश्रित रूप से हुआ है, अर्थात् सदस्यता और सचालक मण्डल दोनों में जन-साधारण तथा सहकारी समितियों और केन्द्रीय सहकारी बैंकों के प्रतिनिधि है। इनकी कार्यशील पूँजी हिस्सों से, सुरक्षित तथा अन्य कोषों से, जनता से, समितियों से, प्रान्तीय और केन्द्रीय बैंकों से और सरकारी ऋण से प्राप्त होती है।

इसकी उन्नति सभी प्रान्तों में एक सी नहीं हुई है। बंगाल, पंजाब और मद्रास में सबसे अधिक समितियाँ है और बम्बई, बिहार, संयुक्त प्रान्त, मध्य प्रान्त और आसाम में इनकी संख्या बहुत कम है। सन् १९४३ में प्रारम्भिक समितियों के सदस्यों की संख्या ६९·१२ लाख थी। यदि हम एक परिवार औसतन ५ व्यक्तियों का मान लें तो यह स्पष्ट

है कि यहाँ पर इनसे ३½ करोड़ लोगों को फायदा होता है। वास्तव में और कोई ऐसी संस्था हमारे यहाँ नहीं है जिससे इतने अधिक लोगों का सम्बन्ध हो।

इस आन्दोलन के मुख्य दोष—किसी भी सहकारी समिति की सफलता उसके सदस्यों के अपने ऋण को समय पर वापिस करने पर निर्भर रहती है। बात यह है कि यह ऋण अल्पकालीन होते है; अतः, इनका भुगतान उपज के विक्रय के साथ-साथ हो जाना चाहिये। किन्तु यहाँ पर ऐसा नहीं हो पाता। यहाँ कृषक समितियों का सन् १९४०-४१ में १०४१ लाख रु० ऐसा बाकी था जो कभी का वसूल हो जाना चाहिये था। यदि हम इसकी तुलना पूरी कार्यशील पूँजी से करे तो यह ३४ प्रतिशत होगा। लोगों को जो ऋण दिया गया था और जो २२५० लाख रु० था उसका यह ४६ प्रतिशत है।

समितियों के अधिकांश सदस्य उनके उद्देश्यों को नहीं समझ पाते। इनकी सहायता से उनको जो अधिकार प्राप्त है और उनके जो दायित्व हैं उन्हे वे नहीं समझते। उन्होंने इनसे मितव्यता और दूरदर्शिता का पाठ भी नहीं सीखा। फिर सहकारी समितियों को अर्थ के अतिरिक्त अन्य बातों का भी सुधार करना चाहिये। उदाहरणार्थ, अच्छी प्रकार रहने का, कृषि करने का, विक्रय का, शिक्षा का, इत्यादि, इत्यादि।

केन्द्रीय और प्रान्तीय बैंकों के कार्यों मे भी कुछ दोष हैं। इधर केन्द्रीय बैंकों से सम्बन्धित समितियों की संख्या बढ़ती जा रही है। रिजर्व बैंक की वैधानिक रिपोर्ट में एक ऐसे बैंक का नाम है जिससे ६८० समितियाँ सम्बन्धित थीं। जहाँ पर इतना काम बढ़ गया है वहाँ अच्छी देख-भाल नहीं हो सकती। न तो प्रान्तीय बैंकों ने और न केन्द्रीय बैंकों ही ने प्रारम्भिक समितियों के प्रति अपने कर्तव्य का पालन किया है। उन्होंने अभी तक अपना ध्यान केवल इनको आर्थिक सहायता पहुँचाने की ओर ही रक्खा है। उन्हे तो इनके उन सभी कामों की ओर ध्यान देना चाहिये जिससे इनका स्तर ऊँचा हो और आन्दोलन दृढ़ होकर बढ़ सके। फिर इनकी स्थिति भी बहुत ठीक नहीं है। प्रायः इनके साधन उतने द्रवित अवस्था मे नहीं हैं जितने होने चाहिये। अन्तिम, यह अपने उधार लेने और देने के ब्याज की दर

में इतना भी अन्तर नहीं रखते कि वह अपना खर्च पूरा करने के वाद कुछ सुरक्षित कोप में भी डाल ले।

सुधार के लिये सुझाव—साख-सहकारी-समितियों को केवल अल्प कालीन साख का ही प्रवन्ध करना चाहिये। अधिक-से-अधिक वह मध्यकालीन साख का भी प्रवन्ध कर सकती हैं। दीर्घ-कालीन साख का तो प्रवन्ध उनको किसी अवस्था मे भी नही करना चाहिये। जव कभी ऋण के लिये प्रार्थना-पत्र आवे सदस्यों को इस वात का पता लगा लेना चाहिये कि वह किस काम के लिये चाहिये। सहकारी समितियों को यदि अपना उद्देश्य पूरा करना है और केवल महाजनों का स्थान नहीं लेना है तो उन्हे यह देखना चाहिये कि उनके सदस्य केवल उत्पत्ति के लिये उधार लेते है। इसके यह अर्थ नहीं हैं कि उपभोग के लिये ऋण दिया ही न जाय, किन्तु ऐसी आवश्यकता ही कम-से-कम कर देनी चाहिये। दूसरी वात जो देखने की है वह यह है कि ऋण लेने वाले मे उसको वापिस करने की क्षमता है अथवा नही। साख सहकारी समितियों को यह भी देखना चाहिये कि उनके सदस्य अपनी आय से अधिक व्यय नही करते। सत्य तो यह है कि उन्होंने अभी तक इस वात पर ध्यान ही नहीं दिया और इसी से उनके ऋण की वसूली नहीं हो पाती। वास्तव मे ऋण का उद्देश्य उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना यह कि ऋण लेने वाला उसे फसल के बिकने के वाद और कुछ परिस्थितियों मे अधिक-से-अधिक तीन वर्षों के अन्दर ही वापिस करने की क्षमता रखता हो।

फिर, जैसा कि रिजर्व वैंक की प्रारम्भिक तथा वैधानिक रिपोर्टों में कहा गया है जो ऋण वसूल नहीं हो रहे है उनके प्रश्न को भी लेना चाहिये। चीजों को टालने से और वार-वार समय वढ़ाने से कोई लाभ नहीं होता। जहाँ पर ऋण पुराने हो गये है सहकारिता का आन्दोलन काम नहीं कर रहा है और सदस्य महाजनों से फिर से ऋण लेने लग गये है। ऋण की वसूली न होने से साख की सरिता का वहाव रुक जाता है। अतः, इस समस्या को शीघ्र ही क्रियात्मक रूप से सुलझाना चाहिये। इन्हे इतना घटा देना चाहिये कि वह आसानी से दिये जा सकें और फिर इनका प्रवन्ध भूमि वन्धक वैंकों के द्वारा करवा देना चाहिये जो कि दीर्घ कालीन साख का प्रवन्ध करने

के लिये बने है। इनका अध्ययन हम आगे चलकर करेंगे। इससे जो हानि होगी उसे यह समितियाँ न छोड़ सकें तो उसका भी प्रबन्ध करना चाहिये। समस्यायों को साहस के साथ सुलझाने से ही काम चलता है। जो बातें स्पष्ट हैं उनका सामना तो करना ही चाहिये।

इन समितियों को भविष्य मे अपने ऋण लेने और देने के व्याज की दर के बीच मे काफी अन्तर रखना चाहिये जिससे इनके पास अच्छे कोप संचित हो जायँ। जो ऋण आजकल वसूल नही हो रहे हैं उन्हे बट्टेखाते छोड़ने में यही कठिनाई है कि समितियों के पास काफी सुरक्षित कोष नही हैं। बात यह थी कि जैसा पहिले भी कहा जा चुका है उन्होंने अभी तक ऋण लेने और देने के व्याज की दर के बीच मे काफी अन्तर रक्खा ही नहीं। इसके यह अर्थ नहीं है कि भविष्य में हम ऐसे ऋण देंगे जो वसूल न होंगे और फिर उन्हे सुरक्षित कोप के सहारे बट्टेखाते मे डाल देंगे। यह केवल उदाहरण के लिये है। सुरक्षित कोप को अनेकों कामों में खर्च किया जा सकता है। समितियों की स्थिति को सुदृढ़ बनाने का यह एक ढङ्ग है।

अन्तिम बात यह है कि किसी समिति का उद्देश्य ही यही है कि उसके सदस्यों की हर तरह से उन्नति हो। उसे कृपकों के सम्पूर्ण जीवन का ध्यान रखना चाहिये। वास्तव मे सदस्यों को सहकारिता के सच्चे महत्व को समझना चाहिये। उसका उद्देश्य केवल ऋण देना ही नहीं है वरन् हर प्रकार से कृपकों के जीवन को सुधारना है। उनकी आय बढ़नी चाहिये; कृपि आर्थिक दृष्टि से लाभदायक हो जानी चाहिये। सच तो यह है कि ग्रामीण अर्थ की समस्या उसके बिना सुलझ ही नही सकती। जैसा कि एक लेखक ने कहा है कि जब तक हम कृपि की उत्पत्ति को इस प्रकार नही बढ़ा पाते कि एक औसत दर्जे के कृपक को उसके वर्प भर के परिश्रम के बाद उसने जो कुछ व्यय किया है उससे अधिक मिल जाय तब तक हम ग्रामीण अर्थ का प्रश्न सुलझा ही नहीं पाते।

केन्द्रीय और प्रान्तीय बैंकों के भी सुधार की आवश्यकता है। जिन स्थानों में एक केन्द्रीय बैंक से बहुत ही अधिक समितियाँ सम्बन्धित है, वहाँ पर उन्हे तहसीलों की इकाई के अन्तर्गत लाना चाहिये। इससे निरीक्षण और नियंत्रण मे सुविधा होगी। फिर, केन्द्रीय बैंकों और प्रान्तीय बैंकों दोनों को बैंकिंग के नियमों के अनुसार सुसगठित होना

चाहिये। उन्हें अपनी सम्पत्ति और पाउने को द्रवित अवस्था में रखना चाहिये। जैसा प्रारंभिक समितियों के सम्बध मे कहा जा चुका है उसी प्रकार इन्हे भी अपने उधार लेने और देने के व्याज की दर में काफी अन्तर रखना चाहिये। आजकल जो एक वर्ष से दूसरे वर्ष मे बट्टे की रकमों को ले जाने की चाल है उसे आय बढ़ाने से ही बन्द किया जा सकता है। अन्तिम बात यह है कि केन्द्रीय सहकारी बैंकों और व्यापारिक बैंकों के बीच मे सम्बन्ध बढाने की वहुत आवश्यकता है। केन्द्रीय सहकारी बैंक व्यापारिक बैंकों का प्रयोग उनमें अपने बचे हुये द्रव्य को लगाने के लिये और सरकारी साख-पत्रों के आधार पर ऋण लेने के लिये कर सकते है। इसके विपरीत व्यापारिक बैंक केन्द्रीय सहकारी बैंकों का प्रयोग उन स्थानों पर अपने बिलों की वसूली करने के लिये कर सकते हैं जिनमे उनके स्वय के दफ्तर नहीं है। इस प्रकार की पारस्परिक सहायता से दोनों लाभ उठा सकते है।

रिज़र्व बैंक ने सहकारी समितियों और बैंकों को जो द्रव्य भेजने की सुविधा दे रक्खी है—रिज़र्व बैंक सहकारी समितियों और बैंकों से १ अक्टूबर सन् १९४० से द्रव्य भेजने के लिये निम्न रियायती व्यय लेता है :—

५००० रु० तक		५००० रु० के ऊपर	
प्रतिशत दर	न्यूनतम व्यय	प्रतिशत दर	न्यूनतम व्यय
१/१६	रु० आ० पा०	रु०	रु० आ० पा०
रु०	०—४—०	१/३२	३—२—०

ऋण देने वाले और इण्डीजेनस बैंकर

ऋण देने वाले और इण्डीजेनस बैंकर कृषि की जिस प्रकार आर्थिक सहायता करते हैं उसका हम अध्ययन कर ही चुके हैं। कहना न होगा कि उनके काम करने के ढङ्ग की सादगी और ऋण लेने वालों से उनके व्यक्तिगत सम्बन्ध, उनके स्थानीय ज्ञान तथा अनुभव के कारण ऐसा भविष्य मे भी बराबर होता रहेगा। निस्सदेह, सन् १९३७ के बाद जो मन्दी चली थी, कृषक ऋण लेने वालों की जो रक्षा कर दी गई है, सहकारी समितियों के विकास, डिक्री देने मे विलम्ब तथा उनमें से कुछ जो बुरा वर्ताव करते हैं उसके कारण उन सभी के ऊपर सन्देह की

दृष्टि के कारण उनकी दशा इधर बहुत बिगड़ गई है। किन्तु इधर उनका सुधार करने लिये प्रयत्न किये गये हैं और ऐसी आशा है कि वह भविष्य में अधिक लाभप्रद साबित होंगे। कृषि की आर्थिक सहायता की, किसी समस्या के हल की तथा उनके सुधार की कोई भी योजना तब तक सफल नहीं हो सकती जब तक कि कृषकों के इस समय के ऋण का निपटारा और उनका भुगतान न हो जाय। आसाम, बंगाल, मध्य प्रान्त और पञ्जाब मे ऋण के निपटारे के सम्बन्ध मे विधान बन चुके हैं। इनके अनुसार वहाँ की प्रान्तीय सरकारें इसके लिये बोर्ड बना सकती हैं। उनका उद्देश्य ऋणियों और महाजनों के बीच मे समझौता करा कर ऋण का निपटारा करने का है। कोई भी ऋणी अथवा महाजन उनके यहाँ इसके लिये प्रार्थना-पत्र भेज सकता है। ऐसा होने पर वह महाजन और ऋणियों से क्रमशः उनके ऋण और सम्पत्ति तथा पाउने, इत्यादि की सूचना माँगते हैं। ऋण के सम्बन्ध मे उन्हे प्रमाण भी देने पड़ते है। जब सूचना मिल जाती है तब बोर्ड ऋणी का महाजन से समझौता कराने का प्रयत्न करता है। अब, यदि इसमें सफलता मिल जाती है तो समझौते की रकम को २०,२५ किस्तों में देने की योजना बना दी जाती है। महाजनों के बोर्ड के द्वारा किये हुये किसी निपटारे को न मानने पर उन्हे बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। ऐसी स्थिति मे बोर्ड ऋणी को एक प्रमाण-पत्र दे देता है, और महाजन के अदालत मे जाने पर उसको न तो उसका खर्च और न ६ प्रतिशत से अधिक ब्याज मिलता है। जो महाजन निपटारे को स्वीकार कर लेते हैं उनके ऋण की अदायगी का पहिले प्रबन्ध कर दिया जाता है। निपटारे के स्वीकृति के जो लाभ और अस्वीकृति की जो हानियाँ हैं वह सब प्रान्तों में एक सी नहीं हैं। इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं तो जैसे पंजाब में बोर्डों के सामने वकील आ सकते हैं; और कहीं-कहीं जैसे मध्य-प्रान्त, आसाम, मद्रास और बंगाल में ऐसा नहीं हो सकता। इसी तरह से मध्य प्रान्त, आसाम और बंगाल मे यह है कि यदि ऋणी कोई किस्त नहीं देता तो वह लगान वसूल करने वाले विभाग के द्वारा वसूल कराई जा सकती है। ऋण के निपटारे की योजना उसका उसी समय भुगतान का प्रबन्ध कर देने पर और भी सफल हो सकती है। ऐसा जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे भूमि बन्धक बैंकों के द्वारा ही

सम्भव है। तब भी भिन्न-भिन्न प्रान्तों मे ऋण के निपटारे के जो अंक है उनसे इसकी लोकप्रियता का पता लग जाता है।

कहीं-कहीं तो कृषि की उपज की कीमतों मे जो कमी हो गई थी उसी के फलस्वरूप कृषि सम्बन्धी ऋणों के छुटकारे के लिये जो विधान बने थे उनके अनुसार कृषकों के ऋण बहुत कम कर दिये गये थे।

ग्रामीण दिवाले का जो विधान है उसे उन ऋणियों के सम्बन्ध मे अवश्य लगाना चाहिये जिनके पास खर्च भर पैदा करने के लिये भी भूमि नहीं है और जिनकी सम्पत्ति और ऋण शोधन क्षमता इतनी भी नहीं है कि वह ऋण को बहुत अधिक घटा देने पर भी अदा कर सकें।

आजकल ऋणदाताओं और महाजनों का कृषकों के ऊपर जितना ऋण है उसका निपटारा करने और उसमें कमी करने पर तथा उसका भुगतान करने और जहाँ आवश्यकता हो उसको समाप्त कर देने के बाद और काम करने के ढङ्ग का सुधार कर देने पर वे बड़े लाभदायक सिद्ध हो सकते है। हाँ, वे अल्पकालीन, मध्यकालीन और दीर्घकालीन तीनों प्रकार के ऋण देने का प्रबन्ध नही कर सकते। बात यह है कि इनमे स्वाभाविक भेद है। अधिक-से-अधिक जो वह कर सकते है वह यह है कि वह प्रथम और दूसरे ऋण देने का प्रबन्ध कर दें। फिर, इस बात का भी प्रबन्ध करना होगा कि कृषक फिर ऋणग्रस्त न हो जाँय; और यह तभी हो सकता है जब उन्हे इनसे असीमित ऋण लेने से रोक दिया जाय। संयुक्त प्रान्त के एक विधान मे (Money-Lender's Bill, 1939) यह दिया हुआ है कि कोई महाजन एक वर्ष मे किसी कृषक की उपज के एक चौथाई से अधिक को अपने ऋण की अदायगी में नहीं पा सकता और न ही वह ऐसा बराबर चार वर्षों से अधिक कर सकता है। इसके यह अर्थ हुये कि महाजन केवल उपज की कीमत तक का ही ऋण दे सकता है। कैलवर्ट कमेटी के सुझाव के अनुसार स्वीकृत ऋणदाताओं और महाजनों के उपज के आधार पर दिये हुये ऋणों के लिये उपज से ऋण वसूल करने का प्रथम अधिकार देना चाहिये।

(ब) मध्यकालीन ऋण की आवश्यकता

कृषि के धन्धे के सम्बन्ध के जो व्यय है उनके लिये ऋण की

जो आवश्यकता पड़ती है उसके अतिरिक्त कृषकों को मवेशी खरीदने के लिये और खेतों में बराबर किये जाने वाले सुधार करने के लिये मध्यकालीन ऋण की आवश्यकता पड़ती है। जैसा कि पहिले भी कहा जा चुका है, इसमें फसल को लाभ पर बेचने के लिये भी जिस सहायता की आवश्यकता पडती है उसको भी सम्मिलित किया जा सकता है। इन कामों के लिए जो ऋण लिया जाता है उसका भुगतान एक वर्ष के अन्दर नहीं किया जा सकता। अतः, उसके लिये एक लम्बी अवधि चाहिये जो तीन वर्ष से लेकर पाँच वर्ष तक की हो सकती है। इसके लिये कृषक जो जमानत दे सकता है, वह उसकी चल सम्पत्ति की हो सकती है, जैसे जेवरात अथवा मवेशी अथवा फसल।

मध्यकालीन ऋण देने के लिये वर्तमान संगठन और उनके सुधार के लिये सुझाव

अल्प कालीन ऋण के लिये जो सगठन है वही प्रायः मध्य कालीन ऋण भी देते हैं। यदि हम फसल बेचने के लिये जो सहायता चाहिये उसको हम लें तो यह वहाँ से प्रारम्भ होती है जब वह खलिहान में तैयार हो जाती है। कभी-कभी तो यह उससे पहिले भी प्रारम्भ हो जाती है; अर्थात्, उसी समय से जिस समय से कृषक इस शर्त पर ऋण लेता है कि वह उपज के तैयार होने पर उसे ऋणदाता के हाथ पहिले से निश्चित मूल्य पर बेच देगा। कहना न होगा कि न तो कृषक ही और न यह ऋणदाता ही इस उपज को बहुत दिनों तक अपने पास रख सकते है, अतः, वह बड़े-बडे महाजनो के पास पहुँच जाती है। यह प्रायः अढतिये होते हैं; और अन्त में आर्थिक सहायता का बोझ इन्हीं के ऊपर पड़ता है। यदि इन्होंने जिससे माल पाया है उसको पहिले से ही ऋण दे रक्खा था तो यह केवल किताबी जमा-खर्च कर लेते है। अन्य स्थितियों में इन्हे नकदी देनी पड़ती है। हाँ, यदि यह इन्हे आढ़त पर रखते है तो इन्हे उसका कुछ प्रतिशत व्यापारी से मिल जाता है। अब, इनको भी आर्थिक सहायता की आवश्यकता पड़ती है जो निम्न सगठनों से प्राप्त होती है—

(१) दूसरे महाजनों से अथवा इम्पीरियल बैंक और सम्मिलित पूँजी के बैंकों से—जिस शर्त पर और जितनी रकम के ऋण इनसे मिल सकते है वह उनकी साख पर निर्भर है। कभी-

कभी तो उसे प्रण-पत्र लिखना पड़ता है, कभी-कभी हुण्डी से काम चल जाता है और कभी-कभी उसके पक्ष मे एक चालू खाता खोल दिया जाता है। जब ऋण मुद्दती हुण्डी के आधार पर किसी अन्य महाजन से प्राप्त हो जाता है तब कभी-कभी वह हुण्डी फिर किसी व्यापारिक बैंक से भुना ली जाती है।

(२) माल भरती पर ऋण—माल गोदाम में भरा रहता है; अतः, उस पर भी ऋण मिल जाता है। यदि ऋणदाता कोई महाजन ही होता है तो वह उसके ऊपर ऐसे ही ऋण दे देता है। हाँ, यदि वह इम्पीरियल बैंक अथवा कोई अन्य सम्मिलित पूँजी वाला बैंक होता है तो वह गोदाम में अपना ताला और अपने नाम की तख्ती भी लगाता है।

(३) माल की चलानी पर ऋण—यदि माल वहीं की वहीं बिक जाता है तो उसका मूल्य नकद अथवा बाजार के चलन के अनुसार एक उचित अवधि के अन्दर मिल जाता है; और यदि वह बाहर जाता है तो भी मूल्य या तो सीधे ही प्राप्त हो जाता है या उसके लिये दर्शनी हुण्डी कर ली जाती है जो खाली हो सकती है अथवा जिसके साथ बिल्टी भी हो सकती है। खाली हुण्डी होने पर बिल्टी माल खरीदार के नाम करके वैसे ही उसके पास भेज दी जाती है, और जब उसके साथ बिल्टी भी होती है तब वह बैंक को दे दी जाती है जो अपनी शाखा के द्वारा अथवा अपने किसी अन्य अढ़तिये बैंक के द्वारा हुंडी की रकम वसूल करवा कर उसे माल खरीदार के नाम कर देता है। प्रायः बैंक माल भेजने वाले से हुण्डी का दाम देकर हुण्डी खरीद लेता है।

उपर्युक्त से यह स्पष्ट है कि आजकल का जो ढङ्ग है उसमें बड़ी अड़चने हैं जिन्हें दूर करना चाहिये। प्रथम तो कृषक अपनी उपज को अधिक दिनों तक अपने पास नहीं रख सकता जिससे उसे ऊँची कीमत नहीं मिल पाती। सहकारी समितियाँ उसके माल को लेकर उसे ऋण दे सकती है और फिर माल को अच्छी कीमत पर बेच सकती हैं। इससे कृषक को न केवल ऊँचे दाम ही मिल जायँगे वरन् उसकी माल बेचने की बहुत सी मुसीबतें भी दूर हो जायँगी। दूसरे, माल भरने की कठिनाइयाँ है। कृषक अपना माल मटकों में, बोरों मे, चटाई के घेरों मे, मिट्टी और डालियों के घेरों में, अथवा

ज़मीन के अन्दर की खत्तियों में रखते हैं। बाजार में भी यही सब चीजें हैं; हाँ, वह कुछ बड़ी अवश्य होती हैं। अतः, चूहों और घुन से अथवा भूमि के अन्दर की नमी से बड़ी हानि होती है। प्रारम्भ के व्यय अधिक होने के कारण अच्छे तरीकों का प्रयोग तो नहीं हो सकता; हाँ, लाइसेन्स प्राप्त गोदाम अवश्य स्थापित किये जा सकते हैं। विधानतः इन्हे हवा सम्बन्धी, मिलावट करने के विरुद्ध, माल के वर्गीकरण की और प्रबन्ध की शर्तों का पालन करना पड़ता है। इन पर सरकार का निरीक्षण और नियन्त्रण भी रहता है। गोदामों की रसीद अच्छे अधिकार-पत्र का काम देती है और इसी से ऋण के लिये ज़मानत का अथवा हुण्डियों के आधार स्वरूप काम देती हैं। तीसरे, अधिकांश व्यापार नकदी का होता है, जहाँ उधार होता भी है वहाँ भी केवल जमा खर्च कर लिया जाता है; साख-पत्र प्रयोग में नहीं लाये जाते। मुद्दती हुंडियों का चलन बढ़ाने की आवश्यकता है। यह अच्छा अधिकार देने वाली होने के कारण सब जगह स्वीकृत हो जाती हैं और यह साख की बुनियाद का काम करती हैं। चौथे, दर्शनी हुंडियों के आधार स्वरूप बिल्टियाँ बहुत कम होती हैं। अतः, उपर्युक्त सुधार होने से बैंक हुंडियों के व्यवसाय को अधिक मात्रा में करेंगे।

कुछ प्रान्तों में वहाँ की सरकारें रुपया उधार देकर गोदामों के बनने में बड़ी सहायता कर रही हैं। तो भी इस काम को रिज़र्व बैंक बड़ी अच्छी तरह से अपने हाथ मे ले सकता है और उसमें कृषि सम्बन्धी अन्वेषण करने के लिये जो इम्पीरियल काउन्सिल है वह भी इस सम्बन्ध की माल के छाटने और रखने की जो समस्यायें हैं उनको हल करने में बड़ी सहायता दे सकती है। नोटों से जो लाभ होता है वह इस काम मे लगाया जा सकता है। गोदामों का प्रबन्ध भी इसकी देख-रेख मे हो सकता है। इससे उनकी रसीदें सर्वोच्च साख-पत्र का काम दे सकती हैं।

अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति ऋणदाता और महाजन लोग कर सकते हैं। वे अल्पकालीन ऋण के साथ-साथ मध्यकालीन ऋण भी आसानी से दे सकते हैं।

दीर्घकालीन ऋण की आवश्यकतायें

भारतीय कृषक बहुत से कामों के लिये दीर्घकालीन ऋण लेते

हैं। इनकी अवधि २० वर्ष से लेकर ३० वर्ष तक की हो सकती है। इनके उद्देश्य सहकारी समितियों के और महाजनों के पुराने ऋण का भुगतान करना, ऊसर भूमि को उपजाऊ बनाना, खेतों का सुधार करना, मकान बनवाना, कुंओं को खुदवाना, भूमि खरीदना, सिंचाई की नालियों को बनाना और मशीन, इत्यादि खरीदना हो सकते हैं। सहकारी समितियों के और महाजनों के ऋणों का भुगतान करने की आवश्यकता के विषय मे पहिले ही काफी कहा जा चुका है। बढ़ती हुई जन सख्या की आवयकताओं की पूर्ति के लिये ऊसर भूमि को उपजाऊ बनाने और खेतों के सुधार करने की भी बड़ी आवश्यकता है। कहीं-कहीं पर जहाँ सिंचाई का प्रबन्ध नहीं है वहाँ कुवों का खुदवाना भी बहुत आवश्यक हो गया है। कृषकों के लिये अच्छे मकान बनाने की भी बड़ी आवश्यकता है। फिर, कुछ खेत तो बहुत ही छोटे हैं। अतः, बगल की ज़मीन ख़रीदने की बहुत आवश्यकता है। कभी-कभी अपने परिवार के ही उन लोगों की ज़मीन ख़रीदने की आवश्यकता पड़ जाती है जो कृषि का उद्यम नहीं करना चाहते। इन्हे ख़रीद लेने से अपने खेत बड़े हो जाते हैं, अथवा छोटे होने से रुक जाते हैं; और दूसरे लोगों के उन्हे ख़रीद लेने से जो झगड़े का डर हो जाता है वह नहीं रहता। अन्तिम बात यह है कि खेतों के एकीकरण और सुधार के फलस्वरूप मशीन, इत्यादि के प्रयोग की भी आवश्यकता उत्पन्न हो जाती है। कहना न होगा कि इन सब कामों के लिये जो ऋण लिये जाते है उनका भुगतान जल्दी नहीं हो सकता। सच तो यह है कि इनसे उत्पन्न लाभ बहुत दिनों तक चलते हैं अथवा इनका भुगतान भी उसी अवधि के अन्दर होना चाहिये।

भूमि-बन्धक बैंक

दीर्घकालीन ऋण की प्राप्ति के लिये किसी संगठन के न होने के कारण कृषकों को अपनी इस माँग की पूर्ति के लिये महाजनों का दर्वाजा खटखटाना पड़ता है और उन्हे बड़ी ऊंची दर के हिसाब से ब्याज देना पड़ता है तथा अन्य कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है जिससे कि उनके ऊपर एक बड़ा भारी बोझ लदता चला जा रहा है। यह सुझाव तो पहिले ही रक्खा जा चुका है कि पुराने ऋणों का निपटारा हो जाना चाहिये और उन्हे काफी घटाकर उनका भुगतान हो

जाना चाहिये। महाजन कृषकों की सब आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकते। उन्हें केवल अल्पकालीन तथा मध्यकालीन आवश्यकताओं की पूर्ति करनी चाहिये। दीर्घकालीन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये भिन्न-भिन्न देशों में वहाँ की सरकारों ने भूमि संस्थायें स्थापित कर रक्खी है। इधर हमारे देश में भी कुछ भूमि बन्धक बैंक स्थापित कर दिये गये है, किन्तु उनकी संख्या बहुत कम है। सन् १९४२-४३ मे यह २७१ थी। सदस्यों की संख्या १,१९,७८२ थी; हिस्सों की पूँजी ४९,१६,९६७ रु० थी; जनता और सरकार द्वारा लिये गये ऋण-पत्रों का मूल्य क्रमशः ३६४,०२,५५५ रु० और ७,१९,१४८ रु० था; जमा १०,९९,५५६ रु० की थी; सुरक्षित कोष और दूसरे कोष २३०६,८६० रु० के थे और ऋण ३,२३,६९, ८७८, रु० के थे तथा इस तरह से कुल कार्यशील पूँजी ७,७८,१७;९६४ रु० की थी। इसमें से जनता को ३६,१८,१३० रु० का ऋण दिया गया था और बैंकों तथा समितियों को ३८,४८,८१४ रु० का। देश के विस्तार को देखते हुये यह स्थिति बहुत ही असन्तोषप्रद थी।

यह बैंक मुख्यतः तीन प्रकार के होते हैं :—

(अ) नितान्त सहकारी, (ब) व्यापारिक और (स) अर्ध सहकारी (Quasi co-operative)। नितान्त सहकारी भूमि बन्धक बैंक ऋण लेने वालों के ऐसे संगठन हैं जो ब्याजू देखनहार रेहन-पत्रों के आधार पर द्रव्य एकत्रित करते हैं। व्यापारिक भूमि बन्धक बैंक की हिस्सों की पूँजी होती है और वह लाभ के लिये काम करता है तथा लाभ की बँटनी करता है। अर्ध सहकारी बैंक के ऋण लेने वाले तथा ऋण न लेने वाले दोनों प्रकार के सदस्य होते हैं और वे एक बहुत बड़े क्षेत्र मे काम करते हैं। इनकी हिस्सों की पूँजी होती है और दायित्व सीमित होता है।

भारतवर्ष में अधिकांश बैंक अर्ध सहकारी हैं। बात यह है कि वे कुछ ऋण न लेने वाले व्यक्तियों को भी प्रारम्भिक पूँजी प्राप्त करने और उनके व्यापारिक गुणों, संगठन करने और प्रबन्ध करने की शक्ति को पाने के उद्देश्य से अपने सदस्य बना लेते हैं।

मद्रास में सहकारी भूकि बन्धक बैंक सबसे अधिक हैं। सन् १९२५ के लगभग सीमित दायित्व के आधार पर हिस्सों की पूँजी वाले और प्राप्त पूँजी से अठगुना और दसगुना ऋण लेने की शक्ति

रखनेवाले दस बैंक वहाँ पर स्थापित किये गये थे। ऋण देने पर उनके पास जो भूमि रेहन के रूप मे प्राप्त हो जाती थी उसी के आधार पर उन्हें ऋण-पत्रों को निकालने का अधिकार दे दिया गया था। सरकार ने भी कम-से-कम जनता के द्वारा क्रय किये गये ऋण-पत्रों के बराबर और एक बैंक के अधिक से-अधिक ५०,००० रु के ऋण-पत्र तथा सारे प्रान्त के अधिक-से-अधिक २½ लाख के ऋण-पत्र खरीदने का वचन दिया था। किन्तु अधिकाश बैंक जनता मे ऋण-पत्र वेचने मे काफी सफल नही हुये। अतः, टाउन्सैण्ड कमेटी की सिफारिश के अनुसार एक केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंक की संस्थापना की गई जो सब बैंकों को आर्थिक सहायता देने के लिये और एक की बचत दूसरे को देने के लिये बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ। ऋण पत्र निकालने का काम यही करने लगा और इसमे इसको सफलता भी प्राप्त हुई। प्रान्तीय सरकार ने इन पर के सूद देने का दायित्व अपने ऊपर ले लिया। उसने १५००० रु० की मुक्त पूँजी भी दी। साथ ही उसके अनुभवी काम करने वाले भी इसे दिये गये प्रारम्भिक भूमि बन्धक बैंक अपने रेहन इसको दे देते है और यह उनके आधार पर ऋण-पत्र निकालता है। सन् १९४२-४३ मे प्रारम्भिक भूमि बन्धक बैंकों की संख्या ११९ हो गई थी।

अन्य प्रान्तों मे भी भूमि बन्धक है। सन् १९४०-४१ मे पञ्जाब मे १०, बम्बई मे १८, बङ्गाल मे १० और आसाम मे ४ भूमि बन्धक बैंक थे। पञ्जाब के दो बैंक तो सारे ज़िले भर मे काम करते थे और शेष केवल एक तहसील ही में काम करता था। मद्रास को छोड़कर अन्य प्रान्तों मे केन्द्रीय बैंक नहीं हैं। अतः, वहाँ प्रारम्भिक बैंक ही अपने ऋण-पत्र निकालते है। वस्तुतः, एक केन्द्रीय सङ्गठन की तो सभी जगह आवश्यकता है। इन सहकारी भूमि बन्धक बैंकों के ढङ्ग भिन्न-भिन्न स्थानों मे भिन्न-भिन्न है। साधारणतया तो उनके यहाँ की सरकारों ने ऋण-पत्रों के व्याज अथवा उनकी पूँजी अथवा दोनों के दायित्व को अपने ऊपर ले लिया है और कहीं-कही तो कुछ को खरीदा भी है। फिर, उन्होंने अपने अनुभवी कर्मचारियों का, आडिट का और नियन्त्रण का भी प्रबन्ध कर रक्खा है।

भूमि बन्धक बैंक को और भी उपयोगी बनाया जा सकता है।

प्रथम तो उनमे काम करने के ढङ्ग को एक सा किया जा सकता है। दूसरे, हर प्रान्त में एक केन्द्रीय बैंक का होना आवश्यक है। जहाँ वह नहीं खुल सकते वहाँ बम्बई, बङ्गाल और पञ्जाब की ही तरह प्रान्तीय सहकारी बैंकों ही को ऋण-पत्र निकालने का और प्रारम्भिक बैंकों की सहायता करने का काम दिया जा सकता है। तीसरे, जहाँ-जहाँ कृपकों की भूमि की बिक्री पर रोक है, वहाँ-वहाँ पर उसके क़ानून को इस प्रकार बदलना पड़ेगा कि उनको भूमि बन्धक बैंकों को आसानी से हस्तान्तरित किया जा सके। चौथे, प्रारम्भ मे उनकी सफलता के लिये सरकारी सहायता की आवश्यकता पड़ेगी; अतः, वह प्राप्त होनी ही चाहिये। अन्तिम बात यह है कि रिज़र्व बैंक भी उन्हें कई प्रकार से सहायता दे सकता है। अभी तक वह केवल उन्हीं केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंकों को जो प्रान्तीय सहकारी बैंकों के बराबर घोपित कर दिये गये हैं केवल आवश्यकता पड़ने पर सरकारी साख-पत्रों के आधार पर ९० दिन के लिये ऋण देने के लिये तैयार है। यदि उनके ऋण-पत्रों पर के ब्याज और उनकी पूँजी का दायित्व प्रान्तीय सरकार ने अपने ऊपर ले लिया है और वह बाज़ार मे आसानी से बिक सकते है तो वह उन्हे ख़रीद भी लेता है। फिर, वह उनके कामों का भी अध्ययन करता रहता है और समय पड़ने पर उन्हे मन्त्रणा भी देता है। उसने उनकी सहायता करने के सम्बन्ध मे एक विज्ञप्ति तैयार की है और उसे केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंकों और सहकारी समितियों के प्रान्तीय रजिस्ट्रारों के पास भेजा है। इसमें ऋण-पत्रों के निकालने के सम्बन्ध मे बहुत अच्छे सुझाव है। किन्तु बहुत से ऐसे काम हैं जो रिज़र्व बैंक अभी कर सकता है। वह उनके ऋण-पत्रों को बेच सकता है। द्रव्य के बाज़ार से बराबर सम्बन्धित रहने के कारण वह यह जानता है कि इनके निकालने का कौन सा समय सबसे उपयुक्त है और इन पर ब्याज की क्या दर देनी चाहिये। एक साधारण भूमि बन्धक बैंक की अपेक्षा इसकी शक्ति अधिक अपार है। जब यह ऋण-पत्र निकालेगा तो वह बहुत ही सुरक्षित समझे जायँगे। इसका भूमि बन्धक बैंकों के ऊपर कुछ नियन्त्रण भी होना चाहिये। उनके हिसाब-किताब का इसी को आडिट करवाना चाहिये। इसे उनके व्यवसाय के सम्बन्ध मे मन्त्रणा देनी चाहिये और उनके ऋण देने मे भी नियन्त्रण रखना चाहिये। फिर, अचल

सम्पत्ति के मूल्य आंकने का काम भी बहुत कठिन है। अतः, यह इसके लिये भी अपने अनुभवी कर्मचारी दे सकता है।

भूमि बन्धक बैंक केवल कृषकों की ही सहायता कर सकते है। किन्तु कृषि से सम्बन्ध रखने वाले अन्य लोगों की सहायता करने का भी प्रश्न है और इनमे बड़े-बड़े भूमिपति भी है। अभी तक तो वह केवल उपयोग के ही लिये बड़े ऊँचे ब्याज पर ऋण लेते रहे है। किन्तु वे उत्पादन सम्बन्धी कामों के लिये भी ऋण ले सकते है। उदाहरण के लिये भूमि में और कृषि के ढङ्ग में सुधार करने के लिये भी वह ऋण ले सकते हैं। अतः, ऐसी अवस्था में इन्हें कम ब्याज पर ऋण मिलने का प्रबन्ध होना चाहिये। बारहवें अध्याय मे बंगाल के लोन आफिसों के विषय मे बताया जा चुका है। बैंकिंग सम्बन्धी अन्वेषण करने वाली बंगाल की और केन्द्रीय कमेटियों ने इनके ऊपर भी नियन्त्रण रखने के सुझाव रक्खे थे। आजकल थोड़ी-थोड़ी पूँजी की ऐसी बहुत सी संस्थाये हैं। इनका एकीकरण और सुधार होना चाहिये। इसके लिये एक अच्छे विधान की आवश्यकता पड़ेगी। इसके लिये अन्य प्रान्तों मे भी सम्मिलित पूँजी वाले भूमि बन्धक बैंक स्थापित किये जा सकते है।

रिज़र्व बैंक का कृषि-साख-विभाग और कृषि की सहायता सम्बन्धी उसके कार्य

इस अध्याय में और पिछले अध्यायों मे भी रिजर्व बैंक के कृषि-साख-विभाग का कई बार उल्लेख किया जा चुका है। अतः, हमे यहाँ पर उसके कार्यों का एक साथ अवलोकन कर लेना चाहिये। इस विभाग के तीन अङ्ग है :—कृषि साख, बैंकिंग और अङ्क तथा अन्वेषण (Statistical and Research)। यहाँ पर हमें केवल कृषि-साख-अङ्ग का अध्ययन करना है; अन्य अंगों का अध्ययन हम आगे चलकर उपयुक्त स्थान मे करेंगे।

कृषि-साख-अङ्ग के तीन कार्य है। प्रथम तो वह ग्रामीण अर्थ की और विशेषतः सहकारिता की समस्याओं का अध्ययन करता है और ग्रामीण ऋण से मुक्ति दिलवाने के सम्बन्ध मे क़ानून बनवाता है। दूसरे, यह अपने कर्मचारियों द्वारा सहकारिता के आन्दोलन से निकटतम सम्बन्ध रखता है। इसके लिये यह सारे देश मे इसका

अध्ययन करते हैं। उनके सुझाव बराबर छपते रहते हैं। तीसरे, यह अपनी सेवाओं को उन केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों के लिये और सहकारी तथा अन्य बैंकों के लिये देता है जो कृषि साख-सम्बन्धी समस्याओं पर इसकी राय लेना चाहते हैं।

रिज़र्व बैंक विधान की ५५ (१) धारा के अनुसार रिज़र्व बैंक पर जो दायित्व रक्खा गया था उसके सम्बन्ध में जो प्रारम्भिक और वैधानिक रिपोर्टें निकली हैं उनका उल्लेख भी किया जा चुका है। इन्हें और इण्डीजेनस बैंकरों को रिज़र्व बैंक से सम्बंधित करने के लिये जो योजना तैयार की गई थी उसे तैयार करने का श्रेय उसके कृषि-साख-अङ्ग को ही है। कोदिनर के बैंकिंग यूनियन की रिपोर्ट सहकारी ग्राम्य बैंक, बर्मा मे सहकारी आन्दोलन की गति विधि और भारतवर्ष मे उसका उपयोग, पञ्जाब के होशियारपुर जिले की ऊना तहसील के एक गॉव पंजावर मे सहकारिता प्रभृति स्मरण-पत्र भी इसी ने निकाले है। भिन्न-भिन्न प्रान्तों में ऋण सम्बन्धी जो भिन्न-भिन्न विधान बने हैं वह भी इसकी दोनों रिपोर्टों में दिये हुये सुझावों के आधार पर ही बने हैं। बिलों पर जो स्टाम्प कर लगता है उसमें जो कमी की गई है वह भी इसी के प्रयत्नों के फलस्वरूप है।

किन्तु यह विभाग केवल इतना ही नहीं कर सकता। भारतवर्ष में बिल के बाज़ार का विकास बहुत ही आवश्यक है। अभी तक बैंक ऋण और डिस्काउण्ट दोनो के लिये एक ही दर रक्खे हुये है। इस विभाग को उसे यह सुझाना चाहिये कि ऋण पर की व्याज की दर डिस्काउण्ट की दर से कुछ ऊँची रखनी चाहिये। इसे उसे यह भी सुझाना चाहिये कि वह सर्राफों और अन्य नागरिक महाजनों को गॉवों के महाजनों की मुद्दती बिलों के आधार पर आर्थिक सहायता करने के लिये प्रोत्साहित करे। ग्रामीण महाजन कृषकों को जो ऋण देते है उसमें भी उन्हे उनके ऊपर बिल करने के लिये कहा जा सकता है। यह बिल फसल की मुद्दत के होने चाहिये क्योंकि उसी की बिक्री से तो वे लोग इनका भुगतान कर सकते है। इस बैंक को भी अन्य केन्द्रीय बैंकों की तरह द्रव्य का व्यापार करने वाले सभी लोगों से आवश्यकता पड़ने पर सीधा काम करने का अधिकार मिला हुआ है। किन्तु इस विभाग को उसे यह समझाना पड़ेगा कि वह कम से कम कुछ दिनों तक तो यह काम साधारण रूप मे भी करता

रहे। बात यह है कि बिलों के प्रयोग को प्रोत्साहित करने के लिये इसे प्रारम्भ मे गाँवों मे ऋण देने वाली सस्थाओं से अपना सीधा सम्बन्ध रखना पड़ेगा। दूसरे, इसे मूल्याकन और आडिट के लिये अपने कर्मचारी रखने चाहिये। इससे सहकारी और भूमिबन्धक बैकों को बडा लाभ होगा। तीसरे, इसे रिजर्व बैक विधान का इस प्रकार संशोधन करा लेना चाहिये कि उसके अन्तर्गत देशी रियासतों के[1] सहकारी बैक भी आ जायँ। आजकल ऐसा नही है। चौथे, इसे बंगाल के लोन आफिसों और मद्रास के निधि और चिट फण्ड की समस्यायों का भी अध्ययन करना चाहिये और उनको अधिक उपयोगी बनाने के लिये सुझाव रखने चाहिये। पाँचवे, इसे जैसा कि पहिले भी बताया जा चुका है बैक को इस बात की आवश्यकता समझानी चाहिये कि वह उन केन्द्रीय बैकों से सीधे काम करे जिनका काम करने का स्तर काफी ऊँचा है। अन्तिम बात यह है कि इसे जिस प्रकार के गोदामों का पहिले भी उल्लेख किया जा चुका है उसी प्रकार के गोदामों की संस्थापना के लिये भी प्रयत्न करना चाहिये। इससे कृषि की आर्थिक समस्या को सुलझाने मे बड़ी सहायता प्राप्त होगी।

कृषि-साख और सरकार

कृषि को साख देने के लिये सरकार कृषि ऋण विधान और सुधार ऋण विधान के अन्तर्गत काम करती है। यह जो ऋण देती है वह प्रचलित भाषा मे तकावी के नाम से विख्यात है। साधारणतया तो हर साल प्रत्येक प्रान्त में कुछ ही लाख रुपये बाँटे जाते है। हाँ, मुसीबत के समय यह करोड़ दो करोड़ तक पहुँच जाते है। तकावी अल्पकालीन और दीर्घकालीन दोनों होती है। अल्पकालीन तकावी प्राय: बीज और मवेशियों के क्रय के लिये काम मे आती है और उसी वर्ष की उपज से वसूल कर ली जाती है जिस वर्ष की उपज के लिये वह प्रयोग मे लाई जाती है। इसके विपरीत दीर्घकालीन तकावी स्थायी सुधारो के लिये काम मे लाई जाती है और कई वर्षों मे किस्त से वापिस की जाती है। साधारणतया दीर्घकालीन तकावी नहीं बाँटी जाती। अल्पकालीन तकावी मे कभी-कभी बीज दिये जाते हैं। जब मुसीबत पड़ती है तब तकावी बहुत अच्छी समझी जाती है

[1] किन्तु अब देशी रियासतों की स्थिति ही बदल रही है।

किन्तु साधारणतया तो कृपक ऊँचा ब्याज होने पर भी सरकार की अपेक्षा महाजनों से ऋण लेना अधिक अच्छा समझते हैं। निश्चय ही इसका एकमात्र कारण यह है कि तकावी के वितरण मे अनेकों दोप भरे पड़े हैं। तकावी देने के पहिले बहुत सी पूछ-ताछ की जाती है जिसके लिये पटवारी और कानूनगो काम मे लाये जाते हैं। उनकी सिफारिशें प्रायः सत्य नहीं होतीं। अतः, तकावी अपेक्षित लोगों को न मिलकर उन्हे प्राप्त हो जाती है जो पटवारियों को खुश कर लेते हैं। फिर, इन्हे बाँटने के केन्द्रों के बहुत कम होने के कारण कृपकों को बहुत समय तो राह चलने मे ही खराब करना पड़ता है। उन्हे वहाँ पर पहुँचकर भी कई दिनों तक पड़ा रहना पड़ता है। इसमे सबमे खर्च पडता है। इसके अतिरिक्त यह समय पर बहुत कम मिल पाती है, और प्रत्येक व्यक्ति को जो रकम मिलती है वह उसकी आवश्यकता से बहुत कम होती है। उसे वसूल करने के तरीके भी बहुत सख्त होते हैं। अतः, इन सब बुराइयों को इन्हे सहकारी समितियों के द्वारा वितरण कराने से दूर किया जा सकता है। वास्तव मे सरकार इस काम को बहुत अच्छी तरह से नहीं कर सकती।

प्रश्न

(१) कृषि सम्बन्धी अर्थ में क्या विशेष कठिनाइयाँ पडती हैं ? कृषकों की माँग का वर्गीकरण कीजिये और प्रत्येक वर्ग को स्पष्ट तौर पर समझाइये।

(२) रिजर्व बैंक कृषि सम्बन्धी ऋण किन-किन तरीकों पर देता है ? इसमें कौन-कौन से मुख्य दोष हैं ?

(३) इम्पीरियल बैंक आफ इण्डिया और दूसरे सम्मिलित पूँजी के बैंक कृषि की कैसे सहायता करते हैं, इसे समझाइये।

(४) सहकारी साख समिति से आप क्या समझते हैं ? दो तरह की जो समितियाँ होती हैं उनके भेद बताइये।

(५) इस देश में सहकारिता के विकास का इतिहास बताइये। इस समय उसकी क्या स्थिति है ?

(६) सहकारी साख समितियो और बैंको को उनकी पूँजी कहाँ से प्राप्त होती है ? वे उसका किस प्रकार उपयोग करते हैं ?

(७) इस देश में आजकल के सहकारिता आन्दोलन में कौन-कौन से दोष हैं ? उन्हे दूर करने के लिये सुझाव रखिये।

(८) एक ऐसी योजना बनाइये कि जिससे महाजन लोग और अच्छी तरह से कृषि की सहायता कर सकें। इस सम्बन्ध मे निपटारे की कार्य-प्रणाली और उनके लाभ के विषय में बताइये।

(९) भारतवर्ष मे कृषि की बिक्री को किस प्रकार आर्थिक सहायता मिलती है ? उसे सुधारने के लिये अपने सुझाव रखिये।

(१०) समस्त भारतवर्ष मे भूमि-बन्धक बैंकों की सस्थापना की आवश्यकता के विषय मे अपनी सम्मति दीजिये। वे किस तरह से और अधिक उपयोगी बनाये जा सकते हैं ?

(११) रिजर्व बैंक का कृषि साख विभाग कृषि के सम्बन्ध मे कौन-कौन से कार्य करता है और वह देश को कैसे और अच्छी तरह से लाभ पहुँचा सकता है ? इस सम्बन्ध मे यह भी बताइये कि वह यहाँ पर बिल बाज़ार स्थापित करने के लिये रिजर्व बैंक का ध्यान और किन-किन बातो की ओर आकर्षित करे ?

(१२) तक़ावी से आप क्या समझते हैं ? इसके वितरण मे कौन-कौन से दोष हैं ? क्या इसे किसी तरह से सुधारा जा सकता है ?

अध्याय १५

उद्योग सम्बन्धी आर्थिक व्यवस्था

उद्योग-धन्धों की उन्नति के लिये आर्थिक व्यवस्था का उतना ही महत्व है जितना किसी अन्य वस्तु का हो सकता है। अतः, इस सम्बन्ध मे अभी तक जो कुछ भी नहीं किया गया है उससे यह स्पष्ट है कि औद्योगीकरण की आवश्यकता यहाँ पर कभी भी समझी ही नहीं गई है। बात यह है कि जब कभी भी यहाँ पर उत्पादन की वृद्धि के विषय मे सोचा गया है तब कृषि के लिये ही सोचा गया है जिसका फल यह हुआ है कि उद्योग-धन्धे पीछे पड़ गये है। द्वितीय महायुद्ध के समय मे भी इस तरफ कोई विशेष बात नहीं की गई। देश की सरकार ने उसके प्रारम्भ होते ही यहाँ पर वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसन्धान के लिये एक बोर्ड बैठाल दिया था और उस पर बहुत रुपया खर्च किया था, किन्तु किसी धन्धे की स्थापना के लिये कुछ

भी नहीं किया गया। जो कुछ अनुसन्धान भी हुये वे छोटे-छोटे रसायन सम्बन्धी धन्धों के सम्बन्ध मे ही हुये है, उदाहरण के लिये औषधियाँ, प्लास्टिक और शीशे की चद्दरें, इत्यादि ही है। भारी धन्धों पर तो चाहे वह इञ्जीनियरी से सम्बन्ध रखते हों और चाहे रसायन से कोई ध्यान ही नहीं दिया गया। अतः, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि भारतीय इसे ब्रिटिश उद्योग-पतियों तथा व्यापारियों के कारण ही बताते हैं जो हर तरीके से अपनी रक्षा का निरन्तर प्रयत्न करते रहते है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि हमारी पुरानी सरकार उद्योग-धन्धों की उन्नति को छोड़कर कृषि की उन्नति की बाते क्यों करती रहती थी। काग्रेस का रुख भी कुछ अच्छा नहीं रहा है। युद्ध के पहिले कुछ समय तक इसने जब प्रान्तों में शक्ति ग्रहण की थी तब जो कुछ भी किया था वह कृषि की आर्थिक व्यवस्था ही के लिये किया था। फिर, हमारे नेतागण जब भी धन्धों की बात-चीत करते थे केवल घरेलू धन्धों की ही बात-चीत करते थे फैक्टरी के धन्धों की नहीं। किन्तु देश के आठ उद्योगपतियों ने भारतवर्ष के औद्योगीकरण की जो योजना बनाई थी उसमें उन्होंने बड़े पैमाने के धन्धों पर काफी जोर दिया था और इधर जब से हमने स्वतंत्रता प्राप्त कर ली है तब से बड़ी आशाये बँध गई है। वर्तमान सरकार की जितनी योजनाये देश की उन्नति के लिये है उन सब में उद्योग-धन्धों की उन्नति को पहिला स्थान दिया गया है। इधर हमारे प्रधान मन्त्री और उद्योग मन्त्री की जितनी वक्तृतायें हुई है उन सबसे यह अच्छी तरह से स्पष्ट होता है। किन्तु यदि अभी तक कुछ नहीं किया गया है तो उसका एकमात्र कारण यही है कि हमारी सरकार इस समय देश के विभाजन से उत्पन्न हुई समस्याओं को हल करने में लगी हुई है।

उद्योग धन्धों की आवश्यकतायें

प्राय: उद्योग-धन्धों की भी वही आर्थिक आवश्यकतायें है जो कृषि की है, अर्थात् अल्पकालीन, मध्यकालीन, और दीर्घकालीन। अल्पकालीन आवश्यकताये कच्चे माल और स्टोर्स के क्रय के सम्बन्ध की, उपज के विक्रय के सम्बन्ध की और मजदूरी देने तथा दैनिक व्यय को पूरा करने के सम्बन्ध की है। मध्यकालीन आवश्यकतायें भी

उपर्युक्त के सम्बन्ध की हो सकती है और उनके लिये लिये हुये ऋण का भुगतान एक वर्ष से पाँच वर्ष के अन्दर तक हो सकता है। दीर्घ-कालीन ऋण प्रारम्भ मे तो जमीन की क्रय के लिये, कारखाने की इमारत बनाने के लिये और मशीन, इत्यादि लगाने के लिये तथा बाद मे विस्तार और संगठन के लिये लिया जाता है। इसे अंग्रेजी मे ब्लाक कैपिटल भी कहते है। हिन्दी मे यह घिरी हुई पूँजी कही जा सकती है। दीर्घकालीन तथा अल्पकालीन आवश्यकताओं अथवा घिरी हुई और कार्यशील पूँजी के बीच का अनुपात धन्धे के अनुसार भिन्न-, भिन्न होता है। उत्पादन जितना ही पेचीदा होता है उतनी ही अधिक दीर्घकालीन आवश्यकताये अथवा घिरी हुई पूँजी की जरूरत पड़ती है। पाट, रुई, लोहे और स्टील, बिजली और खदान जैसे संगठित धन्धों मे घिरी हुई पूँजी बहुत लगती है। ओषधियाँ, प्लास्टिक शीशे, चद्दरों और विशेषत: घरेलू धन्धों मे इसका उल्टा है। सक्षेप में यह उपज के मूल्य पर और उसके लिये जो समय लगता है उस पर निर्भर है। इनके अलावा और भी कारण हो सकते है, जैसे कच्चे माल के खरीदने और बने हुये माल के बेचने के तरीके और मूल्य के भुगतान के तरीके, इत्यादि । जैसा कि हम आगे चलकर देखेगे जितनी ही अधिक घिरी हुई पूँजी की आवश्यकता पड़ती है उतनी ही अधिक अर्थ की दिक्कत होती है।

भारतवर्ष में वर्तमान स्थिति

भारतवर्ष मे वर्तमान स्थिति तनिक भी सन्तोषजनक नही है। अंग्रेजी व्यापारिक बैंकों का तो यह चलन है कि वे दीर्घकालीन आवश्यकताओं की पूर्ति करते ही नहीं। उनके यहाँ इसके लिये अलग संस्थायें है जैसे सिक्योरिटियों की व्यवस्था करने वाले ट्रस्ट और बैंको के औद्योगिक विभाग का कम्पनियाँ। हमारे यहाँ पर अंग्रेजी चलन के ही अनुसार औद्योगिक बैंकों की सस्थापना पर जोर दिया जा रहा है। जैसा की पहिले ही बतया जा चुका है इस सम्बन्ध मे पहिला प्रयत्न टाटा औद्योगिक बैंक की संस्थापना से हुआ था। इसमे सदेह नहीं कि वह बहुत दिनो तक नही चल सका, किन्तु उसी तरह के कुछ अन्य बैंक भी चलाये गये थे जिनमे से इन्डस्ट्रियल बैंक आफ वैस्टर्न इण्डिया, कारनानी इण्डस्ट्रियल बैंक, रायकुट इण्डस्ट्रियल बैंक,

शिमला बैंकिंग ऐण्ड इण्डस्ट्रियल कम्पनी, लक्ष्मी इण्डस्ट्रियल बैंक, इत्यादि बहुत अच्छा काम कर रहे हैं। किन्तु इनमे विदेशी बैंकों की-सी प्रभावोत्पादक सस्थापन शक्ति, ज्ञान की दृढता, और संगठन करने की योग्यता नही है। देश के विस्तृत क्षेत्र का ध्यान रखते हुये इनकी सख्या भी बहुत कम है। सन् १९१८ के औद्योगिक कमीशन ने भी सरकारी सहायता प्राप्त और एक निश्चित ढङ्ग पर काम करनेवाले औद्योगिक बैंकों की सस्थापना की सिफारिश की थी। किन्तु केवल सन् १९३६ ही मे पहिले-पहिल सयुक्त प्रान्त की सरकार ने औद्योगिक अर्थ कमेटी की उन सिफारिशों को मानकर जिनमे उसने बड़े और छोटे धन्धों को अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन ऋण देने के लिये एक इण्डस्ट्रियल क्रेडिट बैंक की संस्थापना करने के लिये सुझाव रक्खे थे इस तरह का एक बैंक स्थापित किया। इस बैंक ने सरकार से एक समझौता कर लिया है जिसके अनुसार १५ वर्ष तक सरकार ने इसे इसकी प्राप्त पूँजी का ४ प्रतिशत और अधिक से अधिक ६०,००० रु० वार्षिक इसलिये देने का वायदा किया है कि यह प्रतिवर्ष ४ प्रतिशत लाभ की बँटनी कर सके। किन्तु इसका कार्य बहुत प्रसशनीय नहीं रहा है, और इसमें कोई आश्चर्य भी नहीं है क्योंकि सरकार की इतनी कम मदद के साथ कोई बैंक कुछ अधिक कर ही नहीं सकता। सन् १९३७ मे बंगाल की सरकार ने वहाँ के छोटे-छोटे धन्धों की सहायता करने के लिये एक इण्डस्ट्रियल क्रेडिट कारपोरेशन की सस्थापना मे हाथ बटाया था। सन् १९४० मे यही बम्बई इकानमिक बोर्ड ने भी किया था। किन्तु इन्होंने भी कोई प्रसंशात्मक कार्य नहीं किया। अन्त मे सन् १९४६ मे एक अखिल भारतीय इण्डस्ट्रियल फिनान्स कारपोरेशन की स्थापना के सम्बन्ध में एक बिल पेश हुआ था जो अब विधान बन गया है। देखना चाहिये कि यह क्या करता है। जहाँ तक इम्पीरियल बैंक और दूसरे व्यापारिक बैंकों का सम्बन्ध है वे दीर्घकालीन ऋण नहीं देते। वे जो कुछ सहायता करते हैं वह केवल मध्यकालीन तथा अल्पकालीन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये ही होती हैं, और इनका अध्ययन हम आगे चलकर करेंगे।

उपर्युक्त स्थितियों मे यहाँ पर दीर्घकालीन पूँजी के लिये केवल तीन ही साधन बच रहते हैं। इनमे से प्रथम तो जो यहाँ के धन्धों के प्रारम्भ करने मे भी बड़ा सहायक हुआ है व्यक्तिगत है। इसमे एक

परिवार के लोग अथवा उसके कुछ मित्र ही उसकी सहायता करते है। इसी से मैनेजिङ्ग एजेन्सी प्रणाली का सूत्रपात हुआ, अथवा यह कहिये कि वह यही है। दूसरे, कुछ स्थानों मे इन्हे जमा प्राप्त हो जाती है जो एक तरह से स्थायी ही है। अन्तिम में योजना-पत्र निकालकर जनता मे हिस्से और ऋण-पत्र बेचे जाते है।

मैनेजिङ्ग एजेन्सी प्रणाली

यदि हम प्रथम को ले तो कुछ ऐसे व्यक्ति अथवा फर्म हैं जिनके पास अच्छी पूँजी है और जो किसी काम को चलाने के लिये प्रारम्भिक काम करते है, उसकी सस्थापना करते है, उसे आर्थिक सहायता देते है अथवा उसका दायित्व ले लेते हैं और प्राय: उसकी व्यवस्था करते हैं। इनके जिन्हे मैनेजिङ्ग एजेण्ट कहते है मुख्य काम नीचे दिये हुये है :—

(१) ये कम्पनी सस्थापक का काम करते हैं। इसमे तनिक भी सन्देह नही है कि एक वात जिस पर किसी औद्योगिक इकाई की सफलता निर्भर है यह है कि उसके सम्बन्ध की योजना व त अच्छी वनी हो और वह अच्छी अवस्था मे आरम्भ की गई हो। इसके लिये सगठनकर्ता मे एक बडी रचनात्मक योग्यता होनी चाहिये। भारतवर्ष मे आधुनिक धन्धों को प्रारम्भ करने का श्रेय केवल दो ही वर्ग के लोगों को है। एक तो अग्रेज व्यापारी जो अग्रेजी व्यापारिक कोठियों का प्रतिनिधित्व करने के लिये आये थे और दूसरे वम्वई के और फिर अहमदावाद तथा अन्य स्थानों के रुई के व्यापारी। जो कुछ भी उन्नति हुई है उसमे से अधिकांश का श्रेय प्रत्यक्ष रूप मे अथवा अप्रत्यक्ष रूप मे इन्ही को है। इस सम्वन्ध मे सर्वश्री टाटा सन्स ऐण्ड कम्पनी, एण्ड्रयु यूल ऐण्ड कम्पनी, कैटिलवेल वलेन ऐण्ड कम्पनी, करीम भाई इव्राहीम ऐन्ड सन्स लिमिटेड, विरला व्रदर्स लिमिटेड, शा वालेस एन्ड कम्पनी, नौरोसजी वाडिया ऐन्ड सन्स, सी० एन० वाडिया ऐन्ड कम्पनी, वर्ड ऐन्ड कम्पनी, मार्टिन एन्ड कम्पनी, इत्यादि के नाम उल्लेखनीय है। इनमे से कुछ ने तो दर्जनों धन्धों को स्थापित कर दिखाया है।

(२) ये नये धन्धों के हिस्सो की विक्री की जमानत भी ले लेते हैं। विदेशों मे इस काम को एक विशेप प्रकार के जमानत लेने वाले

अथवा औद्योगिक और व्यापारिक बैंक करते हैं। इनकी अनुपस्थिति मे यहाँ पर यह काम मैनेजिङ्ग एजेण्ट करते है। हमारे यहाँ यदि इन लोगों ने बहुत सी कम्पनियों के हिस्से बेचने की जमानत अपने ऊपर न ली होती तो शायद वह काम आरम्भ ही नही कर सकती थीं। जब किसी नई कम्पनी के हिस्से निकाले जाते है और उनके बिकने की जमानत के किसी मैनेजिङ्ग एजेण्ट की कोठी के ले लेने की बात जनता के सामने आती है तो लोगों का उस पर विश्वास हो जाता है और यदि इतने पर भी लोग सब हिस्से नहीं ले लेते तो मैनेजिङ्ग एजेण्ट स्वय वह सब हिस्से ले लेता है।

(३) ये इस संस्था के व्यवस्थापक का काम भी करते है और प्राय: इनके विस्तृत अनुभव से लाभ भी हुआ है। किन्तु अयोग्य व्यवस्था के भी उदाहरण मिलते हैं। पहिले इनके अधिकार पिता से पुत्र को मिल जाते थे, अतः, कुछ दिनों में यह अयोग्य व्यक्तियों के हाथ मे पड़ जाते थे। यह बेचे तथा हस्तान्तरित भी किये जा सकते थे। अब, यह दोनों बातें सन् १९३६ के कम्पनी संशोधन विधान के अनुसार मना कर दी गई है। जब कम्पनी की स्थायी पूँजी में इनकी कोई दिलचस्पी नही होती तब इनके हिस्सेदारों की हानि कर देने का डर रहता है। अन्तिम बात यह है कि यह लोग अपने मित्रों और सम्बन्धियों को नौकर रख लेते है और यदि वह कार्य कुशल नहीं होते तो कम्पनी की बड़ी हानि होती है।

(४) बैंकिग और कारबार के बीच में ये एक प्रकार का सम्बन्ध भी स्थापित कर देते है। बात यह है कि सन् १९२० के इम्पीरियल बैंक विधान के अनुसार बैंक को किसी व्यक्ति को अथवा साझे की फर्म की किसी हुण्डी पुर्जे पर ऋण देने के लिये उस समय तक मनाही है जिस समय तक कि उस पर कम से कम दो ऐसे व्यक्तियों अथवा फर्म के हस्ताक्षर न हों जिनके बीच मे कोई साझा न हो। अतः, कम्पनी की ओर से जिस डाइरेक्टर के हस्ताक्षर होते हैं उसके अतिरिक्त मैनेजिङ्ग एजेन्ट के भी हस्ताक्षर लेने की प्रथा चल पड़ी है। इससे कम्पनी के ऊपर तो उसके डाइरेक्टर के हस्ताक्षर के कारण दायित्व रहता ही है किन्तु मैनेजिङ्ग एजेन्ट के ऊपर भी अलग से दायित्व हो जाता है। यद्यपि दूसरे बैंकों के लिये कोई ऐसा विधान नही है किन्तु वे भी इस बात मे इम्पीरियल बैंक का ही अनुसरण

करते हैं, अतः, मैनेजिङ्ग एजेन्ट को हर हालत में हस्ताक्षर करने पड़ते है। जब माल के ऊपर ऋण लिया जाता है तब भी मैनेजिङ्ग एजेन्ट की ज़मानत के लिये ज़ोर दिया जाता है।

(५) ये औद्योगिक संस्थाओं को अर्थ सम्बन्धी सहायता भी देते हैं। यहाँ पर हिस्सों के बहुत अधिक प्रचलित न होने के कारण प्रायः धन्धों की पूँजी कम रहती है और उन्हे ऋण के ऊपर निर्भर रहना पड़ता है। हम यह तो देख ही चुके हैं कि बैंकों से ऋण लेने के लिये मैनेजिङ्ग एजेन्टों को अपने हस्ताक्षर देने पड़ते हैं। किन्तु इसके अतिरिक्त वे स्वयम् भी ऋण देते हैं।

ऊपर यह बताया जा चुका है कि कभी-कभी इनकी व्यवस्था खराब हो जाती है। किन्तु सन् १९३६ के कम्पनी सशोधन विधान के अनुसार मैनेजिङ्ग एजेएटों के उत्तराधिकार और उनके अधिकारों के विक्रय तथा हस्तान्तरित होने की मनाही हो जाने के कारण अब ऐसा नहीं हो सकता। हाँ, इसमें एक अन्य दोष है। इसके कारण बैंकों और धन्धों मे सीधा सम्बन्ध नहीं है। इस प्रणाली के होने से अर्थ के दोहरे प्रबन्ध के कारण औद्योगिक उन्नति रुक गई है। एजेएट बैंकों के ऊपर निर्भर रहते हैं, कारबार के विषय में उनका विचार पुराना है और वह औद्योगिक योजनाओं की ओर यथेष्ट ध्यान नहीं देते। यहाँ के धन्धों को स्थापित करने के लिये उनमे पारस्परिक संगठन नहीं है, और इसी कारण उन्हे लाक्षणिक तथा आर्थिक अनुभवी नहीं प्राप्त हो पाते। कहना न होगा कि किसी धन्धे का ठोसपन उसके कार्यान्वित तथा लाभप्रद होने की सम्भावना, इत्यादि का निश्चय इन्हीं के द्वारा हो सकता है। फिर इनके आर्थिक साधनों के सीमित रहने के कारण ये निश्चयात्मकरूप से लाभप्रद धन्धों को निरन्तर नहीं खोलते जा सकते। सत्य तो यह है कि इनका लागत लगाने वाली जनता से उतना सम्बन्ध नहीं हो सकता जितना बैंकों का होता है। अतः, ये एक के बाद दूसरी कम्पनी के हिस्सों को न तो बेच ही सकते हैं और न ऐसा करने की जिम्मेवारी ही ले सकते है। यह प्रणाली तेजी मे तो सफलता प्राप्त कर लेती है, किन्तु मन्दी मे ऐसा नहीं होता। उस अवस्था में जब मैनेजिङ्ग एजेएटों को अपने कारबार को सुदृढ़ बनाने के लिये द्रव्य की आवश्यकता पड़ती है तब उन्हे द्रव्य नहीं प्राप्त हो पाता। जैसा प्रायः होता है यदि किसी मैनेजिङ्ग एजेएट का कोई एक कारबार

बुरी अवस्था में पड़ जाता है तब उसके अन्य कारबारों मे भी दिक्कत हो जाती है। सन् १९३६ के कम्पनी संशोधन विधान में इस सम्बन्ध की कुछ बचत कर दी गई है। उसके अनुसार किसी कम्पनी के रुपये किसी ऐसी दूसरी कम्पनी के हिस्से लेने में अथवा उसको ऋण देने मे नहीं प्रयोग में लाये जा सकते जो एक ही मैनेजिङ्ग एजेण्ट के प्रबन्ध में है। हाँ, यदि कम्पनी लागत लगाने वाली कम्पनी है तो यह रुकावट नहीं है। फिर, यदि खरीदने वाली कंपनी के सब डाइरेक्टर निर्विरोध ऐसा करने के लिये निश्चित कर देते हैं तब भी ऐसा हो सकता है। किन्तु यह स्पष्ट है कि एक कम्पनी की कमज़ोरी का दूसरे पर अवश्य प्रभाव पड़ेगा। अन्तिम दोष यह है कि बम्बई मे सूती मिलों के हिस्सों मे मैनेजिङ्ग एजेन्टों के कारण सट्टेबाज़ी होती है। प्राय: ऐसा होता है कि मैनेजिङ्ग एजेण्ट जिस कम्पनी को अपने हाथ में लेते है। प्रारम्भ मे उसके अधिकांश हिस्से स्वयं खरीद लेते है। किन्तु कुछ ऐसे लोग भी होते हैं जो कम्पनी को अपने हाथ मे लेना चाहते हैं। अतः, जब वे यह देखते है कि मैनेजिङ्ग एजेन्ट की आर्थिक अवस्था कमजोर है तब वह हिस्सों की कीमत बढ़ाकर उन्हे स्वयं खरीद लेते है। संक्षेप में यह है कि वे तनिक सी कमज़ोरी देखने के साथ ही उसका लाभ उठाने के लिये तैयार रहते हैं और इससे बम्बई की सूती मिलों के हिस्सों मे बड़ी सट्टेबाज़ी होती है। यदि मिले द्रव्य के लिये मैनेजिङ्ग एजेन्टों पर इतना निर्भर न होतीं तो उनके हिस्सों मे इतनी सट्टेबाज़ी न होती और जनता की जो उससे हानि होती है वह रुक जाती।

सन् १९३६ के भारतीय कम्पनी संशोधन विधान मे मैनेजिङ्ग एजेन्सी प्रणाली के दोषों को दूर करने के लिये जो व्यवस्था कर दी गई है उसका थोड़ा सा अध्ययन तो हम कर ही चुके है। इस सम्बन्ध की जो अन्य धारायें हैं वह निम्न आशय की हैं :—

(१) विधान के प्रारम्भ होने के बाद से कोई भी मैनेजिङ्ग एजेन्ट २० वर्ष से अधिक के लिये यह पद नहीं पा सकता।

(२) नियमावली में चाहे जो कुछ लिखा हो अथवा परस्पर चाहे जो कुछ तै हुआ है किन्तु इस विधान के पास होने के पहिले भी यदि कोई मैनेजिङ्ग एजेन्ट २० वर्ष से अधिक के लिये नियुक्त हुआ है तो इस विधान के पास होने के बीस वर्ष के बाद वह मैनेजिङ्ग एजेन्ट नहीं रह सकता। हाँ, उसकी फिर से नियुक्ति हो सकती है। जब किसी

मैनेजिङ्ग एजेन्ट का समय समाप्त होने को हो तो वह कंपनी से वह सब खर्च ले सकता है जो उसने उसके लिये किये हों।

(३) यदि किसी मैनेजिङ्ग एजेन्ट ने कपनी के सबंध में किसी ऐसे अपराध के लिये सजा पाई है जो भारतीय पिनल कोड के अनुसार दंडनीय है और जिसकी जमानत नहीं है तो कंपनी उसे निकाल सकती है। यदि मैनेजिङ्ग एजेन्ट कोई फर्म अथवा कम्पनी है तो यदि उसके किसी साझी अथवा डाइरेक्टर ने उपर्युक्त अपराध किया है और वह ऐसा अपराध करने के ३० दिन के अन्दर नहीं निकाला जाता है तो वह अपराध उस फर्म अथवा कंपनी का समझा जायगा।

(४) यदि कोई मैनेजिङ्ग एजेन्ट दिवालिया घोषित कर दिया जाता है तो वह भी अपने पद से च्युत कर दिया जायगा।

(५) कोई मैनेजिङ्ग एजेन्ट उस समय तक अपना अधिकार हस्तान्तरित नहीं कर सकता जब तक कम्पनी की साधारण सभा में वह पास न हो जाय।

(६) यदि मैनेजिङ्ग एजेन्ट ने अपने प्रतिफल को अथवा उसके किसी अंश को किसी को हस्तान्तरित कर दिया है तो उसके सम्बन्ध का दायित्व कम्पनी के ऊपर नहीं पड़ सकता।

(७) किसी कम्पनी की इतिक्रिया होने पर मैनेजिङ्ग एजेन्ट का प्रतिफल, इत्यादि वैसे तो कम्पनी से वसूल किया जा सकता है। किन्तु यदि यह इतिक्रिया मैनेजिङ्ग एजेन्ट की भूल से हुई है तो ऐसा नहीं किया जा सकता।

(८) इस विधान के प्रारम्भ होने के वाद किसी मैनेजिङ्ग एजेन्ट की नियुक्ति अथवा पदच्युति अथवा उसके विषय की अन्य कोई बात तब तक नहीं मानी जा सकती जब तक वह साधारण सभा में न तै हो जाय।

(९) इस विधान के प्रारंभ होने के वाद से मैनेजिङ्ग एजेन्ट का प्रतिफल कम्पनी के नेट वार्षिक लाभ का ही एक अंश हो सकता है। हाँ, लाभ के कम होने पर कुछ न्यूनतम प्रतिफल भी दिया जा सकता है। साथ ही कुछ निश्चित आफिस अलाउन्स भी हो सकता है। इसके लिये नेट वार्षिक लाभ के अर्थ कम्पनी के उस लाभ से हैं जो सब खर्चों को, ऋण पर के व्याज को, मरम्मत, ह्रास और सरकार से अथवा किसी अन्य संस्था से जो छूट मिली हो, उसको हिस्सों के

बेचने पर अथवा कम्पनी की कुछ या सब सम्पत्ति बेचने पर जो लाभ मिला हो उसको सबको काटकर और आय कर, अतिरिक्त कर, अथवा लाभ पर अन्य कोई कर हो अथवा ऋण-पत्रों पर के ब्याज को, अथवा सम्पत्ति पर किये गये ख़र्चों को अथवा अन्य कोई ऐसी रकम जो लाभ मे से सुरक्षित कोष अथवा अन्य किसी कोष में ले जाई गई हो उसको बिना काटे हुये बचती है।

(१०) कोई कम्पनी न तो अपने मैनेजिङ्ग एजेन्ट को ऋण दे सकती है और न उसे दिये हुए किसी ऋण की वापिसी का दायित्व ले सकती है।

(११) कम्पनी के कम-से-कम तीन चौथाई डाइरेक्टरों की राय के बिना कोई मैनेजिङ्ग एजेन्ट कपनी के साथ उसके माल की बिक्री अथवा ख़रीद अथवा पूर्ति के लिये कोई समझौता नहीं कर सकता।

(१२) जिस कंपनी में कोई मैनेजिङ्ग एजेन्ट है वह किसी दूसरी ऐसी कंपनी को जिसका वही मैनेजिङ्ग एजेन्ट है न तो कुछ ऋण दे सकती है, न उसको दिये हुये किसी ऋण का दायित्व ले सकती है, न उसके हिस्से अथवा ऋण-पत्र खरीद सकती है। हाँ, यदि कोई कंपनी लागत लगाने वाली कंपनी है तो यह नियम नहीं लागू होगा। इसके अतिरिक्त क्रय उस समय भी किया जा सकता है जब क्रय करने वाली कंपनी के सब डाइरेक्टरों की राय से क्रय हुआ हो।

(१३) मैनेजिङ्ग एजेण्ट न तो कम्पनी के ऋण-पत्र निकाल सकता है और न डाइरेक्टरों के द्वारा निश्चित सीमा से अधिक लागत लगा सकता है।

(१४) मैनेजिङ्ग एजेन्ट स्वयं का कोई ऐसा व्यवसाय नहीं कर सकता जो उसी कम्पनी के व्यवसाय की तरह हो जिसका वह मैनेजिङ्ग एजेन्ट है। इसी तरह से वह उस कम्पनी की सहायक कम्पनी के व्यवसाय की तरह का भी कोई व्यवसाय नहीं कर सकता।

(१५) यदि किसी सार्वजनिक कम्पनी के मैनेजिङ्ग एजेन्ट को उसमें कुछ डाइरेक्टर नियुक्त करने का अधिकार है तो ऐसे डाइरेक्टरों की संख्या सब डाइरेक्टरों की एक तिहाई से अधिक नहीं हो सकती।

(१६) जिस कम्पनी में भी कोई मैनेजिङ्ग एजेन्ट है उसमे मैनेजिङ्ग एजेन्ट सम्बन्धी जितनी बाते हैं उनका सबका उल्लेख

एक रजिस्टर में होना चाहिये। कम्पनी के हिस्सेदार जब चाहे तब इसे देख सकते है।

जमा प्राप्त करना

कुछ जगहों पर मिलों मे जो जमा प्राप्त होती है वह यहाँ पर पुराने समय मे महाजनों के यहाँ जो जमा प्राप्त होती थी उसी का अवशेष है। बम्बई मे और अहमदाबाद में जिन्होंने सर्वप्रथम मिले खोली थीं वह महाजन वर्ग के ही लोग थे और उन पर जनता का विश्वास था, अतः, उसने उनके पास अपनी जमा छोड़ दी। इस तरह से वहाँ पर रुई की मिलों में जो पूँजी लगी थी वह बहुत काफी थी और अहमदाबाद में तो यह इसलिये विशेष तौर पर था कि वहाँ के बैंक वहाँ की मिलों की अधिक सहायता नहीं करते थे। बम्बई मे यह जमा छः महीने से लेकर वर्ष भर की होती थी। अतः, इसे अल्पकालीन जमा कह सकते हैं और यह बहुत कम ब्याज पर मिल जाती थी। मिल मालिकों को यह बहुत ही पसन्द थी क्योंकि वह इसे रुई खरीदने के समय में तो ले लेते थे और बाद मे जब आवश्यकता नहीं रहती थी नहीं लेते थे। किन्तु प्रथम महायुद्ध के बाद की तेजी के बाद जब मन्दी आई तब यह कम होने लगी और आजकल इसका कोई विशेष महत्व नहीं रह गया है। अब तो बैंक अधिक मदद करते हैं और मिले उन्हीं पर निर्भर हैं। हाँ, अहमदाबाद मे आज भी यह विशेष महत्व की है और शायद भविष्य मे भी रहेगी। इसके मुख्यतः दो कारण हैं। प्रथम तो अहमदाबाद की जमा सप्तवर्षीय जमा हो गई है जिसके अर्थ दीर्घकालीन जमा हैं। अतः, वे इस बात में तो ऋण-पत्रों की तरह के हैं, किन्तु उनमे यह अन्तर है कि इनका कम्पनी की सम्पत्ति पर वह स्वत्व नहीं है जो ऋण-पत्रों का रहता है। दूसरे, वह मिलों के लाभ के जमा हैं। प्रायः एक मिल का कोष दूसरे मिल में जमा रहता है। इस तरह से अहमदाबाद की मिलों ने एक ऐसी प्रणाली निकाल ली है जिससे उनका काम उन्हीं के लाभ से चल जाता है। किन्तु अब भी अहमदाबाद मे कुछ अल्पकालीन जमा हैं जो बम्बई की अल्पकालीन जमा के सदृश्य कभी भी निकाली जा सकती हैं और इस तरह से मिलों को कठिनता पड़ सकती है। फिर जमा को मिलों

के लिये पूँजी के सदृश्य प्रयोग में लाने में एक और दोष है और वह यह है कि इससे हिस्सों और ऋण-पत्रों का जो लागत के अच्छे रूप हैं अधिक प्रचार नहीं हो पाता। तीसरे, मिलें जमा प्राप्त करके एक ऐसा काम कर रही हैं जो उनके योग्य नहीं है और यदि वह कभी इन्हें माँग पर न दे सकेंगी तो उससे जनता का विश्वास हट जायगा और वह न तो हिस्से ही खरीदेगी और न बैंकों ही में जमा करेगी। चौथे, यह प्रणाली पुरानी है। आजकल जब आधुनिक बैंक हैं जमा उन्हीं में होनी चाहिये। अन्तिम बात यह है कि बैंकों के अधिक लोकप्रिय हो जाने पर शायद यह जमा बैंकों में चली जाय, अतः, इस पर मिलों को निर्भर नहीं रहना चाहिये।

हिस्सों और ऋण-पत्रों को निकालना

अब हम हिस्सों और ऋण-पत्रों को ले सकते हैं। सारी पूँजी एक ही ढङ्ग से नहीं प्राप्त हो सकती। मिलों और लागत लगानेवाली जनता दोनों की दृष्टि से यह अच्छा है कि इसके लिये कई ढङ्ग अपनाये जायँ। यह सब ढङ्ग ऐसे होने चाहियें कि जो भिन्न-भिन्न प्रकार के लोगों को पसन्द हों। प्रथम तो सपक्ष हिस्से (Preference shares) होते हैं, दूसरे साधारण हिस्से (Ordinary shares) और तीसरे संस्थापकों के हिस्से (Founders' or Deferred shares) होते हैं। सपक्ष हिस्से सराकत के सपक्ष हिस्से (Participating Preference shares) अथवा वर्धमान सपक्ष हिस्से (Cumulative Preference shares) अथवा साधारण सपक्ष हिस्से (Noncumulative Preference shares) हो सकते हैं। कभी-कभी स्थायी पूँजी के अंश को ऋण-पत्र निकाल कर भी इकट्ठा किया जाता है। इससे एक तरफ तो लागत लगाने वालों को व्याज मिलता रहता है और दूसरी तरफ हिस्सेदारों को इन्हें अपने लाभ में से बहुत अधिक नहीं देना पड़ता। हिस्सों और ऋण-पत्रों को निकालकर जनता से प्रत्यक्ष तौर पर पूँजी पाने के इस तरीके में हमारे यहाँ तथा अन्य देशों में भी यह दोष है कि कभी तो लोग अच्छी आशा होने के कारण इन्हें आसानी से ले लेते हैं और कभी इसके विपरीत स्थिति के कारण इन्हे नहीं लेते। इधर के इतिहास में सन् १९२०-२१ और सन् १९३५-३७ के वर्ष पहिली तरह के और बीच

के वर्ष दूसरी तरह के थे। यहाँ पर ऐसे होशियार लागत लगानेवालों की भी कमी है, जो अच्छी और बुरी योजनाओं को समझ सकें। पश्चिमी देशों मे भी लोगों को इस सम्बन्ध की उचित सलाह देने के लिये कुछ संस्थायें है। अतः, भारतवर्ष मे तो जहाँ शिक्षा की बहुत कमी है इनका होना बहुत ही आवश्यक है।

इम्पीरियल बैंक और दूसरे व्यापारिक बैंकों के द्वारा उद्योग-धन्धों की आर्थिक सहायता

हमको यह तो ज्ञात हो ही गया है कि भारतवर्ष में आधुनिक उद्योग-धन्धों की संस्थापना मैनेजिङ्ग एजेन्टों के कारण ही हुई है। बहुत दिनों तक तो केवल यही लोग इनको आर्थिक सहायता देते रहे। उनकी स्वयं की अच्छी आर्थिक स्थिति और साथ ही उनके मित्रों की सहायता के कारण वे लोग बैंकों की सहायता के बिना यह काम करते रहे। किन्तु धीरे-धीरे और विशेषकर जब मन्दी आई तब जनता का उन पर से विश्वास उठ गया और उन्हे अपने मित्रों की सहायता मिलनी बन्द हो गई। अतः, उन्हे बैंकों से सहायता लेने की आवश्यकता पड़ी। किन्तु इनके दायित्व ऐसे थे कि ये उन्हे दीर्घकालीन पूँजी नही दे सकते थे। हाँ, ये उनकी अल्पकालीन आवश्यकताओं को अवश्य पूरी कर सकते थे, किन्तु वह भी सब नहीं। बात यह है कि अल्पकालीन आवश्यकताओं के लिये भी कुछ ऐसी पूँजी होती है जो हमेशा चाहती है। अतः, वह स्थायी पूँजी का ही रूप धारण कर लेती है। कच्चे माल का; तैयार और अर्ध तैयार माल का स्टाक एक न्यूनतम सीमा से कम रह ही नहीं सकता। अतः, इनको रखने के लिये जितनी पूँजी की आवश्यकता पड़ती है वह स्थायी ही के सदृश्य होती है। अतः, घिरी हुई पूँजी के साथ-साथ इसका भी प्रबन्ध करना पड़ता है। यदि ऐसा नहीं किया जाता तो बड़ी जोखिम का सामना करना पड़ता है। सच तो यह है कि इस देश में बहुत से लोग यह सोच लेते हैं कि उनकी सारी कार्यशील पूँजी के उन्हे अल्पकालीन ऋण के रूप में मिल जाने से उनका काम चल जायगा और इसी से वे सफल नहीं होते। बैंक यदि इसके लिये तैयार नहीं होते तो हमे उन्हे दोष न देना चाहिये। हमे तो यह देखना चाहिये कि वे कार्यशील पूँजी के इस भाग को देने के लिये तैयार है अथवा नहीं जो बराबर आती जाती है और इस तरह से

समय-समय पर बैंक को वापिस की जा सकती है। किन्तु ध्यान से देखने पर यह पता लगता है कि बैंक यह भी भली प्रकार से और कम व्याज पर नहीं करते। इम्पीरियल बैंक और दूसरे बैंक या तो (अ) उनके पास वास्तविक और बिक्री योग्य जमानत को गिरवी के तौर पर रखने से या (ब) ऋण लेने वाले के ऐसे प्रण-पत्र जिसके ऊपर किसी अन्य धनी के भी हस्ताक्षर हों ऋण देने के लिये तैयार रहते हैं। किन्तु अधिकांश मिल-मालिक ऋण नहीं लेते। बात यह है कि उनके अपने माल को बैंक में गिरवी रखने से उनकी साख मारी जाती है। अतः, वे इसको पसन्द नहीं करते। यह तो पहिले ही बताया जा चुका है कि वे लोग विशेषतः अहमदाबाद में जनता से जमा प्राप्त करते हैं। अतः, उनकी साख मारी जाने से इस पर बुरा प्रभाव पड़ सकता है। इससे उनके ऐसा न करने के दो कारण हैं। बैंकों ने प्रण-पत्रों पर जो दो धनियों के हस्ताक्षर लेने की प्रथा चला रक्खी है इससे मैनेजिङ्ग एजेन्टों का रहना बहुत जरूरी हो गया है। बैंक जो ऋण देते हैं उनका रूप या तो नकद साख का या जमा की हुई रकम से अधिक रकम निकालने का होता है। बैंक और ऋण लेने वाले दोनों यही रूप पसंद करते है। इसके दो कारण है। एक तो यह कि ऋण लेने वालों को उनके दैनिक ऋण पर व्याज देना पड़ता है। हाँ, हर हालत मे एक न्यूनतम रकम अवश्य देनी पड़ती है। दूसरे, बैंक जब चाहे तब इस सुविधा को बन्द कर सकता है। किन्तु बिल डिस्का-उण्टिङ्ग पर अधिक जोर देना चाहिये। हाँ, इसके लिये एक तो यहाँ पर लाइसेन्स प्राप्त गोदाम होने चाहिये और दूसरे बिलों के प्रयोग की आदत बढ़नी चाहिये। फिर बैंक ऋण देते समय ऋण लेने वाले की वैयक्तिक जमानत का जरा भी ख्याल नहीं करते और अतिरिक्त जमानत अवश्य माँगते है। वे अतिरिक्त जमानत न माँगें इसके लिये यह आवश्यक है भारतीय कम्पनी विधान की उस धारा में सशोधन कर दिया जाय जिसके अनुसार उन्हें अपनी बैलन्स शीट में जमानती और गैरजमानती ऋणों को अलग-अलग दिखाना पड़ता है। फिर यह इस तरह से भी हो सकता है कि बैंक मिल वालों की अधिक जानकारी प्राप्त करे। अन्तिम, व्याज की दर भी बहुत ऊँची रहती है। छोटे-छोटे बैंक तो १२ से १८ प्रतिशत तक लेते हैं।

बैंकों के उद्योग-धन्धों की अधिकाधिक सहायता करने के लिये सुझाव

इम्पीरियल बैंक और दूसरे बैंक, विशेषत: वह जिनकी स्थिति काफी अच्छी है, निम्न ढङ्ग से उद्योग-धन्धों की अधिकाधिक सहायता कर सकते है :—

(१) उन्हे पुरानी और नई दोनों प्रकार की कपनियों के निकाले हुये हिस्सों का बीमा कर देना चाहिये। इसके लिये उनके यहाँ ऐसे अनुभवी कर्मचारियों की आवश्यकता पडेगी जो प्रत्येक धन्धे के विषय मे जानते हों और उसके सबन्ध मे अपनी सम्मति दे सके। इससे ऐसी कंपनियाँ कम खुलेगी कि जिनका भविष्य अच्छा नही होगा। हमारे यहाँ जो बहुत सी कंपनियाँ असफल हो गई है वह उपर्युक्त व्यवस्था होने पर शायद खुलती ही नहीं, और इस तरह से उनमे लागत लगाने वालों की जो हानि हुई है वह भी अवश्य बच जाती।

(२) बैंक जिन हिस्सों का बीमा कर देंगे प्राय: उन सबको जनता ले ही लेगी। बात यह है कि इससे उसका उन पर विश्वास जम जायगा। किन्तु यदि कुछ हिस्से बच रहेगे तो बैंकों को उन्हे लेना पड़ेगा। किन्तु यह बहुत दिनों तक उनके पास नही रहेंगे, क्योंकि कंपनियों की उन्नति के साथ-साथ वह बिक जायँगे।

(३) बैंकों के प्रतिनिधि संचालक मंडलों मे रहकर उन्हे बराबर सावधानी से काम करने के लिये कहते जायँगे।

(४) उन्हे वैयक्तिक जमानतों पर अल्पकालीन ऋण देने चाहिये।

(५) लाइसेन्स प्राप्त गोदाम अवश्य स्थापित किये जाने चाहियें। इससे तैयार माल को उनके यहाँ रखने की परिपाटी चल जायगी और उनके यहाँ की रसीदों के आधार पर बैंक ऋण दे सकेंगे।

(६) बिल भुनाने की प्रथा को उस पर कम ब्याज लेकर प्रोत्साहित करना चाहिये। इससे बैंकों को वह लागत मिल जायगी जो उनके लिये बडी लाभप्रद है। उनके न होने के कारण इस समय वे अपनी लागत सरकारी साख-पत्रों मे लगाते है। कहना न होगा कि उनका यह काम नहीं है। उन्ह पहिले उद्योग-धन्धों और व्यापार

की सहायता करनी चाहिये और फिर सरकार के साख-पत्र खरीदने चाहियें। हाँ, इस संबध मे यह कहा जा सकता है कि इधर वे लोग ऐसा ही कर रहे है। यदि यह बातें होती रहे तो बहुत ही अच्छा है।

सरकार का कर्तव्य

कुछ लोगों का यह कहना है कि भारतवर्ष में व्यापारिक बैंकों की इस समय जो स्थिति है उसमे उन्हें उद्योग-धन्धों को दीर्घकालीन ऋण बिल्कुल भी नहीं देना चाहिये। उनका कहना है कि उनके स्थान पर सरकार को आगे आना चाहिये। इस सुझाव को समाजवाद के प्रचार से बडा प्रोत्साहन मिला है। इस संबध मे भिन्न-भिन्न प्रान्तों की सरकारों ने जो कुछ किया है वह तो हम देख ही चुके हैं। यहाँ पर हम प्रस्तावित अखिल भारतवर्षीय औद्योगिक अर्थ कारपोरेशन के विधान, काम और सभावनाओं का विशेष रूप से अध्ययन करेंगे।

उपर्युक्त कारपोरेशन संयुक्तराज्य (U. K.) के एक ऐसे ही कारपोरेशन के सदृश्य है। इसका मुख्य ध्येय नये धन्धों को घिरी हुई पूँजी देना है। इसकी स्वय की पूँजी पाँच करोड है जो २५००० रुपयों के २००० हिस्सों मे विभाजित है जो पूर्णरूप से प्राप्त होगी। केन्द्रीय सरकार और रिजर्व बैंक चार-चार सौ हिस्से लेंगे शेष हिस्से स्वीकृत बैंकों, बीमा कम्पनियों, स्वीकृत इन्वैस्टमैन्ट ट्रस्ट्स और दूसरी आर्थिक संस्थाओं को दिये जायँगे। सरकार ने पूँजी को वापिस करने और २½ प्रतिशत वार्षिक प्रतिफल (आय कर भुना) देने का दायित्व लिया है। लाभ की बँटनी अधिक से अधिक ५ प्रतिशत की हो सकेगी और वह भी पाँच करोड़ के सुरक्षित कोष के बन जाने के बाद होगी। कारपोरेशन के लाभ पर न तो आयकर लगेगा और न अतिरिक्त कर। कारपोरेशन के ग्यारह संचालकों मे से दो केन्द्रीय सरकार के द्वारा नियुक्त होंगे, ३ रिजर्व बैंक के द्वारा, तीन स्वीकृत बैंकों के द्वारा और दो-दो बीमा कम्पनियों और इन्वैस्टमैण्ट ट्रस्ट्स के द्वारा नियुक्त होंगे। प्रारम्भ मे कारपोरेशन के चार दफ्तर होंगे, एक बम्बई मे, दूसरा कलकत्ते में, तीसरा दिल्ली मे और चौथा मद्रास मे। कारपोरेशन अपनी पूँजी जमा प्राप्त करके और बाण्ड तथा

ऋण-पत्र निकाल करके भी बढ़ा सकता है। आकस्मिक दायित्व (Contingent Liabilities) को मिलाकर सारे ऋण की रकम उसकी प्राप्त पूँजी के चतुर्गुण से अधिक न हो सकेगी। दस वर्ष के पहिले जो जमा की रकम देय न होगी वह दस करोड़ रुपये से अधिक की न हो सकेगी।

कारपोरेशन उद्योग-धन्धों को अधिक से अधिक २५ वर्षों के अन्दर वापिस होने वाले दीर्घकालीन ऋण दे सकेगा। यह कम्पनियों के हिस्से और ऋण-पत्रों को निकालने का बीमा भी कर सकेगा, किन्तु इसे इन्हे अधिक से अधिक सात वर्षों मे जनता के हाथ बेच देना होगा। यदि कोई कम्पनी बजार मे ऋण लेना चाहती है तो यह कुछ निश्चित कमीशन लेकर उसकी जमानत भी कर सकेगा। यदि किसी कम्पनी को विदेशी करन्सी चाहिये तो इसे अन्तर्राष्ट्रीय बैंक (International Bank of Reconstruction and Development) से ऋण लेने का अधिकार दे दिया गया है। इसे किसी कम्पनी से दूसरे ऋणदाताओं की अपेक्षा अपने ऋण की वसूली का प्रथम अधिकार भी प्राप्त है।

यह स्पष्ट है कि भारतवर्ष की सरकार ने अब तक जो कुछ भी यहाँ के औद्योगीकरण के लिये किया है उसमे इस कारपोरेशन की सस्थापना सबसे प्रधान है। इसके काम धीरे-धीरे बढ़ जायँगे और यह अनुभव प्राप्त करने के बाद अवश्य ही और कार्य कुशल हो जायगा। प्रारम्भ मे इसे कुछ अधिक सावधान रहना पड़ेगा। हाँ, बाद मे यह कुछ ढील दे सकता है। यह बहुत ही आवश्यक है क्योकि इसी के ऊपर इसकी जमा की प्राप्ति और ऋण-पत्रों की बिक्री निर्भर होगी।

यदि प्रान्तीय कारपोरेशन न स्थापित किये गये तो यह कारपोरेशन अपने ढङ्ग का अकेला कारपोरेशन रहेगा। अतः, इसके यहाँ माँग भी अधिक रहेगी। किन्तु यदि प्रान्तीय कारपोरेशन भी स्थापित हो गये तो इसे उनके बीच मे सहयोग उत्पन्न कराना पड़ेगा। प्रान्तीय कारपोरेशनों के बन जाने पर इसे उन उद्योग-धन्धो की सहायता करनी पड़ेगी जो अन्तर्प्रान्तीय है और अखिल भारतीय महत्व के है जैसे स्टील के, इञ्जीनियरिङ्ग के और भारी रसायनों के, इत्यादि।

यद्यपि केन्द्रीय और छः प्रान्तीय बैंकिंग की कमेटियों ने सरकार

से सहायता प्राप्त प्रान्तीय औद्योगिक कारपोरेशन की संस्थापना के सुझाव रक्खे थे, किन्तु उनके विरुद्ध जो राय है उसके कारण उनकी संस्थापना असम्भव है। प्रथम तो इनका बोझ कर देने वाली जनता पर पड़ेगा। अतः, वह इसके पक्ष मे नहीं हो सकती। दूसरे, यदि सरकार के पास इनके लिये धन है तो वह उसे अन्य उपयोगी कामों मे लगा सकती है। तीसरे, यह भी अच्छा नहीं मालूम पड़ता कि सरकार से सहायता प्राप्त सस्था अन्य ऐसी ही सस्थाओं से प्रतियोगिता करे। किन्तु ये उन धन्धों की सहायता करने के लिये अवश्य ही स्थापित किये जा सकते है जो जनता के लिये अत्यन्त ही उपयोगी है। इन्हे सहायता देनेवाली संस्थाओं की आवश्यकता कुछ प्रान्तों मे अच्छी तरह से प्रतीत हो चुकी है। मद्रास मे बिजली कम्पनियों, शक्तिदायक योजनाओं और सिचाई के कामों को सरकार ने सहायता दी है। किन्तु इसके लिये जिस ढङ्ग से काम लिया गया था वह ठीक नही था। पञ्जाब मे भी यही हुआ था। इन जनता के उपयोगी कामों मे एक विशेष बात है और वह यह है कि इनमे जो लागत लगाई जाती है उसका प्रतिफल मिलने मे कुछ समय लगता है। अतः, कम्पनियों को आर्थिक सहायता देने के जो साधारण ढङ्ग है वह इनके लिये उपयुक्त नही हैं। किन्तु यदि कोई विशेष ढङ्ग अपनाया जाय तो उनसे रुपया अवश्य मिल सकता है। अतः, अर्ध एकाधिकार वाले धन्धों को आर्थिक सहायता देने के लिये सरकारी औद्योगिक कारपोरेशन की सस्थापना करना बहुत ही आवश्यक है। बैंकिग कमेटियों की सहायता के लिये जो विदेशी अनुभवी आये थे उनकी भी यही सम्मति थी। हाँ, पहिले अवश्य इनके विषय में कुछ मतभेद था किन्तु बाद मे वह ठीक हो गया था। केन्द्रीय और उन छहों कमेटियों की राय के विरुद्ध जो प्रान्तीय औद्योगिक कारपोरेशन की सस्थापना के पक्ष मे थी ये एक अखिल भारतवर्षीय कारपोरेशन की संस्थापना करना चाहते थे। श्री० सूबेदार तथा कुछ अन्य लोगों की भी यही सम्मति थी। सत्य तो यह है कि दोनों पक्ष की दलीले बड़ी सारगर्भित थी। प्रान्तीय कारपोरेशनों के पक्ष मे निम्न दलीले थी :—

(१) उद्योग-धन्धों का विषय प्रान्तीय विषय है। अतः, इनके सम्बन्ध की सभी योजनाये प्रान्तीय सरकारों के नियन्त्रण मे होनी चाहिये।

(२) केन्द्रीय सरकार के एक अखिल भारतवर्षीय कारपोरेशन की सहायता करने के अपेक्षा भिन्न-भिन्न प्रान्तीय सरकारों का अपने-अपने प्रान्तीय कारपोरेशनों की सहायता करना अधिक आसान होगा।

(३) अखिल भारतवर्षीय कारपोरेशन के लिये पूँजी इकट्ठा करना कठिन होगा किन्तु प्रान्तीय कारपोरेशनों के लिये यही आसान होगा। बात यह है कि वह अपने प्रान्त के लोगों की प्रान्तीयता का लाभ उठा सकेंगे।

(४) प्रान्तीय कारपोरेशन अपने-अपने प्रान्तों के उद्योग-धन्धों की आवश्यकताओं को आसानी से समझ सकेंगे। किन्तु एक अखिल-भारतीय कारपोरेशन को सारे देश के उद्योग-धन्धों की आवश्यकताओं का समझना कुछ कठिन-सा हो जायगा।

(५) प्रान्तीय कारपोरेशनों के पास उनके अपने-अपने प्रान्तों के धन्धों को जानने वाले अनुभवी रह सकते हैं; किन्तु एक अखिल भारतीय कारपोरेशन के पास सारे देश के धन्धों को समझने वाले अनुभवी नहीं रह सकते।

जो लोग एक अखिल भारतीय कारपोरेशन की संस्थापना के पक्ष में थे उनकी निम्न दलीलें थीं :—

(१) प्रान्तीय सरकारों की आर्थिक स्थिति ऐसी नहीं है कि वह प्रान्तीय कारपोरेशन संस्थापित कर सके। हाँ, केन्द्रीय सरकार की ऐसी स्थिति अवश्य है कि वह एक अखिल भारतीय कारपोरेशन स्थापित कर ले। यदि वह सारा बोझ स्वयं न भी उठा सकेगी तो उसे प्रान्तीय सरकारों की सहायता मिल सकती है।

(२) एक अखिल भारतीय कारपोरेशन के हिस्सों और ऋण-पत्रों पर जनता का कहीं अधिक विश्वास होगा और विशेषतः जब केन्द्रीय सरकार के द्वारा ही वह संस्थापित होगा। फिर, उसके निकाले हुये साख-पत्र विदेशों में भी बिक सकेंगे। इसके अतिरिक्त उसके संचालक भी देश के किसी हिस्से से भी लिये जा सकेंगे। अतः, उसमें योग्य-व्यक्तियों के रहने की विशेष सम्भावना होगी।

(३) एक अखिल भारतीय कारपोरेशन की रकम भिन्न-भिन्न प्रकार के धन्धों में लगी होगी। अतः, संकट के समय उसको कुछ कम जोखिम रहेगी।

(४) अखिल भारतीय कारपोरेशन की केन्द्रीय सरकार मे भी आवाज़ होगी। अतः, वह यहाँ के धन्धों को उचित सहायता भी दिलवा सकेगा।

(५) अखिल भारतीय कारपोरेशन के कर्मचारी भी समस्त भारतवर्ष मे से लिये जा सकेगे। अतः, वह बहुत अनुभवी होगे। फिर, एक प्रान्त के धन्धों को दूसरे प्रान्त के धन्धों के अनुभवी व्यक्तियों के अनुभव का भी लाभ प्राप्त हो सकेगा। इसे विदेशियों की सेवाये भी प्राप्त हो सकेगी।

(६) इस देश मे इस समय बहुत से काम किये जा सकते है किन्तु उन सबका एक साथ लेना तो असम्भव होगा। अतः, उनमे से जो अधिक लाभप्रद है वही पहिले लिये जायँगे।

किन्तु जैसा कि पहिले भी कहा जा चुका है अन्त मे इस विषय पर सब की एक ही सम्मति हो गई और वह यह थी कि प्रत्येक प्रान्त मे उसका एक प्रान्तीय कारपोरेशन होना चाहिये और उनके सबके ऊपर एक अखिल भारतीय कारपोरेशन भी होना चाहिये जो उनमे सहयोग स्थापित करेगा और अखिल भारतीय प्रश्नों को सुलझावेगा। इसके निम्न काम बतलाये गये थे :—

(१) प्रान्तीय कारपोरेशनों को उनके हिस्सों और ऋण-पत्रों को बेचने मे सहायता देना।

(२) प्रान्तीय कारपोरेशनों मे सहयोग उत्पन्न कराना और इस बात को देखना कि वह उपयोगी धन्धों को ही सर्व प्रथम लेते है।

(३) प्रान्तीय कारपोरेशनों के पथ-प्रदर्शन के लिये कुछ साधारण सिद्धान्तों को रखना।

(४) केन्द्रीय सरकार से इनके लिये सुविधाये दिलवाना।

औद्योगिक बैंकों की संस्थापना के लिये आवश्यक सुझाव

जैसा कि पहिले ही कहा जा चुका है देश के क्षेत्रफल को देखते हुये इस समय औद्योगिक बैंकों की जो सख्या है वह बहुत ही कम है। हाँ, यदि इम्पीरियल बैंक तथा अन्य व्यापारिक बैंक उन तरीकों को अपना कर यहाँ के उद्योग-धन्धों की सहायता करने लग जायँ तथा अखिल भारतीय औद्योगिक अर्थ कारपोरेशन और प्रान्तीय औद्योगिक कारपोरेशन उद्योग-धन्धों के लाभ को दृष्टि मे रखते हुये

काम करें तो अन्य औद्योगिक बैंकों की संस्थापना की आवश्यकता नही रहेगी। किन्तु यदि यह नहीं होता है तो औद्योगिक बैंकों की संस्थापना बहुत ही आवश्यक होगी। हाँ, ऐसी स्थिति में उनके काम वही होंगे जो इपीरियल बैंक और अन्य बैंकों के लिये बनाये जा चुके है। जो औद्योगिक बैंक इस समय स्थित है उन्हे भी इन्हीं ढङ्गों पर काम करना चाहिये। इस संबध मे ब्रिटेन में एक कमेटी बैठी थी जिसने इस विषय मे निम्न सुझाव रक्खे थे :—

(१) वर्तमान औद्योगिक कंपनियों को अर्थ सम्बन्धी मन्त्रणा देना।

(२) स्थायी पूँजी की प्राप्ति, उसकी रकम और उसके भेदों के विषय मे मन्त्रणा देना।

(३) कम्पनियों के साख-पत्रों के निकालने पर उनका बीमा करना और जब तक वह जनता के द्वारा न लिये जा सके तब तक के लिये उन्हे अल्पकालीन ऋण देना।

(४) देश तथा विदेशों मे कम्पनियों के दीर्घकालीन कन्ट्राक्टों को पूरा करने के लिये आर्थिक सहायता देना और स्थित कम्पनियों की उन्नति के लिये भी ऐसा ही करना।

(५) नये धन्धों के लिये कम्पनियाँ स्थापित करना।

(६) एकीकरण के सम्बन्ध मे मध्यस्थ का काम करना और अर्थ सम्बन्धी मन्त्रणा देना तथा प्रतिस्पर्धी अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं से समझौता करना ; और

(७) सब तरह के आर्थिक सहायता के काम करना।

ऐसे बैंकों की पूँजी अवश्य ही दीर्घकालीन ऋण के रूप मे होगी न कि अल्पकालीन ऋण के रूप मे। इन्हे व्यापारिक बैंकों से प्रतियोगिता नही करने देना चाहिये।

औद्योगिक कम्पनियों के हिस्सों और ऋण-पत्रों को जनता में प्रचलित करने के लिये सुझाव

(१) प्रथम महायुद्ध के बाद के तेजी के काल मे यहाँ पर बहुत-सी औद्योगिक कंपनियाँ खुली थीं। किन्तु बाद मे मन्दी के समय जब वह फेल हो गईं तब जनता का इन पर से विश्वास उठ गया। अतः, लोग अपनी बचत पड़ोसियों को उधार देने, अचल सम्पत्ति मे, सरकारी,

म्युनिसिपैलिटियों के और बन्दरगाहों के ट्रस्ट के साख-पत्रों मे लगाना अधिक पसन्द करते हैं। यदि वर्तमान बैंक और जिनकी संस्थापना के लिये सुझाव रक्खे गये है वह नई कम्पनियों की योजनाओं को पहिले ही से समझ लिया करे तो उनके फेल होने की सम्भावना कम हो जाय और इससे जनता मे उनके प्रति विश्वास उत्पन्न हो जाय।

(२) केन्द्रीय कमेटी के सामने जिन लोगों ने साक्षी दी थी उनमें से कुछ ने यह भी कहा था कि यहाँ पर लोगों का यहाॅ के धन्धों पर इसलिये भी विश्वास नही है कि वह जानते है कि यहाॅ की विदेशी सरकार उनकी तनिक भी सहायता न करेगी और इसी कारण वह सफल न हो सकेंगे। हमारी अपनी सरकार अब इस डर को दूर कर सकती है।

(३) हमारे यहाॅ ऐसी संस्थायें भी नहीं के बराबर है जो यहाॅ के लोगों को और विशेषकर ग्रामीण लोगों को इस प्रकार के लागत से अवगत करें। वास्तव में इस सम्बन्ध के विज्ञापन की यहाँ पर बड़ी आवश्यकता है।

(४) प्रायः लोग पढ़े-लिखे नही हैं और पूँजी एकत्रित करने के आधुनिक तरीकों को नहीं जानते। इनके विषय की शिक्षा देने की यहाँ पर बहुत ही आवश्यकता है।

(५) साख-पत्रों के क्रय और विक्रय मे सुविधा देने के लिये यहाँ पर कोई भी संस्था नहीं है और यदि है तो वह शहरों मे ही है। अतः इनके विश्वासपात्र दलालों की बड़ी आवश्यकता है।

(६) कुछ साख-पत्रों के हस्तान्तर करने मे बड़ा ऊँचा स्टाम्प लगाना पड़ता है। इसे भी घटा देना चाहिये।

(७) जिन लोगों के पास थोड़ी संख्या के हिस्से होते हैं उन्हे कभी-कभी उनके बेचने में बड़ी कठिनाई पड़ती है। अतः, थोड़ी संख्या मे भी हिस्सों के बेचने का प्रबन्ध होना चाहिये।

(८) हमारे यहाॅ औद्योगिक कम्पनियों के साख-पत्रों की जमानत पर ऋण देने के लिये कोई भी संस्था तैयार नहीं होती। हमारे बैंक भी सरकारी साख-पत्रों ही को पसन्द करते हैं। हाॅ, उनमें इधर कुछ परिवर्तन हो रहा है।

(९) जैसा अन्य देशों मे है उसी प्रकार हमारे यहाॅ भी हमारी सरकार सन् १९२० से यहाॅ के बाजारों मे से बहुत रुपया लेती है।

अतः, इससे उद्योग-धन्धों को पूँजी नहीं मिलती। सरकार को हमेशा कम व्याज पर ऋण लेना चाहिये।

घरेलू धन्धों को आर्थिक सहायता देने के सम्बन्ध में सुझाव

घरेलू धन्धों को भी आर्थिक सहायता की आवश्यकता पड़ती है; और अब तक वह महाजनों के ऊपर ही निर्भर रहते हैं। वास्तव में उनकी लघुता और उनकी तितर-बितर होने की अवस्था के कारण वैंकों का तथा अन्य बड़े-बड़े अर्थ की व्यवस्था करने वाले लोगों का ध्यान उनकी ओर आकर्पित हो ही नही सकता। किन्तु इन्हीं कारणों से वह सहकारिता के लिये बहुत ही उपयुक्त हैं। भिन्न-भिन्न कमेटियों ने यही राय भी दी है। ऐसे धन्धे जर्मनी और जापान मे सहकारिता की सहायता से ही फल फूल रहे हैं। अतः, कोई कारण नही कि भारतवर्ष मे ऐसा न हो सके। किन्तु इसके लिये सहकारिता के सिद्धान्त को केवल साख के लिये ही नहीं सीमित रखना चाहिये। जैसे कृपि मे वैसे ही यहाँ पर भी उसे दूसरे कामों के लिये भी प्रयोग मे लाना चाहिये। हाथ से काम करने वालों और दूसरे छोटे पैमाने पर काम करने वालों को वडे पैमाने पर काम करने वालों की प्रतिस्पर्धा से बचाने के लिये सहकारिता की जो आवश्यकता है वह स्वयं सिद्ध है।

यद्यपि सन् १९०४ के सहकारिता विधान में ही नागरिक समितियों की संस्थापना की व्यवस्था कर दी गई थी तो भी ये बहुत दिनों तक नहीं खुलीं। जैसा कि पहिले भी कहा जा चुका है यह अपनी रचना और कार्य-प्रणाली मे कृपक समितियों से बहुत ही भिन्न है। नागरिक सहकारी समितियाँ भी अनेकों प्रकार की होती हैं; उदाहरण के लिये कर्मचारियों की समितियाँ, उपभोक्ताओं के सहकारी स्टोर, हाथ से काम करनेवालों तथा जुलाहों की समितियाँ, दुग्ध इकाइयाँ और समितियाँ, बीमा समितियाँ, विद्यार्थी स्टोर्स, इत्यादि। किन्तु यहाँ पर हमारा विशेप प्रयोजन तो हाथ से काम करने वालों और जुलाहों की समितियों से ही है। जुलाहों पर इसलिये विशेप जोर दिया गया है कि यहाँ पर कपडे का काम बहुत महत्वपूर्ण है। सन् १९३९-४० के अंत मे बम्बई में जुलाहों की ३८ समितियाँ थी, मद्रास मे यही १९१ थीं और पञ्जाब में ३५० से अधिक थीं। अन्य प्रान्तों के यह अङ्क नहीं मिलते किन्तु प्रत्येक मे ऐसी कुछ समितियाँ हैं अवश्य। इनके अतिरिक्त अन्य

कारीगरों की समितियाँ भी है जिनके सबंन्ध के भी अङ्क प्राप्त नहीं हैं। इधर युद्धकाल मे घरेलू धन्धों को जो प्रोत्साहन मिला था उसके कारण भी अब इनकी संख्या और बढ़ गई होगी। इसमें सन्देह नहीं कि आजकल की समितियाँ केवल साख की ही व्यवस्था करती है किन्तु वे कच्चे माल के क्रय मे और तैयार माल के विक्रय में तथा औज़ारों, इत्यादि के रखने मे बडी सहायक सिद्ध हो सकती है। इस समय महाजन लोग यह सब काम करते है। प्रायः सभी शहरों में कुछ घरेलू धन्धे हैं और कुछ महाजन व्यापारी जो ऊँचे दामों पर कच्चे माल देते हैं और नीचे दामों पर तैयार माल लेते है। यदि यह काम सहकारी समितियाँ अपने हाथ मे ले ले तो अवश्य ही इन कारीगरों की दशा बहुत कुछ सुधर जाय। अतः, जितनी ही जल्दी यह किया जाय उतना ही अच्छा है।

उद्योग एक प्रान्तीय विपय है। अतः, प्रत्येक प्रान्तीय सरकार अपने सीमित क्षेत्र मे इसकी उन्नति के लिये जो कुछ कर सकती थी वह करती आ रही है। इनमे से कुछ तो भिन्न-भिन्न धन्धों की आर्थिक सहायता करती है और इनमे छोटे पैमाने के धन्धे विशेप तौर पर महत्वपूर्ण हैं। यह सहायता थोड़े ब्याज पर ऋण देने के रूप मे अथवा किराये और खरीद पर मशीनरी की पूर्ति के रूप मे अथवा भूमि अथवा अन्य कोई सरकारी सम्पत्ति देने के रूप में होती है। ये प्रोपेगैण्डा करती है, धन्धों के क्रम को क्रियात्मक रूप में दिखाती हैं और उनके सम्बन्ध की मन्त्रणा देती हैं। किन्तु जो रिपोर्टें निकली हैं उनसे स्पष्ट है कि इन्हे अभी कोई विशेप सफलता नहीं मिली है। ये जो आर्थिक सहायता देती हैं वह बहुत कम होती है और प्रायः वास्तविक काम करने वालों को नहीं मिलती। शायद यही कारण है कि उसमें से बहुत-सा बट्टे खाते डालना पड़ता है। सत्य तो यह है कि सरकार इस काम को कर ही नही सकती। यदि इसको यह काम करना है तो इसे यह सहकारी समितियाँ अथवा प्रान्तीय सहकारी बैंकों के द्वारा करना चाहिये। प्रान्तीय सहकारी बैंक घरेलू धन्धे के लिये बहुत ही सिद्ध हो सकते हैं। फिर सरकार यदि धन्धों की सहायता ही करना चाहती है तो वह चाहे बडे पैमाने के हों अथवा छोटे के, अन्य तरीकों से सहायता कर सकती है। उसकी क्रय नीति ही इस सम्बन्ध में बहुत कुछ कर सकती है।

उपसंहार

वास्तव मे औद्योगिक अर्थ के विषय में कोई बात निश्चित रूप से कही ही नहीं जा सकती। देश मे चतुर्मुखी उन्नति की आवश्यकता है। शुद्ध औद्योगिक बैंकों के और खुलने की जरूरत है। उन्हे जैसे सुझाव अब तक अनुभव प्राप्त करके दिये गये है उन्हीं के अनुसार काम करना चाहिये। इम्पीरियल बैंक और दूसरे बडे बैंकों को उद्योग-धन्धों को आर्थिक सहायता देनी ही चाहिये। फिर, यदि आवश्यकता हो तो जनता के लिये जो उपयोगी धन्धे हैं उनकी करनेवाली संस्थाओं की आर्थिक सहायता करने के लिये प्रान्तीय कारपोरेशन भी खुलने चाहिये। जहाँ तक सरकार के उद्योग-धन्धों के प्रत्यक्ष रूप से आर्थिक सहायता देने का प्रश्न है वहाँ तक यदि यह सहायता अन्य तरह ही की हो तो भी यथेष्ट है। औद्योगिक बैंक, व्यापारिक बैंक तथा प्रान्तीय कारपोरेशन किसी उद्योग-धन्धे को केवल उसके प्रारम्भ से उसके एक स्तर तक पहुँच जाने के काल में ही सहायक हो सकते है। अन्त मे तो इसका बोझ जनता को ही उठाना पड़ेगा। अत., इसके लिये हिस्सों और ऋण-पत्रों को अधिक प्रचलित करना चाहिये। हाँ, इम्पीरियल बैंक और दूसरे व्यापारिक बैंकों को इनकी अल्पकालीन आवश्यकताओं की तो अवश्य ही पूर्ति करनी पडेगी। घरेलू धन्धों की सहायता के लिये तो सहकारी समितियों को ही प्रोत्साहन देना पड़ेगा। यथार्थ मे उनकी मुक्ति तो इन्हीं के हाथ मे है।

प्रश्न

(१) उद्योग-धन्धों की किस प्रकार की आर्थिक आवश्यकतायें होती हैं? प्रत्येक का तुलनात्मक महत्व बताइये और यह भी स्पष्ट कीजिये कि उनका पारस्परिक अनुपात किन बातों पर निर्भर रहता है ?

(२) इस देश में उद्योग-धन्धों की दीर्घकालीन आवश्यकताओं की कौन पूर्ति करता है ? उनके गुण और दोष बताइये। भारतीय औद्योगिक बैंकिंग ने अब तक इस सम्बन्ध मे क्या किया है ?

(३) इम्पीरियल बैंक तथा दूसरे व्यापारिक बैंक किस तरह से यहाँ के उद्योग-धन्धों की आर्थिक सहायता करते हैं ? इनको और अधिक उपयोगी बनाने के लिये अपने सुझाव रखिये।

(४) प्रान्तीय औद्योगिक कारपोरेशनों की सस्थापना के विषय में आपकी क्या सम्मति है? इस सम्बन्ध मे एक अखिल भारतीय सस्था की आवश्यकता दिखलाइये।

(५) औद्योगिक कम्पनियों के हिस्सो और ऋण-पत्रों को जनता में अधिक चालू करने के लिये क्या करना चाहिये? अभी तक वे यहाँ पर क्यों अधिक प्रिय नहीं हो सके हैं?

(६) आपकी राय में यहाँ के औद्योगिक बैंकों को किस प्रकार काम करना चाहिये? क्या आप उनकी सस्थापना के पक्ष में हैं?

(७) मैनेजिङ्ग एजेण्टों की शक्ति को सीमित करने के सम्बन्ध मे सन् १९३६ के भारतीय कम्पनी विधान में क्या-क्या बाते रक्खी गई हैं? आपकी राय में क्या उनकी यहाँ पर अब भी आवश्यकता है?

(८) घरेलू धन्धों को आर्थिक सहायता देने की यहाँ पर जो व्यवस्था है उसमें क्या दोष हैं? उसे सुधारने के लिये अपने सुझाव रखिये।

(९) भिन्न-भिन्न प्रान्तीय सरकारें अपने यहाँ के उद्योग-धन्धों को आर्थिक सहायता देने के लिये क्या करती हैं? आपकी सम्मति में वे उनके लिये और किस प्रकार अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकती हैं?

(१०) भारतीय उद्योग-धन्धों को आर्थिक सहायता प्रदान करने के लिये एक अच्छी योजना रखिये। इस सम्बन्ध में अब तक जो कुछ किया गया है उसका भी वर्णन कीजिये।

अध्याय १६

व्यापारिक बैंक

वैसे तो इस शीर्षक मे सम्मिलित पूँजी के भारतीय बैंक, इम्पीरियल बैंक तथा विदेशी बैंक सभी आ जाते हैं, क्योंकि ये सभी अन्य कामों के साथ-साथ व्यापारिक बैंकिंग के काम भी करते हैं; किन्तु सुविधा के लिये हम यहाँ पर केवल सम्मिलित पूँजी के भारतीय बैंकों को ही लेंगे। इम्पीरियल बैंक तथा विदेशी बैंकों के विषय मे हम अगले दो अध्यायों मे पृथक-पृथक अध्ययन करेंगे। हाँ, इसमें वर्तमान औद्योगिक बैंक भी आ जायँगे। सच तो यह है कि वह जो

कुछ औद्योगिक वैकिंग के काम करते हैं उसके साथ-साथ व्यापारिक वैकिंग के कार्य भी करते हैं। फिर, उनकी रचना भी अन्य व्यापारिक वैकों की ही तरह भारतीय कम्पनी विधान के अन्तर्गत ही हुई है। अब, क्योंकि व्यापारिक वैकों के क्रमिक विकास का तो अध्ययन हम बारहवे अध्याय ही मे कर चुके है, अतः, यहाँ पर हम केवल उनकी वर्तमान स्थिति का ही दिग्दर्शन करेगे।

सङ्गठन

सम्मिलित पूँजी के भारतीय वैकों का रजिस्ट्रेशन भारतीय कंपनी विधान के अनुसार ही होता है। सन् १९३७ के प्रारम्भ तक तो वे उसके साधारण नियमों के अनुसार ही चलते थे। हाँ, कुछ वातों मे अवश्य वैकिंग कम्पनियों तथा साधारण कम्पनियों के वीच मे थोड़ा वहुत अन्तर था। यह निम्नाङ्कित थीं :—

(१) किसी साझे के बैंकिंग के सगठन मे साझियों की सख्या २० हो सकती है, किन्तु बैंकिंग के संगठन मे यह केवल १० ही हो सकती है।

(२) वैकिंग के काम करने वालो को रजिस्ट्रार के यहाँ अपने काम करने के सभी स्थानों का नाम भी भेजना पड़ता है।

(३) बैंकिंग कम्पनी को रजिस्ट्रार के यहाँ नियत समय पर अपनी बैलन्स शीट अवश्य भेजनी पड़ती है और उसमे जमानत पर दिये गये ऋणों को और बिना जमानत के दिये गये ऋणों को अलग-अलग दिखलाना पडता है।

(४) दूसरा काम करने वाली कम्पनियों के सम्बन्ध मे तो यदि कम से कम १० प्रतिशत सदस्य भी कहते है तो प्रान्तीय सरकार उनका निरीक्षण कर लेती है किन्तु वैंकिंग का काम करने वाली कम्पनियों के सम्बन्ध मे ऐसा तभी हो सकता है जब कम से कम २० प्रतिशत हिस्सेदार ऐसा करने को कहे।

किन्तु देश में यह राय थी कि वैकिङ्ग को नियन्त्रण मे रखने के लिये इतना ही यथेष्ट नहीं है। केन्द्रीय कमेटी ने तो एक विशेष विधान बनाने की सिफारिश की थी। हाँ, विदेशी विशेषज्ञों ने केवल कुछ सशोधन मात्र ही करने को कहे थे। अतः, भारतीय सरकार ने

उन्ही की राय के अनुसार सन् १९३६ मे कम्पनी विधान में निम्न संशोधन किये :—

(१) बैंकिंग कम्पनी की एक परिभाषा दी। किन्तु यह सन्तोष-जनक नहीं है। जैसा कि पहिले ही कहा जा चुका है रिजर्व बैंक के कार्यकर्ताओं ने इस बात की शिकायत की थी कि ब्रिटिश भारत में ऐसे बहुत से गैरसदस्य बैंक थे जो उक्त परिभाषा के अनुसार बैंकों की श्रेणी मे नहीं आते थे। अतः, वह रिजर्व बैंक को वह सूचना नही देते थे जिसको देना उनके लिये अनिवार्य कर दिया गया था।

(२) कोई बैंकिंग कम्पनी तब तक रजिस्टर्ड नही हो पाती जब तक वह अपने योजना-पत्र में उद्देश्यों के अन्तर्गत यह नहीं लिख देती कि वह केवल जमा प्राप्त करने के तथा बैंकिग कम्पनी की परिभाषा मे दिये हुये कामों में से कुछ अथवा सब काम ही करेगी। जो कम्पनियाँ पहिले काम कर रही थी उन्हे इस विधान के पास होने के दो वर्षो के अन्दर ही अपने गैर बैंकिंग के कार्य बन्द कर देने पड़े।

(३) उक्त विधान के पास होने के दो वर्षों के बाद से कोई बैंकिग कम्पनी किसी भी ऐसे मैनेजिङ्ग एजेण्ट के द्वारा नही चलाई जा सकती जो बैंकिग का काम न करता हो।

(४) कोई बैंकिंग कम्पनी तब तक अपना व्यवसाय नहीं प्रारम्भ कर सकती जब तक कि उसके इतने हिस्से न बिक जायँ कि उसके पास कम से कम पचास हजार रुपये आ जाय। संचालकों को इस सम्बन्ध का एक प्रमाण-पत्र भी देना पड़ता है जिससे वह यह कहते है कि उन्होंने ५०,००० रु० प्राप्त कर लिया है।

(५) कोई बैंकिंग कम्पनी अपनी अप्राप्त पूँजी पर कोई ऋण नहीं ले सकती।

(६) रिजर्व बैंक के सदस्य बैंकों को छोड़कर प्रत्येक बैंक को लाभ की बँटनी करने के पहिले उसमे से उस समय तक कम से कम २० प्रतिशत सुरक्षित कोष मे डालना पड़ता है जिस समय तक यह सुरक्षित कोष उसकी प्राप्त पूँजी के बराबर नहीं हो जाता। इसे किसी सरकारी अथवा ट्रस्ट साख-पत्रों मे लगाना पड़ता है अथवा रिजर्व बैंक के किसी सदस्य बैंक के पास रखना पड़ता है। जो बैंकिंग

कम्पनियाँ उस समय भी काम कर रही थीं उन पर यह नियम विधान के पास हो जाने के दो वर्षों बाद लागू होने को था।

(७) रिज़र्व बैंक के सदस्य बैंकों को छोड़कर प्रत्येक बैंक को अपने माँग पर देय दायित्व का कम से कम ५ प्रतिशत और अन्य दायित्व का कम से कम १½ प्रतिशत अपने पास नकदी में रखना अनिवार्य है। यदि इसका उल्लघन किया जाता है तो कम्पनी के प्रत्येक जिम्मेदार कर्मचारी पर जितने दिन तक यह उल्लघन रहे उतने दिन का प्रतिदिन जुर्माना लगता है।

(८) कोई बैंकिग कम्पनी केवल अपनी सहायक कम्पनी को छोड़ कर न तो अन्य कोई सहकारी कम्पनी बना सकती है और न उसके हिस्सों को ले सकती है।

(९) यदि कोई बैंकिंग कम्पनी अपना ऋण नहीं दे सकती है तो यदि वह इस बात की प्रार्थना करती है और उसके साथ ही रजिस्ट्रार की रिपोर्ट भी है तो अदालत यह आज्ञा दे सकती है कि कुछ दिनों तक उसके ऊपर कोई कार्रवाई न की जाय। रजिस्ट्रार की आज्ञा के बिना भी उसे थोड़े दिनों की छूट दी जा सकती है।

(१०) कोई ऐसा व्यक्ति जिसके ऊपर कम्पनी का ऋण चाहिये उसका आडीटर भी नहीं नियुक्त किया जा सकता। न यदि किसी के आडीटर नियुक्त होने के बाद वह कम्पनी का ऋणी हो जाय तो वह कम्पनी का आडीटर ही रह सकता है। फिर, आडीटरों को उस बैठक में भी उपस्थित होने की आज्ञा दे दी गई है जिसमे उसके द्वारा आडिट किया हुआ हिसाब रक्खा जाय। ऐसी बैठक मे वह हिसाब के विषय मे बोल भी सकता है। यदि कोई आडीटर विधान मे दिये हुये किसी नियम का उल्लंघन करता है तो उस पर १००) तक का जुर्माना लग सकता है।

(११) प्रत्येक कम्पनी को, चाहे वह बैंकिंग की हो अथवा अन्य किसी तरह की, अपने सदस्यों के रजिस्टर के साथ-साथ उनकी सूची भी रखनी पड़ती है।

(१२) जिस एफ (F) फार्म पर कम्पनियों को अपनी बैलन्स शीट तैयार करनी पड़ती है उसमे भी बैंकिग कम्पनियों के लिये कुछ अधिक ब्योरे भरने पड़ते है। लागत के मूल्यांकन का ढङ्ग भी लिखना पड़ता है; अर्थात् वह क्रय मूल्य अथवा बाजार मूल्य है। फार्म जी (G) में

भी उन्हे अपनी आर्थिक स्थिति के विषय मे एक विशेष सूचना देनी पड़ती है और उसे बैलन्स शीट की लिपि के साथ-साथ दफ्तर में दिखलाना पड़ता है। विदेशी बैंकों को भी फार्म एच (H) मे कुछ सूचनायें देनी पड़ती हैं।

(१३) प्रत्येक कम्पनी के संचालकों को चाहे वह बैंकिग की हो अथवा अन्य किसी व्यवसाय के सम्बन्ध की हो हिस्सों के हस्तान्तरित करने के आवेदन-पत्रों पर अपनी स्वीकृति की सूचना अधिक-से-अधिक दो मास के अन्दर दे देनी पड़ती है।

फिर सन् १९४४ के एक दूसरे सशोधन मे नियम व्यवस्था की गई थी :—

(१) कोई बैंकिंग कम्पनी चाहे वह ब्रिटिश भारत मे गठित हुई हो अथवा बाहर किन्तु यदि भारतवर्ष मे काम करती है तो इस विधान के पास होने के दो वर्ष बाद किसी मैनेजिङ्ग एजेण्ट के द्वारा नहीं चलाई जा सकती। न वह किसी ऐसे व्यक्ति को ही रख सकती है जिसका प्रतिफल अथवा जिसके प्रतिफल का कुछ भी अंश कमीशन के रूप मे अथवा कम्पनी के लाभ के प्रतिशत के रूप मे देने का निश्चय हुआ हो। न वह किसी से एक बार मे पॉच वर्षो से अधिक तक उसके चलाने का कोई समझौता किया जा सकता है।

(२) जिस बैंकिग कम्पनी का इस विधान के अनुसार सन् १९३७ की १५ जनवरी को अथवा उसके बाद सगठन हुआ है वह इस सन् १९४४ के विधान के लागू होने के दो वर्ष बाद ब्रिटिश भारत मे उस समय तक व्यवसाय नहीं कर सकती जिस समय तक वह निम्न शर्तो को पूरा नहीं कर देती है :—

(१) उसकी क्रीत पूँजी उसकी अधिकृत पूँजी की आधी है, और उसकी प्राप्त पूँजी भी उसकी क्रीत पूँजी की आधी है।

(२) उसके हिस्से केवल साधारण है अथवा यदि सपक्ष भी है तो वह इस सशोधन के पास होने के पहिले के हैं।

(३) प्रत्येक हिस्सेदार का मताधिकार उसकी पूँजी के अनुपात मे है।

किन्तु एक पृथक बैंकिंग विधान की आवश्यकता के कारण सन् १९४४ के नवम्बर मे एक बैंकिंग बिल यहाँ की व्यवस्थापिका सभा मे रक्खा गया और जब वह उक्त सभा के भङ्ग होने पर और दूसरी सभा

के बनने पर समाप्त हो गया। तब सन् १९४६ मे एक नया बिल रक्खा गया। किन्तु यह अभी तक स्वीकृत नहीं हो पाया है। इसकी मुख्य-मुख्य बातें यहाँ पर दी जाती हैं:—

(१) बैंकिंग की एक सीधी-साधी परिभाषा जिसका उद्देश्य इस विधान को केवल उनके ऊपर ही लागू करना है जो जमा प्राप्त करते है और उस जमा को सुरक्षित रखना तथा फौरन ही देने के लिये तैयार रखना है।

(२) न्यूनतम पूँजी निर्धारित करना।

(३) जोखिम दूर करने के उद्देश्य से अन्य व्यवसाय करने पर प्रतिबन्ध लगा देना।

(४) ब्रिटिश भारत के बाहर गठित और रजिस्टर्ड बैंकों के ऊपर भी नियन्त्रण रखना।

(५) भङ्ग होने पर शीघ्र ही भुगतान करवाना।

(६) आवश्यकता पड़ने पर रिज़र्व बैंक को उनकी किताबें और उनके हिसाब देखने का अधिकार देना।

(७) जब कोई बैंक जमा करने वालों के हित के विरुद्ध काम करे तब केन्द्रीय सरकार को उसके विरुद्ध कार्रवाई करने का अधिकार देना।

(८) एक विशेष प्रकार की बैलन्स शीट बनवाना और रिज़र्व बैंक को जब वह चाहे तब उनसे कोई भी सूचना माँगने का अधिकार देना।

किन्तु उपर्युक्त बिल के पास होने में देर मालूम पड़ने के कारण इस सम्बन्ध के कुछ फुटकर विधान पास कर दिये गये हैं। प्रथम का तो यह उद्देश्य है कि सरकार जब चाहे तब रिज़र्व बैंक को किसी भी बैंक के हिसाब को देखने के लिये नियत कर सके और यदि उसकी निरीक्षण की रिपोर्ट से यह पता चले कि उसका काम जमा करने वालों के हित मे ठीक नहीं चल रहा है तो उसे ठीक करने के लिये कोई भी उचित कार्यवाही कर सके। यदि आवश्यकता पड़े तो वह किसी भी बैंक को जमा प्राप्त करने के लिये मना कर सकती है अथवा रिज़र्व बैंक की तालिका में सम्मिलित होने से रोक सकती है अथवा यदि वह उस तालिका में पहिले से ही सम्मिलित है तो उसे उससे निकाल सकती है। दूसरे का उद्देश्य बैंकों की बढ़ती हुई शाखाओं का नियन्त्रण और कुछ अनुचित बातों को रोकना है, जैसे उनके साधनों

को देखते हुये उनकी शाखाओं पर अतिशय व्यय और उनके यहाँ अनुभवहीन कर्मचारियों की नियुक्ति। इसके अनुसार कोई बैंक रिज़र्व बैंक की पहिले से अनुमति लिये बिना न तो कोई नई शाख खोल सकता है और न किसी को बदल सकता है। कहना न होगा कि ऐसा करने के पहिले वह यह देख लेता है कि उस बैंक की आर्थिक स्थिति कैसी है, उसका विकास कैसा रहा है, उसकी व्यवस्था कैसी है, उसकी पूँजी पर्याप्त है अथवा नहीं, उसकी आय के लिये कैसी सम्भावना है और उस शाख से जनता का हित होगा अथवा नहीं। यदि आवश्यकता पड़ती है तो सरकार की सम्मति से वह उसके हिसाब, इत्यादि का भी निरीक्षण कर लेता है। तीसरे का उद्देश्य कुछ बैंक का जो यह चलन हो गया था कि वह मुदती देखनहार प्रण-पत्र निकालते थे जो करन्सी नोट का काम करने लगे थे उसे रोकना था।

वर्गीकरण

व्यापारिक बैंक चार वर्गों में बाँटे जा सकते हैं :— (१) जिनकी पूँजी उनके सुरक्षित कोप को मिलाकर पाँच लाख रुपये अथवा उससे अधिक है, (२) जिनकी पूँजी उनके सुरक्षित कोप को मिलाकर एक लाख और पाँच लाख रुपये के बीच में है, (३) जिनकी पूँजी उनके सुरक्षित कोष को मिला कर ५०,००० और १ लाख रु० के बीच में है, और (४) जिनकी पूँजी और सुरक्षित कोप ५०,००० रु० से कम है।

पहिले वर्ग में (अ) सदस्य और (ब) ग़ैरसदस्य बैंक हैं। सदस्य बैंकों की संख्या सन् १९४७ के अन्त में ९९ थी। इसमें इम्पीरियल बैंक और विदेशी बैंक भी सम्मिलित हैं। ग़ैरसदस्य बैंकों की सख्या सन् १९४५ के अन्त में ६८ थी। रिज़र्व बैंक विधान की ४२ (६) धारा में यह दिया हुआ है कि केन्द्रीय सरकार गज़ट में निकलवा करके किसी भी ऐसे बैंक का नाम रिज़र्व बैंक की दूसरी तालिका में सम्मिलित करवा सकती है जिसका नाम उसमें सम्मिलित न हो, जो ब्रिटिश भारत[1] में व्यवसाय करता हो और (अ) जिसकी पूँजी उसके सुरक्षित कोष को मिलाकर पाँच लाख रु० से कम न हो और (ब) भारतीय कम्पनी विधान की (२) धारा की (२) उपधारा में दी हुई परिभाषा के अनुसार कम्पनी हो अथवा ब्रिटिश भारत[1] के बाहर के किसी

---

[1]अब भारतवर्ष

विधान के अनुसार गठित कम्पनी अथवा कारपोरेशन हो और ऐसे ही उक्त तालिका मे सम्मिलित बैंक को उसमें से उसकी पूँजी और सुरक्षित कोष के पाँच लाख रुपये से कम हो जाने पर अथवा उसके दिवालिया हो जाने पर अथवा किसी अन्य कारण से बैंकिंग व्यवसाय बन्द कर देने पर हटा भी सकती है। सन् १९४० के पहिले यदि किसी बैंक की आडिट की हुई बैलन्स शीट से उसकी पूँजी उसके सम्मिलित कोष को मिला करके पाँच लाख मालूम पड़ती थी तो वह बैंक उपर्युक्त तालिका में सम्मिलित कर लिया जाता था। किन्तु इस संबन्ध मे सरकार को कुछ कठिनाइयाँ पड़ीं। अतः, उसने यह निश्चय कर दिया कि इस पूँजी और कोष का अर्थ वास्तविक पूँजी और कोष से है न कि उस पूँजी और कोष से है जो बैलन्स शीट मे दिखाई गई है। अतः, रिजर्व बैंक ने सरकार को इस बात का पता लगाने में सहायता देने का वचन दिया है और यदि आवश्यकता पड़ती है तो वह प्रार्थी बैंक की किताबों का निरीक्षण भी कर सकता है। बस (अ) मे यही बैंक है। उन्हे अपने कुछ दायित्वों को पूरा करना पड़ता है और उनके कुछ अधिकार भी हैं। (ब) मे वह बैंक है जो किसी कारणवश इस तालिका मे नहीं सम्मिलित हो पाये है। उनमें से कुछ तो भारतीय रियासतों मे रजिस्टर्ड हुये है और वहीं काम करते हैं। उन्हे इस तालिका मे इसलिये सम्मिलित नही किया जा सकता कि उनकी कोई शाख भी ब्रिटिश भारत मे[1] नहीं है।

दूसरे, तीसरे, और चौथे वर्गों में केवल ग़ैरसदस्य बैंक ही हैं। इनमें से प्रथम दो की संख्या तो सन् १९४५ में क्रमशः १७४ और ११४ थी और तीसरे की सख्या २४४ थी।

चौथे वर्ग के बैंक वही हैं जो सन् १९३६ के कम्पनी विधान के पास होने के पहिले स्थापित हो चुके थे। तब से ५०,००० रु० से कम पूँजी के बैंक चालू किये ही नहीं जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त जैसा कि पहिले भी कहा जा चुका है कम्पनी विधान की (६) धारा के अनुसार इनकी पूँजी इनके सुरक्षित कोष को मिलाकर सुरक्षित कोष के बराबर बढ़ने के कारण बढ़ रही हैं। अतः, इनकी संख्या उत्तरोत्तर घट रही

---

[1] अब रियासतें भारतवर्ष मे सम्मिलित हो रही हैं इससे स्थिति बदल जायगी।

है। सन् १९३९ से सन् १९४२ तक इनकी संख्या क्रमशः ४००, ३३२, १४७ और १३३ थी। इसके बाद यह बढ़ी। किन्तु इसका कारण यही था कि अब उन सभी बैंकों को रिज़र्व बैंक को अपनी रिपोर्ट देनी पड़ती है जो 'बैंक' के नाम से पुकारे जाते हैं। सन् १९४३ से सन् १९४५ तक इनकी संख्या क्रमशः १६१, २३५ और २४४ थी। सन् १९४६ में जिन ग़ैरसदस्य बैंकों ने रिज़र्व बैंक को अपनी रिपोर्टें भेजी थीं उनकी संख्या ६५९ थी। इसमें जो कारण ऊपर दिया हुआ है उसके अनुसार वह सभी संस्थायें सम्मिलित हैं जो अपने नाम के साथ-साथ 'बैंक' शब्द का प्रयोग करती हैं। किन्तु सत्य तो यह है कि इनमे से बहुतों को बैंक नहीं कहना चाहिये। वे इस नाम को केवल इसीलिये प्रयोग मे लाती हैं कि जिससे उन्हे एक प्रकार का सम्मान प्राप्त होता रहे।

वर्तमान स्थिति

द्वितीय महायुद्ध का इस देश की बैंकिंग पर काफी प्रभाव पड़ा। नई-नई संस्थायें खुलीं और पुरानी बढ़ गईं। इसका यह कारण नहीं था कि युद्ध से बैंकों को यहाँ के व्यापार और उद्योग-धन्धों को अधिक सहायता देने का अवसर मिला। बल्कि इसके विपरीत सरकार के उन व्यापार और धन्धों को स्वयं ही सहायता देने के कारण जो युद्ध सामग्री की पूर्ति में सहायता करते थे इनसे वह भी अवसर छिन गया जो इन्हे इसके पहिले प्राप्त था। इसके अतिरिक्त इनके उत्तरोत्तर बढ़ते हुये लाभ के कारण इनके स्वयं के पास इतनी पूँजी हो गई कि इन्हें बैंकों की सहायता लेने की आवश्यकता ही नहीं रह गई। फिर, सरकार ने भी ऐसे नियम बना दिये कि यह बहुत सी चीजों की गिरवीं पर ऋण नहीं दे सकते थे। किन्तु इनकी जमा बराबर बढ़ती जा रही है और भारतवर्ष मे बैंकिंग की उन्नति सदा से इसी कारण ही हुई है। युद्ध की व्यवस्था के लिये इस देश को केन्द्र बनाने का महत्व इस बार युद्ध के प्रारम्भ होते ही प्रतीत होने लगा था। इससे सरकार को अपनी और अन्य मित्रराष्ट्रों की ओर से यहाँ पर काफी व्यय करना पड़ा। अतः, फल यह हुआ कि यहाँ की करन्सी विशेषतः नोट करन्सी बढ़ती गई और उसी के कारण बैंकों के जमा भी बढ़ते गये। निस्सन्देह कभी-कभी युद्ध की विपरीत परिस्थितियों के

कारण जमा घटी भी; किन्तु उससे बैंकों को केवल अपनी स्थिति को दृढ़ रखने मे सहायता ही मिली।

जब से युद्ध प्रारम्भ हुआ अर्थात् सितम्बर १९३९ से, तब से सदस्य बैंकों की संख्या बढ़ती ही गई। सन् १९४७ के अन्त तक में कम से कम इस अवधि के बीच में ४२ नये सदस्य बैंक बन चुके थे। निस्सन्देह, इसमे से कुछ तो यहाँ पहिले ही से काम कर रहे थे। किन्तु कुछ नये बैंक भी हैं। इस बीच में कुछ ग़ैरसदस्य बैंक भी स्थापित हुये हैं।

सदस्य बैंकों और ग़ैरसदस्य बैंकों की शाखायें भी बढ़ती रही हैं। जब सन् १९३९ मे सब सदस्य बैंकों के १२५० दफ्तर थे, मार्च सन् १९४७ मे यह ३५७६ थे। इधर इनकी संख्या कुछ घट गई है। उपर्युक्त में से यदि इम्पीरियल बैंक की ४४७ और विनिमय बैंकों की ८० संख्या घटा भी दें तो भी यह काफी है। यह भी बहुत सन्तोष की बात है कि इनमें से कुछ दफ्तर तो उन स्थानों में खुले हैं जिनमें पहिले कोई बैंक था ही नहीं। दफ्तरों की संख्या मे यह वृद्धि नये बैंकों की स्थापना और उनके तथा पहिले से ही स्थापित बैंकों के सदस्य बैंक बन जाने के कारण और पुराने सदस्य बैंकों के अपने दफ्तरों की संख्या बढ़ा लेने के कारण हुई है। नवम्बर सन् १९४६ मे जैसा कि पहिले भी कहा जा चुका है एक ऐसा प्रतिबन्ध पास हो गया है कि जिसके कारण अब रिज़र्व बैंक की आज्ञा के बिना नये दफ्तर नहीं खुल सकते है।

इस अवधि के बीच मे सदस्य तथा ग़ैरसदस्य बैंकों की जमा भी बढ़ गई है। सदस्य बैंकों की जमा सन १९३९ के सितम्बर में २३६·६० करोड़ रु० थी और ग़ैरसदस्य बैंकों की उसी दिसम्बर में १५·९६ करोड़ रु० थी। इसकी तुलना में इन दोनों की जमा क्रमशः ७६८·८२ (अप्रैल, १९४८ मे) और ७८·४४ (सन् १९४६ के अन्त में) करोड़ रु० थी। निस्सन्देह, प्रथम में इम्पीरियल बैंक और विनिमय के बैंकों की जमा भी सम्मिलित है। किन्तु यह बिना किसी संकोच के कहा जा सकता है कि जो वृद्धि भी हुई है वह सभी के यहाँ हुई है।

बैंकों ने अपनी पूँजी भी बढ़ा ली है। बड़े बैंकों ने तो ऐसा जमा में पूँजी के अनुपात को बढ़ाने की दृष्टि से किया। ऐसा करने में उन्होंने बाजार की आर्थिक स्थिति से लाभ उठाया और अपने हिस्सों

को अधिक मूल्य पर बेचकर अपने सुरक्षित कोष को भी बढ़ा लिया। छोटे बैंकों ने ऐसा सदस्य बैंक बनने के लिये किया। सन् १९३६ के विधान की (६) धारा के अनुसार उनका सुरक्षित कोष भी बढ़ता रहा। पूँजी को इस तरह से बढ़ाने की इस प्रथा पर भी ऐतराज किये गये है। कहा जाता है कि जमा में पूँजी का जो अनुपात होना चाहिये उसके विषय मे कोई निश्चित बात नहीं है। कम अनुपात होने से किसी प्रकार की शंका नहीं करनी चाहिये। अधिक पूँजी होने से अधिक लाभ प्राप्त करने का प्रयत्न करना पड़ता है। अतः, इससे अनुचित लागत लगाने का भी डर रहता है। नये बैंकों में भारत बैंक की पूँजी (२ करोड़ रु० से भी अधिक) पाँचों बडे बैंकों की पूँजी से अधिक थी; हिन्दुस्तान कमर्शियल बैंक की (१½ करोड़ रु०) केवल सेन्ट्रल बैंक को छोड़कर अन्य सब बडे बैंकों की पूँजी से अधिक और यूनाइटेड कमर्शियल बैंक की सेन्ट्रल बैंक और बैंक आफ इण्डिया को छोड़कर अन्य सब बैंकों की पूँजी से अधिक थी।

इनका नकद कोष भी बढ़ रहा है। युद्ध के पहिले यह प्रायः जमा का १० प्रतिशत रहता था, किन्तु युद्ध काल में यही प्रायः १५ प्रतिशत रहता था। शान्ति के साथ-साथ यह शायद फिर घट जाय।

इनके कार्य

सब प्रकार के जमा प्राप्त करने के साथ-साथ ये व्यापार और उद्योग-धन्धों को भी यथा-सम्भव आर्थिक सहायता पहुँचाते रहते हैं, अर्थात् नकद साख एकाउण्ट खोलते हैं, बिलों और हुण्डियों को डिस्काउण्ट करते हैं, द्रव्य को एक स्थान से दूसरे स्थानों को पहुँचाने की सुविधा देते हैं और जनता की अन्य दूसरे प्रकार से सेवायें करते हैं। कृषि और उद्योग-धन्धों को आर्थिक सहायता देने में इनका जो हाथ रहता है उसके विषय मे तो हम पहिले ही अध्ययन कर चुके हैं। आगे के एक अध्याय मे हम यह भी देखेंगे कि वह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को कहाँ तक आर्थिक सहायता देते हैं। हाँ, यहाँ पर यह कह देना भी शायद अनुचित न होगा कि यह इस सम्बन्ध मे भी कोई सन्तोषजनक काम नहीं करते। इधर इनका जो कुछ भी हाथ है वह माल को बन्दरगाहों से उसके उपभोक्ताओं तक और मण्डियों से बन्दरगाहों तक पहुँचाने के सम्बन्ध मे है। इधर भी यह उतना काम

नहीं करते जितना इनको करना चाहिये। बात यह है कि विदेशी-बैंकों ने अपनी शाखायें देश के भीतरी शहरों में भी खोल रक्खी हैं अथवा कुछ भारतीय बैंकों के मार्फत अपना काम करवा लेते हैं। अतः, इनको पूरा काम नहीं मिलता।

इनकी जमा निरन्तर और विशेषतः युद्धकाल मे वढ़ती रही है। अब चूँकि अधिकतर बैंक अपनी भिन्न-भिन्न प्रकार की जमा पृथक-पृथक नही दिखलाते, अतः, इनके बीच मे उसके वितरण का कोई अन्दाजा नहीं लगाया जा सकता। हाँ, जहाँ तक यहाँ के पाँच बड़े बैंकों का सम्बन्ध है, उनकी स्थायी और अस्थायी जमा की रकम अलग-अलग मालूम की जा सकती है, और जब से रिजर्व बैंक स्थापित हुआ है तब से तो सभी सदस्य-बैंकों के सम्बन्ध की यह सूचना मिल सकती है। इससे यह पता लगता है कि प्रथम की अस्थायी जमा और स्थायी जमा का पारस्परिक अनुपात सन् १९१३ मे १३·१ : ८६·९; सन् १९२० मे ३४·८ : ६५·२; सन् १९२६ मे ३३·४ : ६६·६; और सन् १९२९ मे ३५·० : ६५·० था और द्वितीय का यही सन् १९३६ मे ५४·६ : ४५·४; सन् १९३८ मे ५४·८ : ४३·२; सन् १९४० मे ५७·१ : ४२·९; सन् १९४२ मे ७६·२ : २३·८, सन् १९४४ मे ७२·९९ : २७·०१; और सन् १९४६ मे ७१·६ : २८·४ था। यह इस बात का प्रमाण है कि अस्थायी जमा स्थायी जमा की अपेक्षाकृत उत्तरोत्तर अधिक चल रही है; और साधारणतया तो यह अच्छी बात है। किन्तु वर्तमान स्थिति में इससे केवल स्थायी जमा के कम होने का पता चलता है। हमारे यहाँ स्थायी जमा कई कारणों से कम होती जा रही है।

प्रथम तो सन् १९२० के बाद से डाकखानों के सेविंग्स बैंक खाते और कैश सार्टीफिकट बहुत प्रिय होते जा रहे थे। सन् १९२० और सन् १९३९ के प्रथम के अङ्क क्रमशः २१३४ लाख और ८४४४ लाख रुपये थे और यही द्वितीय के सन् १९२० और सन् १९३६ के क्रमशः ५७५ लाख और ६५९८ लाख रुपये थे। तब से यह अवश्य कम हो रहे है। यह केवल इसलिये ही नहीं था कि बैंकों की अपेक्षा डाकखानों पर जनता का अधिक विश्वास था, बल्कि इसलिये भी कि वे बैंकों को अपेक्षाकृत ऊँचा व्याज देते हैं।

दूसरे, जान बीमा तथा भिन्न-भिन्न प्रकार के सरकारी तथा औद्योगिक कम्पनियों के साख-पत्रों मे भी दिनोंदिन लागत वढ़ती

जा रही है। जो धन पहिले स्थायी जमा के रूप में लग जाता था वह अब अस्थायी जमा के रूप में आकर अन्त में इनमें लग जाता है।

भिन्न-भिन्न प्रकार की जमा पर जो व्याज की दर दी जाती हैं उनका भी उनके वितरण पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। किन्तु सेन्ट्रल बैंक को छोड़कर अन्य किसी बैंक के इन व्याज के दरों के विषय में कोई लेख नहीं मिलता। हाँ, प्रायः सभी बैंकों की दोनों तरह की जमा को एक साथ लेने पर उनके व्याज की औसत दर का पता चल जाता है। जहाँ तक हो चालू खाते में व्याज नहीं देना चाहिये और यही प्रथा अन्य देशों में है भी। हम जानते हैं कि लोग चालू खातों में तो जमा केवल अपनी सुविधा के विचार से करते हैं न कि वह उसे लाभप्रद लागत समझते हैं। अतः, व्याज की दर के अनुसार यह बिल्कुल नहीं घटती-बढ़ती। फिर व्याज देने का प्रभाव बैंकों के ऊपर भी अच्छा नहीं पड़ता। इससे उन्हें आय करने की आवश्यकता अनुभव होती है; अतः, वह मन्दी में लागत लगाने का प्रयत्न करते हैं जिसका फल अच्छा नहीं होता। इससे वे फेल भी हो जाते हैं। किन्तु यहाँ, विदेशी बैंक भी चालू खातों पर व्याज देते हैं। इम्पीरियल बैंक अवश्य ऐसा नहीं करता। सम्मिलित पूँजी वाले बैंकों में से कुछ को छोड़कर अन्य सभी कुछ न कुछ व्याज देते ही हैं। यह केवल इसलिये ही है कि वह जानते हैं कि वह इम्पीरियल बैंक और विदेशी बैंकों के सामने व्याज दिये बिना नहीं ठहर सकते। सन् १९३१ तक सेन्ट्रल बैंक माँग पर देय जमा पर औसतन २·०१ से २·५३ प्रतिशत तक व्याज देता था। इधर यह अवश्य कम कर दिया गया है। किन्तु स्थायी खातों पर व्याज देना एक दूसरी ही बात है। इस पर व्याज की दर के अनुसार इसकी रकम भी घटती-बढ़ती रहती है। स्थायी और अस्थायी खातों के बीच में भी यह बात है कि स्थायी खातों पर बहुत थोड़ी दर से व्याज मिलने पर लोग स्थायी खातों में जमा न करके अस्थायी खातों में ही जमा रखना अधिक पसन्द करते हैं। इधर हमारे यहाँ यही हुआ है; स्थायी जमा अस्थायी हो गई है।

स्थायी और चालू खातों मे दोनों मे इधर जो व्याज की दर कम हो गई है उसका प्रभाव यह पड़ा है कि लागत के स्रोत शुष्क पड़ गये हैं। यह सचमुच ही खराब है। अतः, जैसा कि आगे चलकर ज्ञात

होगा इस सम्बन्ध में बैंकों को अपनी ऋण देने की नीति को अधिक उदार बनाना पड़ेगा। आजकल वे अतिरिक्त जमानतों पर जोर देते है और यदि वह नहीं मिलती तो ऋण नही देते। इसका यह फल होता है कि उनके पास द्रव्य पड़ा रहता है; अत', वह जमा प्राप्त करने के विपय में उदासीन हो जाते हैं।

अगले पृष्ठों की तालिका मे इम्पीरियल बैंक और सात प्रधान बैंकों की सन् १९३९ से सन् १९४५ तक की भिन्न-भिन्न जमा के अङ्क दिये जाते है जिससे इनकी तुलनात्मक उन्नति का अनुमान किया जा सकता है—

[सहस्र रुपयों में]

बैंक का नाम	वर्ष	स्थायी	सेविंग्स	जमा चालू	अन्य	कुल जोड़
इम्पीरियल बैंक	१९३९	......	......	......	......	८७,८४,१६
	१९४०	......	......	......	......	९६,०३,१७
	१९४१	......	......	......	......	१,०८,११,९०
	१९४२	......	......	......	......	१,६३,४६,४८
	१९४३	......	......	......	......	२,१४,५७,८०
	१९४४	......	......	......	......	२,३४,४२,००
	१९४५	......	......	......	......	२,५९,३७,४५
सेन्ट्रल बैंक	१९३९	११,६२,००		१८,२४,८२	......	२९,८६,८२
	१९४०	१०,८६,३८		२१,६३,५०	......	३२,४९,८८
	१९४१	१२,०३,१२		२९,२८,७८	......	४१,३१,९०
	१९४२	११,५१,४६		४८,१३,८८	......	५९,६५,३४
	१९४३	१४,०८,४२		६७,५५,२९	......	८१,६३,७१
	१९४४	१८,६१,०८		७५,८७,५८	......	९४,४८,६६
	१९४५	२२,५०,३३		८२,७२,५८	......	१०५,२३,४१

बैंक आफ इण्डिया	१९३९	.....	......	..	....	१८,५९,५१
	१९४०	....	....	.. .	....	२२,२७,६१
	१९४१	....	....	.... ..	....	२५,८६,०३
	१९४२	....	....	....	....	३६,८२,३४
	१९४३	....	....	....	....	५५,१३,८८
	१९४४	११,०२,४३	....	४९,८०,२८	....	६०,८२,७१
	१९४५	१२,१८,५०	....	४६,८३,०४	....	५९,०१,५४
इलाहाबाद बैंक	१९३९	६,०८,९७	१,५८,७४	३,२७,४९	२०,९७	११,१६,१७
	१९४०	६,६२,५७	१,५६,६१	३,६८,६७	१,९४	११,८९,७९
	१९४१	६,२३,९६	१,३७,५९	५,३३,८०	२,२९	१२,९७,६४
	१९४२	५,३६,२६	१,६२,५०	९,८३,२६	२,४१	१६,८४,४३
	१९४३	७,८७,१३	१,९१,३७	११,०६,५२	२,५८	२०,८७,६०
	१९४४	९,१२,१९	२,२३,३०	११,५४,५९	२,८०	२२,९३,८८
	१९४५	१३,३६,७७	२,७९,९९	१२,५५,१५	२,९९	२८,७४,९०

पंजाब नेशनल बैंक	१९३९	५,५०,७५	....	१,५९,१३	५,१७	७,१५,०५
	१९४०	५,५८,७७	....	२,३८,०२	६,१८	८,०२,९७
	१९४१	६,०१,४२	....	३,७१,२२	७,६६	९,८०,३०
	१९४२	७,४९,२३	....	७,८७,५७	९,५३	१५,४६,३३
	१९४३	१३,०६,४४	....	१३,३६,७२	....	२६,४३,१६
	१९४४	२०,७०,७२	....	१६,७८,०२	२७,०६	३७,७५,८१
	१९४५	३०,४४,५७	....	२१,०७,८९	....	५१,५२,४६
बैंक आफ बड़ोदा	१९३९	२,६१,७२	....	४,३२,५९	५,४३	६,९९,१४
	१९४०	२,५१,७०	....	४,९०,८०	५,९९	७,४८,४९
	१९४१	३,३६,१३	....	६,२३,८८	....	९,६०,०१
	१९४२	२,८३,०६	....	१०,४३,६६	....	१३,२६,७२
	१९४३	५,०७,८३	....	१५,६६,१२	७,६०	२०,७३,९५
	१९४४	६,१५,७३	....	२०,२३,२६	८,९५	२६,३८,९९
	१९४५	७,८४,५५	....	२१,७३,२१	१०,१९	२९,६७,९५

भारत बैंक	१९४३	५,२२,४०	. .. .	८,६२,०६	११,२४	१३,९५,७०
	१९४४	८,८५,९२	.. . .	११,५५,४२	....	२०,४१,००
	१९४५	१३,४४,१५	. ...	१३,४७,१८	....	२६,९१,३३
युनाइटेड कमर्शियल बैंक	१९४३	३,०३,०४	....	९,७४,१५	... .	१२,७७,१९
	१९४४	३,५७,०२	. ...	१३,६५,२३	....	१७,२२,२५
	१९४५	६,९३,३५	....	१६,९५,१०	....	२३,८८,५३

जहाँ तक व्यापार की आर्थिक सहायता करने का प्रश्न है, वह कई रूप मे की जाती है। दीर्घकालीन और
अल्पकालीन ऋण मे से चूँकि आजकल अल्पकालीन ऋण पर ब्याज की दर बहुत अच्छी है और व्यापारिक बैंक के
दायित्व अल्पकालीन होते है, इसलिये वह अल्पकालीन ऋण देना पसन्द करते है। इनमे से यदि हम मुख्य ऋण
(Loans & Advances) को पहिले ले, तो जमा की तुलना मे वह इतने अधिक नहीं हैं जितने कुछ अन्य
देशों मे पाये जाते है। आगे इम्पीरियल बैंक तथा पाँच बडे बैंकों की जमा के मुख्य ऋण मे सन् १९४१, १९४३ और
१९४५ के अनुपात दिये गये है—

जमा का मुख्य ऋण में प्रतिशत

	सन् १९४१ की बैलन्स शीट के अनुसार	सन् १९४३ की बैलन्स-शीट के अनुसार	सन् १९४५ की बैलन्स-शीट के अनुसार
इम्पीरियल बैंक	३३	१५	२४
सेन्ट्रल बैंक	४०	२८	३२
बैंक आफ इण्डिया	४०	२४	३२
इलाहाबाद बैंक	३३	३५	५०
पंजाब नेशनल बैंक	४४	३२	२६
बैंक आफ बरोदा	४८	३०	३७

इससे कोई बात निश्चित रूप से नहीं कही जा सकती। कुछ बैंकों के यहाँ यह प्रतिशत अन्य बैंकों के यहां की अपेक्षाकृत बढ़ी हुई है। एक वर्ष और दूसरे वर्ष के प्रतिशत मे भी कभी-कभी बडा अन्तर है। यह बहुत लोचप्रद मालूम पड़ता है और ऐसा ज्ञात होता है कि व्यापार की स्थिति के अनुसार घटता-बढता रहता है। इन मुख्य ऋणों मे कृषि और उद्योग-धन्धों को दिये हुये ऋण भी सम्मिलित है चाहे वह कितने ही कम न हों; अत, हम यह नही कह सकते कि इनमे कितने व्यापार के सम्बन्ध के है।

हमे इन ऋणों के रूप को भी मालूम कर लेना चाहिये। देश मे चेक का चलन बहुत कम है। अत:, इनमे से अधिकाश ऋण नकदी के रूप मे दिये जाते है। इनके लिये जो जमानते दी जाती है वह प्राय: जमीन, मकान, जेवर, सोना, चॉदी तथा सरकारी साख-पत्रों की होती है। जो हो, ऐसे ऋण देने के लिये अब बैंक कम तैयार होते है। जहॉ तक सम्भव होता है वह ऋण लेने वाले से अपने यहॉ एक चालू खाता खोल लेने को कहते है और उसमे जमा की हुई रकम से अधिक निकालने की आज्ञा दे देते है। प्राय: जमानत पर ३० प्रतिशत की गुञ्जाइश रक्खी जाती है। इन सब मे नकद साख के रूप का ऋण बहुत ही महत्वपूर्ण है। बात यह है कि वह बैंक और ग्राहक दोनों की दृष्टि से लाभप्रद है। बैंक तो जैसा कि हम जानते है— जब चाहे तब और ऋण देना बन्द कर सकते है और ग्राहक उनके ऊपर जितनी दैनिक बाकी निकलती है उसी पर ब्याज देते है। इस ऋण की जमानत प्रायः व्यापार सम्बन्धी माल ही की होती है जो या तो व्यापारी के गोदाम मे ही छोड़ दिया जाता है या बैंक के गोदाम मे रख दिया जाता है। प्रथम स्थिति में तो बैंक उसमे अपना ताला लगा लेता है और उस पर अपने नाम की तख्ती भी टॉग देता है और द्वितीय स्थिति मे वह गोदाम भाड़ा भी लेता है। दोनों स्थितियों में बीमा भी करवा लिया जाता है; अत:, उसका खर्च भी ऋण लेने वाले के ऊपर ही पड़ता है। वैयक्तिक जमानतों पर बहुत कम ऋण दिये जाते हैं और यदि वह दिये भी जाते हैं तो उनके लिये दो धनियों के हस्ताक्षर के प्रण-पत्र लिखवा लिये जाते हैं।

यदि हम डिस्काउण्टिंग को ले तो यह कहा जा सकता है कि यह बहुत चालू नहीं है। सदस्य बैंकों ने मार्च सन् १९४७ मे केवल

२२·०७ करोड़ रुपयों के बिलों को डिस्काउण्ट कर रक्खा था। यह उनके कुल दायित्व (८६३·७४ करोड़ रुपये) की तुलना मे कुछ भी नही है। निम्न तालिका मे यह इम्पीरियल बैंक तथा अन्य पाँच बड़े बैंकों के सम्बन्ध का सन् १९४१, १९४३, और १९४५ का कुल जमा के प्रतिशत मे दिया हुआ है :—

कुल जमा का बिल डिस्काउण्टिंग में प्रतिशत

	बैलन्स-शीट के अनुसार		
	१९४१	१९४३	१९४५
इम्पीरियल बैंक	७·१	३·४	३·२
सेन्ट्रल बैंक	६·४	४·८	६
बैंक आफ इण्डिया	२·६	०·५	३·३
इलाहाबाद बैंक	२·१	३·७	२·५
पंजाब नेशनल बैंक	...	·०८	२·७
बैंक आफ बड़ोदा	२·३	०·४	३·५

यह बहुत ही कम है। अतः, बैंकों की दृष्टि से इसके बहुत अच्छे होने के कारण इसे बढ़ाने के लिये प्रयत्न करने चाहियें। नये बैंकों मे से डिस्काउण्ट बैंक, यूनाइटेड कमर्शियल बैंक और भारत बैंक इस व्यवसाय को काफी करते हैं।

अन्त मे हम सरकारी तथा अन्य प्रकार के साख-पत्रों में लगी हुई लागत को ले सकते है। इस सम्बन्ध के जो अङ्क हैं उनमें एक बैंक की दूसरे बैंकों मे जो स्थायी जमा रहती है वह भी सम्मिलित है। अतः, इसके सम्बन्ध मे कुछ नहीं कहा जा सकता। किन्तु इससे कुछ अनुमान तो लग ही सकता है।

जमा का सरकारी तथा अन्य साख पत्रों में लागत तथा अन्य बैंकों में स्थायी जमा के रूप में प्रतिशत

	बैलन्स-शीट के अनुसार		
	सन् १९४१	१९४३	१९४५
इम्पीरियल बैंक	६४	६३	५९
सेन्ट्रल बैंक	५१	५५	६१
बैंक आफ इण्डिया	४५	५७	५६
इलाहाबाद बैंक	४९	४९	४१
पंजाब नेशनल बैंक	५१	५१	६५
बैंक आफ बड़ोदा	४८	६०	५२

लागत की वसूली की दृष्टि से सरकारी साख-पत्रों मे लागत लगाना बहुत ही अच्छा है, किन्तु व्यापार की सहायता करने की दृष्टि से तो यह उतना अच्छा नहीं है। अतः, इन बैंकों को इसमें से रुपया खींच कर व्यापारियों को देना चाहिये।

सम्मिलित पूँजी के भारतीय बैंक रुपयों को एक स्थान से दूसरे स्थानों को भेजने मे भी बहुत सहायता पहुँचाते है तथा अन्य प्रकार से भी लोगों की सेवाये करते है। जहाँ तक रुपयों को एक स्थान से दूसरे स्थानों को भेजने का सम्बन्ध है इसके लिये वे बड़ी ऊंची दर चार्ज करते है और विशेषतः उन स्थानों मे जहाँ उनकी प्रतियोगिता करने वाले दूसरे बैंक नही है। अतः, उन्हे इसे कम करना चाहिये।

इनका भविष्य

इस देश मे सम्मिलित पूँजी वाले बैंकों का भविष्य बहुत कुछ यहाँ की सरकार की भविष्य मे सरकारी और गैरसरकारी औद्योगिक योजनाओं के प्रति जो नीति होगी उस पर निर्धारित रहेगा। वैसे तो लोग स्वतन्त्रता मिल जाने पर भी बहुत उत्साहित नहीं हैं। साम्प्रदायिक और खाद्य स्थिति के बिगड़ जाने के कारण भविष्य पर उन का कोई विश्वास नही रह गया है। फिर, लड़ाई चाहे न हो किन्तु उसके बादल तो घिरे ही हुये हैं। छोटी-मोटी लड़ाइयाँ चल भी रही

हैं। घूसखोरी और अनाचार व्यापार तथा औद्योगीकरण के रास्ते में खड़े है। प्रथम युद्ध के बाद बहुत से बैंक फेल हुये थे; अतः, इसी बात की आशंका इस बार भी है। जब-जब कोई बैंक अथवा बैंक की शाख किसी नये स्थान मे खुलती थी तब-तब वहाँ के लोग उसे सन्देह की दृष्टि से देखते थे। यहाँ पर अब तक बैंकिंग की प्रत्येक तेजी के बाद उसकी मन्दी आयी है। किन्तु शायद इस बार ऐसा न हो। प्रथम तो जितने बैंक युद्धकाल में स्थापित हुये हैं उनमें से अधिकांश यथेष्ट पूँजी के साथ हुये है। हमें ज्ञात है कि सन् १९३६ के भारतीय कम्पनी विधान की (४) धारा के अनुसार जैसा कि इस पुस्तक में पहिले भी कहा जा चुका है कोई भी बैंक यहाँ पर ५०,००० रु० से कम पूँजी से स्थापित ही नही हो सकता था। फिर भारत के सुरक्षा सम्बन्धी नियमों के (९४ अ) नियम के अनुसार १७ मई सन् १९४३ को जो पूँजी निकालने के नियन्त्रण का आर्डनेन्स निकाला गया था उसने ऐसी कम्पनियों की संस्थापना को रोक दिया था जिनके युद्ध के बाद चलने की कोई सम्भावना नहीं दिखाई पड़ती थी। अतः, तब से किसी भी नये बैंक के खुलने के पहिले सरकार की आज्ञा प्राप्त करने के लिये एक आवेदन-पत्र देना पड़ता है और सरकार उस पर रिज़र्व बैंक की सम्मति लेकर अपनी अनुमति देती है। दूसरे, पहिले से स्थापित बैंकों ने भी अपनी पूँजी, इत्यादि बढ़ाकर अपनी स्थिति दृढ़ कर ली है। तीसरे, अब रिज़र्व बैंक का भी सहायक हाथ है। सदस्य बैंकों के साथ तो इसका सम्बन्ध इधर युद्धकाल में और भी दृढ़ हो गया है। यहाँ की बैंकिंग प्रणाली के ऊपर सरकार का भी नियन्त्रण अब बहुत बढ़ गया है। चौथे, जैसा कि हम पहिले भी देख चुके हैं, बैंकों की नकद स्थिति भी अच्छी हो गई है। ये रिज़र्व बैंक के पास जो कोप रखते हैं वह प्रायः न्यूनतम से अधिक रहता है। ग़ैरसदस्य बैंकों की भी नकद स्थिति बहुत अच्छी है। अन्तिम बात यह है कि अब इन्हें उन्नति करने का बहुत अवसर मिलेगा, विशेषतः इसलिये कि भविष्य में हमारी राष्ट्रीय सरकार इनकी सहायता ही करेगी न कि इनके रास्ते मे जैसा कि विदेशी सरकार पहिले किया करती थी रोड़े अटकायेगी।

ऊपर जो बातें कही गई है उनका प्रमाण भी अभी हाल ही में मिल चुका है। नवम्बर सन् १९४६ मे बंगाल के कुछ छोटे-छोटे बैंकों

के कठिनाई में पड़ जाने की सूचना प्राप्त हुई थी। किन्तु सभी के लिये यह बहुत ही प्रशंसा की बात हुई कि सकट टल गया और उससे किसी की भी हानि नही हुई। प्रथम तो रिज़र्व बैंक ने और भारत सरकार ने व्यर्थ की बातों का खण्डन किया। दूसरे, रिज़र्व बैंक ने सब बैंकों से उनके सरकारी साख-पत्रों को खरीद करके उन्हे रुपया देने की घोषणा कर दी। इसका बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ा और स्थिति शीघ्र ही सम्भल गई। हाँ, कुछ ग़ैरसरकारी बैंकों को कठिनाई उठानी पड़ी जो केवल इसलिये थी कि उनकी व्यवस्था खराब थी, उन्होंने व्यर्थ के लिये बहुत सी शाखायें खोल ली थीं, उन्होंने ऋण भी बिना समझे बूझे दे रक्खे थे, वे स्टाक एक्सचेञ्जों मे सट्टेबाज़ी करते थे और उनके यहाँ विशेष शिक्षित कर्मचारी नही थे। ऐसे बैंक सचमुच हमारी बैंकिंग-प्रणाली के लिये बहुत ही शर्म की बात हैं। अतः, उन्हें आपस में अथवा बड़े-बड़े बैंकों से मिलकर अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाना चाहिये। अपनी सरकार हो जाने से हमें भविष्य पर विश्वास करना चाहिये।

उन्नति के लिये क्षेत्र

इन बैंकों की शाखायें लगभग १५०० शहरों मे हैं। इसके यह अर्थ है कि लगभग १००० शहरों मे अब भी कोई आधुनिक बैंक नहीं है। किन्तु वे व्यापार की दृष्टि से किसी महत्व के नहीं हैं। अतः, उन्हे इस समय छोड़ा जा सकता है। इस समय जो आवश्यकता है वह वर्तमान बैंकों के और उनकी शाखाओं के ठोस बनाने की है। हम जानते है कि इंगलैण्ड में उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त मे और इस शताब्दी के आरम्भ मे यही किया गया था। वहाँ के केवल १६ बैंकों की तुलना मे हमारे देश मे कई सौ बैंक है। छोटे बैंकों को परस्पर अथवा बड़े बैंकों से मिल जाना चाहिये। कुछ शहरों में तो बैंकों की बहुत बड़ी संख्या है। उदाहरणार्थ कलकत्ते मे ३८८, बम्बई में १८३, लाहौर मे ९५, मद्रास मे ८५, दिल्ली मे ८०, अहमदाबाद में ५२, ढाका मे ४७, कोयमबटूर और अमृतसर में से प्रत्येक मे ४२, त्रिचनापली मे ३५। इसमें शक नहीं कि कहीं-कहीं तो वहाँ के व्यवसाय को देखते हुये इन शाखाओं की सख्या उचित जान पड़ती है। किन्तु प्रायः यह एकीकरण के द्वारा घटाई जा सकती है। इससे न केवल

प्रतियोगिता कम हो जायगी बल्कि व्यवसाय के अनुपात में खर्च भी घट जायगा। भविष्य में जितना जनता के हित में उतना ही इन बैंकों के हित में भी यह आवश्यक है कि इनमें व्यवसाय की खींचा-तानी, नई शाखाओं की अनुचित संस्थापना और जमा के ब्याज की दर में प्रतियोगिता बन्द हो जाय और यह तभी हो सकता है जब इनमें पारस्परिक एकीकरण हो। इनके गलाकाट-प्रतियोगिता के स्थान पर पारस्परिक सम्मिलन की नीति अपनाने से सभी को लाभ होगा। जैसा कि हम देख चुके हैं कुछ बैंक माँग पर देय जमा पर भी ब्याज देते हैं। इसे रोकना चाहिये। कुछ लोग यह समझते हैं कि जमा प्राप्ति के लिये ब्याज देना जरूरी है। किन्तु ऐसा नहीं है। जरूरी तो यह है कि बैंक विश्वासपात्र बने। बैंकिंग की आदत काफी बढ़ गई है। बहुत से लोगों ने सरकारी सुरक्षा के और बचत के प्रमाण-पत्रों में रुपये जमा कर अथवा लगा रक्खे हैं। वे सब बैंकों के सम्भावित ग्राहक हैं। अतः, बैंकिंग की उन्नति के लिये बहुत बड़ा क्षेत्र है। बैंकों को ऋण और बिल डिस्काउंटिंग के सम्बन्ध में भी कुछ अधिक उदारता की नीति अपनानी चाहिये। जैसा कि पहिले भी कहा जा चुका है उनके रहने से तभी लाभ हो सकता है जब वह व्यापार और उद्योग-धन्धों में रुपया लगावें न कि केवल सरकारी साख-पत्रों को ही खरीद कर रक्खें। युद्धकाल में उन्होंने सरकारी साख-पत्रों में बहुत रुपया लगा दिया है। रिजर्व बैंक जैसे जैसे उन्हें व्यापार और उद्योग-धन्धों की सहायता करने के लिये रुपयों की आवश्यकता पड़े वैसे वैसे इन्हें खरीद कर उन्हे इनसे मुक्त कर सकता है। किन्तु यह तभी सम्भव है जब युद्धोत्तर काल की योजनाओं को कार्यरूप में परिणत किया जाय। वे लागत लगाने वालों और उद्योग-धन्धों के बीच में मध्यस्थ का कार्य भी कर सकते हैं। उन्हें पहिले तो उद्योग-धन्धों की कम्पनियों के हिस्सों को खरीद लेना चाहिये और फिर उन्हें लागत लगाने वाले लोगों के हाथ बेच देना चाहिये। वे अवश्य ही ऐसा कर सकते है। उनके पास, विशेषतः इम्पीरियल बैंक और सात बड़े बैंकों के पास अच्छी पूँजी भी है। यदि हम इनके और औद्योगिक कम्पनियों के सञ्चालक मण्डल की ओर दृष्टि डालें तो हमे ज्ञात होगा कि बहुत से सचालक तो दोनों में एक ही हैं। अतः, उन्हें उद्योग-धन्धों का अनुभव भी है और इससे वे नये उद्योग-धन्धों की

सम्भावनाओं पर भी अपनी सम्मति दे सकेंगे। इससे उन उद्योग-धन्धों की संस्थापना भी रुक जायगी जिनकी सफलता के लिये कोई आशा नहीं की जा सकती है। बैंकों के द्वारा पास किये हुये धन्धों के हिस्से और ऋण-पत्र बड़े प्रिय हो सकेंगे और उन्हें जनता हाथों-हाथ ले लेगी। और यदि उन्हें पहिले इन्हें लेना भी पड़ेगा तो बाद में वे इन्हें जनता के हाथों बेच भी सकेंगे।

कठिनाइयाँ और दोष

भारतीय बैंक अनेकों कठिनाइयों और दोषों के होते हुये भी काम कर रहे है। अतः, यदि यह दूर हो जायँ तो इनकी उन्नति हो सकती है।

(१) विदेशी सरकार और उसके अफसर भारतीय बैंकों को अपना काम नहीं देते थे। उनका सम्बन्ध इम्पीरियल बैंक तथा विदेशी बैंकों से रहता था। ऐसी आशा की जाती है कि हमारी राष्ट्रीय सरकार उन्हे काम देगी और सबों को देगी न कि केवल इम्पीरियल बैंक को।

(२) इन्हे बड़े-बड़े शहरों मे विदेशी बैंकों की प्रतियोगिता का सामना करना पड़ता है। अतः, वहाँ पर इनकी हानि ही होती है। केवल छोटे शहरों मे ही जहाँ उनकी शाखायें नहीं हैं इनका व्यवसाय अधिक चलता है और लाभ प्राप्त होता है। इधर बड़े-बड़े शहरों की शाखाये वहाँ की अपनी हानि को पूरी करने के उद्देश्य से छोटे-छोटे शहरों मे भी अपनी उपशाखाये खोलने लग गये हैं।

(३) अधिकांश उद्योग-धन्धे और व्यापार, विशेषतः विदेशी व्यापार, विदेशियों के आधिपत्य मे हैं। अतः, वे इस देश में अपने-अपने देशों के बैंकों की शाखाओं से ही सम्बन्ध रखना अधिक पसन्द करते है।

(४) बहुत से भारतीय व्यापारी भी विदेशी बैंकों ही मे अपने हिसाब रखते हैं। बात यह है कि उनमे देश प्रेम का अभाव है। अन्य देशों में यह प्रेम बड़ा काम करता है।

(५) इम्पीरियल बैंक पहिले तो देश के मुख्य बैंक की हैसियत से और अब केन्द्रीय बैंक के एक मात्र अढ़तिये की हैसियत से अन्य

बैंकों से बड़ी आसानी से प्रतियोगिता कर लेता है। अतः, उन्हें इसके सामने कठिनाई पड़ती है।

(६) इनके वारम्बार फेल होने के कारण इनमें विश्वास भी नहीं जम पाता है।

(७) कुछ वैधानिक बन्धनों के कारण बैंकों को अपने ऋण की वसूली में भी बहुत कठिनाइयाँ पड़ती हैं। कुछ उत्तराधिकार के नियम ऐसे हैं कि दूर-दूर के रिश्तेदार भी सम्पत्ति पर अधिकार पाते हैं; अतः, प्रायः ऐसा होता है कि जिस सम्पत्ति को बैंक ज़मानत के तौर पर लेता है उस पर बाद में उसको पूर्ण अधिकार नहीं मिल पाता; उसके लिये दूरी रिश्तेदार खड़े हो जाते हैं।

(८) सादे रेहन—रेहननामा लिखे बिना अथवा रजिस्ट्री कराये बिना केवल अधिकार पत्रों को दे देने से जो रेहन होता है उसके कुछ ही स्थानों में नियमित होने के कारण अन्य स्थानों में रजिस्ट्री करा के रेहन कराना पड़ता है। अतः, उसके सुविधाजनक न होने के कारण उस पर ऋण नही दिया जाता। इससे बैंकों का काम कम होता है।

(९) बिलों की कमी होने के कारण और उनके बैंकों द्वारा स्वीकृत किये जाने की प्रथा न होने के कारण बैंकों को अपनी रकम अधिकांश में सरकारी साख-पत्रों मे लगानी पड़ती है। यह अच्छी बात नहीं है। उनका होना तो तभी सार्थक हो सकता है जब वह व्यापार और उद्योग धन्धों की सहायता करें न कि सरकारी साख-पत्रों में लागत लगायें।

(१०) यहाँ बैंकों को अपने ज़मानत पर दिये हुये और बिना ज़मानत के दिये हुये ऋणों को बैलन्स-शीट मे पृथक-पृथक दिखाना पड़ता है। फिर यहाँ पर इंगलिस्तान के सीड्स की तरह की और अमेरिका के डून्स और ब्रैड स्ट्रीट्स की तरह की संस्थायें नहीं हैं जो ऋण माँगने वालों की आर्थिक स्थिति के विषय मे बतला सकें। अतः, यहाँ के बैंक पश्चिमीय देशों के बैंकों की तरह वैयक्तिक ज़मानतों पर ऋण नहीं दे पाते हैं।

(११) सभी बैंक अपना काम अंग्रेज़ी में करते हैं। सिर्फ कुछ ही यहाँ की भाषाओं में लिखी हुई चेकों और हस्ताक्षरों को ठीक मानते हैं। अतः, देश मे अंग्रेज़ी जानने वाले लोगों की संख्या कम होने के कारण बैंकिङ्ग की प्रथा नहीं बढ़ पाती।

(१२) भारतीय बैंक अंग्रेजी बैंकों की तरह पर बने हुये हैं। बहुतों के खर्च बहुत बढ़े हुये है। उन्होंने अंग्रेजी बैंकों की कार्य कुशलता के साथ-साथ यहाँ के महाजनों की सादगी और मितव्यता का मिश्रण नहीं किया है।

(१३) प्रायः भोली-भाली जनता को बेवकूफ बनाने की दृष्टि से बैंकों के सञ्चालक मण्डलों मे राजनैतिक और सामाजिक नेताओं को रख लिया जाता है। किन्तु एक तो न ये बैंकिंग के व्यवसाय को समझते ही है और न इनके पास समय ही रहता है। अतः, ऐसे बैंकों का कार्य सुचारू रूप से नहीं चलता।

(१४) कुछ दिनों पहिले तक भारतीय बैंकों के अपने संगठन नहीं थे। इसका स्वाभाविक फल यह था कि उनमें पारस्परिक ईर्ष्या रहती थी और सहयोग का लेशमात्र भी नाम नहीं मिलता था। इधर भारतीय बैंकों का संगठन बन गया है।

(१५) कुछ विदेशी बैंकों के बड़े-बड़े कर्मचारी प्रायः भारतीय बैंकों को बदनाम करते रहते हैं। इससे सेन्ट्रल बैंक की बड़ी हानि हुई है, किन्तु वह उन्नति करता ही जा रहा है।

(१६) बैंकिंग शास्त्र के विशेषज्ञों की कमी है। अतः, साधारण लोग ही इस काम के लिये रक्खे जाते हैं। इधर बैंकों मे अभनुवी लोगों को रखने की काफी होड़ रही है जिससे बैंकों के कर्मचारी इधर से उधर चले जाते है।

(१७) बैंकों की और उनकी शाखाओं की संख्या इधर बढती रही है। अतः, उनके एकीकरण और सुदृढ़ होने की आवश्यकता है। हमारे बैंकों का और विशेषतः ग़ैरसदस्य बैंकों का औसत डील-डौल बहुत छोटा है। अतः, उन्हे परस्पर अथवा बड़े-बड़े बैंकों से मिल जाना चाहिये।

अतः, उपर्युक्त कठिनाइयों और दोषों को दूर करने के लिये निम्न बाते की जा सकती है—

(१) जैसा कि पहिले भी कहा जा चुका है देश की सरकार को सब भारतीय बैंकों को अपनाना चाहिये; केवल इम्पीरियल बैंक को ही नहीं। इसने इन बैंकों के ऊपर सुरक्षा के विचार से कुछ प्रतिबन्ध लगा दिये है। इनके साथ-साथ इन्हें कुछ रियायते भी देनी चाहियें और उनमे सबसे महत्वपूर्ण रियायत यही है कि सरकार को

इन्हें अपनाना चाहिये। उसे सारे भुगतान चेकों से ही करने चाहिये और उसके नियन्त्रण मे जितनी संस्थायें हैं उन सबों को भी ऐसा करने के लिये बाध्य करना चाहिये।

(२) विदेशी बैंकों के खुलने और काम करने पर प्रतिबन्ध लगा देने चाहियें। उन्हें देश के भीतरी शहरों में शाखाएँ खोलने की आज्ञा नहीं प्रदान करनी चाहिये और परिमित जमा से अधिक जमा भी नहीं लेने देनी चाहिये। इस बात के लिये भी व्यवस्था कर देना चाहिये कि उनके और भारतीय बैंकों के बीच में प्रतियोगिता न हो।

(३) इम्पीरियल बैंकों के अपरिमित साधनों के साथ भारतीय बैंकों से होड़ न करके अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को आर्थिक सहायता पहुँचाने का काम अपने हाथ मे लेना चाहिये।

(४) अधिकतर शहरों में सादे रेहन की आज्ञा दे देनी चाहिये। बात यह है कि यह बैंकों के लिये बहुत ही सुविधाजनक हैं।

(५) डिस्काउण्टिग को अधिक प्रिय बनाने के उद्देश्य से बिलों और हुण्डियों के प्रयोग को बढ़ाना चाहिये। ऐसा करने के लिये कुछ बातें करनी पड़ेंगी जिनका अध्ययन हम आगे चल कर करेंगे।

(६) बैंकों को वैयक्तिक ऋण अधिक देने चाहियें। ऐसा तभी किया जा सकता है जब बाज़ार के लोगों से अधिक सम्बन्ध बढ़ाया जाय और इसके लिये बैक प्रबन्धकों को उसी स्थान का होना चाहिये न कि बाहर का। यह प्रायः देखा गया है कि स्थानीय प्रबन्धक बाहरी प्रबन्धकों की अपेक्षा अधिक व्यवसाय बढ़ा लेते है।

(७) बैंकों को उन्हीं भाषाओं में काम करना चाहिये जिन्हें उनके ग्राहक जानते हैं। इससे उन्हें काम करने में सुविधा पड़ेगी और काम भी अधिक मिलेगा।

(८) उन्हे देशी महाजनों की सादगी और मितव्यता का अनुकरण करना चाहिये। जैसा कि पहिले भी कहा जा चुका है उन्हें इनके साथ 'कमाण्डिट' सिद्धान्त पर साझा कर लेना चाहिये। उन्हें अपने नियमों के पालन पर भी बहुत कड़ाई नहीं करनी चाहिये। भारतीय बैंक चेकों के भुगतान करने में जो देर लगाते है वह तो सभी जानते हैं। ग्राहकों को किसी भी बैंक से किसी भी चेक का भुगतान लेने में बड़ा समय गँवाना पड़ता है।

(९) जो लोग बैंकिंग के सिद्धान्त को समझते हैं और उसके काम को देख-भाल सकते हैं केवल उन्हीं को बैंकों के संचालक मंडलों मे लेना चाहिये। बैंकों के लिये केवल बड़े-बड़े नामों का ही आकर्षण नहीं होना चाहिये।

(१०) अभी हाल में ही जो भारतीय बैंकिंग संघ बना है उसका प्रत्येक भारतीय बैंक को सदस्य बन जाना चाहिये।

(११) रिज़र्व बैंक को आवश्यकता पड़ने पर उन सभी बैंकों की किसी हिचकिचाहट के बिना सब प्रकार से सहायता करनी चाहिये जो सहायता पाने के योग्य है। इससे उसके ऊपर उनका विश्वास बढ़ जायेगा।

(१२) बैंकों को विश्वविद्यालयों के स्नातकों को लेकर उन्हें विशेष शिक्षा देनी चाहिये। बैंकिंग के उन्नति के लिये ऐसा कोई काम करना बहुत ही आवश्यक है। बैंकिंग के योग्यता वाले कामर्स के स्नातक है। वे भी बड़ा काम कर सकते है।

(१३) उन्हे अँग्रेजी बैंकों की तरह परस्पर एकीकरण कर लेना चाहिये।

सम्मिलित पूँजी के मुख्य-मुख्य भारतीय बैंक

सेन्ट्रल बैंक आफ इण्डिया

सेन्ट्रल बैंक आफ इण्डिया की संस्थापना सन् १९११ मे हुई थी। इसका श्रेय मुख्यतः सोराबजी पुचकनवाला को था। वह बड़े ही योग्य व्यक्ति थे और आजीवन कम्पनी के मैनेजिङ्ग डाइरेक्टर रहे। सन् १९३८ मे उनकी मृत्यु हो जाने से भारतीय बैंकिग को साधारणतः और सेन्ट्रल बैंक को मुख्यतः बड़ा धक्का लगा। यह बैंक प्रत्येक दृष्टि से, चाहे पूँजी और सुरक्षित कोष को, अथवा जमा को अपनी शाखाओं की सख्या को अथवा बैंकिंग के व्यवसाय के किसी काम को ले लिया जाय सम्मिलित पूँजी के सब भारतीय बैंकों मे प्रमुख है। सन् १९२३ इसके लिये विशेष महत्व का था। उस वर्ष इसने टाटा इण्डस्ट्रियल बैंक को अपने मे सम्मिलित कर लिया था जिससे इसकी पूँजी और इसका सुरक्षित कोष मिलाकर ८० लाख रु० से २६८ लाख रु० हो गया, जमा १४ करोड़ रु० से १८ करोड़ रु० हो गई और पूँजी और सुरक्षित कोष मिलकर जमा का ५.७ प्रतिशत से १७-१८ प्रति-

शत हो गया। बैंक ने प्रथम महायुद्ध के प्रारम्भ काल में अपनी पहिली शाख करॉंची मे खोली थी। युद्ध समाप्त होते-होते इनकी संख्या पॉच हो गई। सन् १९३४ मे इसके दफ्तरों की संख्या ६८ थी, सन् १९३७ में यह ८९ हो गई, सन् १९३८ मे यह १०१ थी, सन् १९४० मे यह १३२ थी, सन् १९४३ में यह २१७ थी और सन् १९४५ में यह ३०८ थी। किसी भी भारतीय बैंक ने इतनी कठिनाइयों का सामना नहीं किया जितनी इस बैंक को करनी पड़ी है। इसकी संस्थापना के प्रथम २० वर्षों के अन्दर ही इसके ऊपर नौ आक्रमण हुये थे जिसे इसने सफलतापूर्वक सँभाला।

यह बैंक इम्पीरियल बैंक की तरह सभी प्रान्तों में है। स्थायी और अस्थायी जमा पर यह जो ब्याज देता है उसकी दर अन्य बैंकों की दरों की अपेक्षाकृत कम है। सन् १९२१ से यह चालू खातों और स्थायी खातों पर दिये गये ब्याज की रकम पृथक-पृथक दिखलाता है। पहिले तो स्थायी जमा पर चालू जमा से २-३ प्रतिशत ब्याज अधिक दिया जाता था और फिर यह अन्तर केवल १.३-२ प्रतिशत का रह गया था। इस तरह से उपर्युक्त ब्याज की दरों में कम अन्तर हो जाने से चालू खातों और बचत खातों में कुल जमा की तुलना मे अधिक रकम जमा रहने लगी।

बैंक आफ इण्डिया

बैंक आफ इण्डिया सन् १९०६ मे संस्थापित हुआ था। तब से इसने बड़ी उन्नति की है। अपने साधनों की दृष्टि से इस समय इसका यहाँ के सम्मिलित पूँजी के बैंकों में दूसरा स्थान है। इस बैंक पर कभी भी आक्रमण नही हुये। इसने बढ़ने मे भी बहुत सावधानी से काम लिया है। इसकी संस्थापना से २० वर्षों तक इसकी कोई भी शाख नही थी। सन् १९४५ मे इसके दफ्तरों की संख्या ३० थी जिनमे से ६ बम्बई में थे, ३ कलकत्ते मे थे, ४ अहमदाबाद मे थे, नागपुर और पूना में दो-दो थे और अन्धेरी, बन्द्रा, जमशेदपुर, राजकोट, अमृतसर, भुज (कच्छ), जूनागढ, करॉंची, मद्रास, पालनपोवरावल और सूरत में एक-एक थे, इस तरह से यह एक प्रकार से केवल बम्बई अहाते का ही बैंक है। इसने सन् १९२१ मे भारतवर्ष से बाहर भी मोम्बासा मे अपनी एक शाख खोलने का साहस किया था किन्तु वह दो ही वर्षों

बाद बन्द कर देनी पड़ी। यह अपने जमा के दायित्व के अनुपात में काफी पूँजी और सुरक्षित कोष रखता है।

यह जमा प्राप्त करने के लिये व्याज की दर ऊँची नहीं करता। इसकी लागत द्रवित और सुरक्षित है। इसने सन् १९०७ मे ५ प्रतिशत लाभ की बँटनी की थी और इसे धीरे-धीरे बढ़ाता रहा। सन् १९४५ मे इसके लाभ की बँटनी २२ प्रतिशत थी।

इलाहाबाद बैंक

सम्मिलित पूँजी के भारतीय बैंकों में से इलाहाबाद बैंक सबसे पुराना है। यह सन् १८६५ मे इलाहाबाद मे स्थापित किया गया था। सन् १९२२ मे पी० एण्ड ओ० बैंकिंग कारपोरेशन ने इसे अपने मे शोषण करने का प्रस्ताव रक्खा जिसे इसके हिस्सेदारों ने स्वीकार कर लिया। पी० एण्ड ओ० ने इसके १००-१०० रु० के हिस्सों के लिये जिनका पूरा मूल्य दिया जा चुका था ४३६ रु० दिये। इसके स्वामित्व के बदल जाने के साथ-साथ ही इसका प्रधान दफ्तर भी इलाहाबाद से कलकत्ते भेज दिया गया। सन् १९२७ में चार्टर्ड बैंक आफ इण्डिया, आस्ट्रेलिया एण्ड चाइना ने पी० एण्ड ओ० से इसके अधिकांश हिस्से खरीद लिये जिससे फिर इसका स्वामित्व बदल गया।

इस बैंक ने भी बड़ी सावधानी से चलने की नीति बरती है। इसकी पहिली शाख कानपुर मे सन् १८८८ मे खुली थी। सन् १९१७ में इसके दफ्तरों की संख्या केवल १२ थी। इसके बाद की; इसकी वृद्धि अवश्य कुछ तेज रही है। सन् १९४५ मे इसके दफ्तरों की संख्या ७५ थी। नकद मे जमा का अनुपात इसके यहाँ काफी रहता है। इसके अतिरिक्त इसकी लागत भी बहुत द्रवित रूप मे रहती है। अधिकांश रुपया सरकारी साख-पत्रों में लगा रहता है। रक्षा के विचार से तो यह नीति अवश्य अच्छी है किन्तु देश के व्यापार, उद्योग-धन्धों और व्यवसाय को प्रोत्साहन देने के विचार से यह नीति अच्छी नही है।

अपने साधनों की दृष्टि से इसका स्थान यहाँ के सम्मिलित पूँजी के बैंकों मे तीसरा है। यह अधिकतर सयुक्त प्रान्त और पंजाब में काम करता है।। इसके लाभ की बँटनी इधर १६ प्रतिशत के हिसाब से होती रही है।

पंजाब नेशनल बैंक

पंजाब नेशनल बैंक की रजिस्ट्री सन् १८९५ में हुई थी। यह बैंक सेन्ट्रल बैंक ही की तरह भारतीय प्रबन्धकों के ही हाथ में है। सन् १९४५ में इसके कुल मिलाकर १९७ दफ्तर थे और इनमें से अधिकांश पंजाब ही में थे। देश के विभाजन के साथ-साथ पश्चिमी पंजाब में जो दंगे हुये है उनसे इसकी बड़ी हानि हुई है। किन्तु इसके प्रबन्धकों ने बड़ी सावधानी से काम लिया था। उन्होंने इसका प्रधान कार्यालय तो पहिले से ही लाहौर से हटाकर दिल्ली भेज दिया था। इसके अतिरिक्त इसने पंजाब में ऋण भी कम दे रक्खा था। साधनों की दृष्टि से यहाँ के सम्मिलित पूँजी वाले बैंकों मे इसका स्थान चौथा है। अन्य भारतीय बैंकों की तरह इसके ऊपर भी बड़े आक्रमण हुये है किन्तु इसने उन्हे भली-भाँति सँभाला है।

जमा प्राप्त करने के लिये यह ऊँची दर का ब्याज नहीं देता। किन्तु इतने पर भी अन्य बैंकों की अपेक्षाकृत इसके लाभ की दर बहुत ही कम रहती है। बात यह है कि इसके साधन प्रति शाख कम हैं—इसके यहाँ जमा तो कम है और इसकी शाखाओं की संख्या अधिक है।

बैंक आफ बड़ोदा

बैंक आफ बड़ोदा सन् १९०९ में स्थापित हुआ था। इसकी पहिली शाख सन् १९१९ में खोली गई थी। सन् १९४५ में इसके कुल दफ्तरों की संख्या ३३ थी और उनमें से अधिकांश काठियावाड़ और गुजरात मे थे। यह नकद का अनुपात बहुत अधिक रखता है—प्रायः यह १५ प्रतिशत रहता है। साधनों की दृष्टि से यहाँ के सम्मिलित पूँजी के बैंकों के बीच मे इसका पाँचवा स्थान है। इसके ग्रास लाभ (Gross Profit) की दर बहुत कम है। बात यह है कि जिस क्षेत्र में यह काम करता है उसमें द्रव्य बहुत है। अतः, बैंकों और महाजनों में परस्पर बड़ी प्रतियोगिता रहती है जिससे ऋण पर कम ब्याज मिलता है।

भारत बैंक

भारत बैंक की रजिस्ट्री सन् १९४२ में हुई थी। अतः, अन्य बड़े बैंकों के आगे यह अभी बच्चा ही है। किन्तु उसकी पूँजी उनमे

सबसे अधिक है। यह २ करोड रु० से भी ऊँची है। इसके दफ्तरों की संख्या भी बहुत है। सन् १९४५ में यह २१४ थी। इसके पास जमा भी अच्छी है। इस समय यहाँ के बैंकों के बीच मे इसका स्थान छठा है। इसने अच्छे-अच्छे बैंकों को पछाड़ दिया है। इसकी संस्थापना के पहिले इण्डियन बैंक और मैसूर बैंक का स्थान क्रमशः छठा और सातवाँ था। इस प्रकार चलने से भविष्य मे शायद यह पाँचों बड़े बैंकों मे से कुछ और को पछाड़ दे और उनका स्थान ले ले।

यूनाइटेड कमर्शियल बैंक

यूनाइटेड कमर्शियल बैंक सन् १९४४ मे स्थापित किया गया था। इसकी पूँजी भी सेन्ट्रल बैंक को छोड़कर पाँचों बड़े बैंकों की पूँजी से अधिक थी। यह भी होनहार बैंक मालूम होता है। सन् १९४५ मे इसके ६२ दफ्तर थे।

इण्डियन बैंक

इण्डियन बैंक का स्थान यहाँ के बैंकों मे छठा था। किन्तु अब यह स्थान भारत बैंक ने ले लिया है। इसकी रजिस्ट्री सन् १९०७ में हुई थी। यह अब भी दक्षिणी भारत का सबसे बड़ा बैंक है। इसका प्रधान दफ्तर मद्रास में है और इसके सब दफ्तरों की संख्या सन् १९४५ मे ६३ थी। इसके अधिकाश दफ्तर सन् १९३५ के बाद खोले गये है। इसके अधिकाश हिस्से नटूकोटाई चट्टियों के हाथ मे है। अतः, इसे उन्हीं का बैंक कहा जा सकता है। अधिकांश ऋण भी इन्ही लोगों को दिया जाता है। चट्टी लोग स्वयं महाजन है और बैंक तथा ऋण लेने वालो के बीच मे मध्यस्थ का कार्य करते हैं। यह बैंक इनके वैयक्तिक दायित्व पर ऋण देना अधिक पसन्द करता है। माल की जमानत से यह इसी जमानत को अच्छी जमानत समझता है। यही कारण है कि यह सरकारी साख-पत्रों मे भी अधिक रकम नहीं लगाता। इसकी अधिकांश लागत ऋण के रूप मे है। इससे इसकी कभी कोई विशेष हानि भी नहीं हुई है। दूसरे बैंक इससे इस बात का सबक सीख सकते है। वे भी देशी महाजनों को मध्यस्थ बनाकर काम कर सकते है।

बैंक आफ मैसूर

बैंक आफ मैसूर सन् १९१२ मे स्थापित हुआ था। यद्यपि इसके

साधन बहुत बड़े हैं किन्तु इसको रिज़र्व बैंक की तालिका में केवल सन् १९४३ में ही सम्मिलित किया गया था। इसके पहिले शायद ऐसा इसलिये नहीं हुआ था कि इसकी ब्रिटिश भारत मे कोई शाख नहीं थी। इधर कई वर्षों से यह १४ प्रतिशत लाभ की बँटनी करता आ रहा है।

अन्य बैंक

कुछ अन्य बैंक भी बड़े महत्वपूर्ण हैं, जैसे कोमिला बैंकिंग कारपोरेशन, कोमिला यूनियन बैंक, बैंक आफ जैपुर, डिस्काउण्ट बैंक आफ इण्डिया, एक्सचेञ्ज बैंक आफ़ इण्डिया एण्ड अफ्रीका, हबीब बैंक, हिन्दुस्थान कमर्शियल बैंक, पञ्जाब ऐण्ड सिन्ध बैंक, ट्रेडर्स बैंक और यूनियन बैंक।

सदस्य बैंकों के दायित्व

यह त पहिले ही बताया जा चुका है कि कौन से बैंक सदस्य बैंक बन सकते हैं। इनके कुछ दायित्व होते है। प्रथम तो प्रत्येक सदस्य बैंक को रिज़र्व बैंक मे अपनी चालू जमा का कम से कम ५ प्रतिशत और स्थायी जमा का २ प्रतिशत बैलन्स रखना पड़ता है। इसके लिये इसे रिज़र्व बैंक के उस दफ्तर का नाम बताना पड़ता है जहाँ यह अपना मुख्य खाता रक्खेगा। सदस्य बैंक अपने हिसाब रिज़र्व बैंक के उन सभी दफ्तरों मे रख सकते है जो ऐसे स्थान मे हों जहाँ उनके भी दफ्तर है। यदि किसी सदस्य बैंक का दफ्तर किसी ऐसे स्थान मे नहीं है जहाँ रिज़र्व बैंक के दफ्तर है तो वह रिज़र्व बैंक के किसी दफ्तर मे भी अपना हिसाब रख सकता है। दूसरे, सदस्य बैंकों को रिज़र्व बैंक विधान की ४२ (२) धारा में जो फार्म दिया हुआ है उसी के अनुसार अपनी स्थिति की एक साप्ताहिक रिपोर्ट रिज़र्व बैंक के पास और एक केन्द्रीय सरकार के पास भेजनी पड़ती है। जहाँ के लिये रिज़र्व बैंक यह समझता है कि वहाँ की भौगोलिक स्थिति के कारण साप्ताहिक रिपोर्ट नहीं आ सकती, वहाँ पर वह मासिक रिपोर्ट ही मँगा सकता है। यह रिपोर्ट उसी दफ्तर को जाती है जहाँ मुख्य खाता रहता है। यदि यह रिपोर्ट समय पर नहीं भेजी जाती अथवा उपर्युक्त न्यूनतम बैलन्स रिजर्व बैंक के पास नहीं रक्खा जाता तो सजा दी जाती है। यदि रिपोर्ट नहीं भेजी जाती तो जितने दिनों की

देर होती है उतने दिनों तक १०० रु० प्रति दिन के हिसाब से जुर्माना लगता है। और यदि उपर्युक्त न्यूनतम बैलन्स नही रक्खा जाता तो एक सप्ताह तक तो जितना बैलन्स कम होता है उस पर बैंक दर से ३ प्रतिशत अधिक ब्याज लगता है और यदि वह दूसरी रिपोर्ट भेजने की तारीख के बाद भी कम रहता है तो बैंक दर से ५ प्रतिशत अधिक का ब्याज लगता है। यह दोनों जुर्माने माँगने पर उसी समय देने पड़ते है, और इन्हे वही दफ्तर माँगता है जिसमें उस सदस्य बैंक का मुख्य खाता होता है। इस जुर्माने के न देने पर वह अदालत के द्वारा भी वसूल किया जा सकता है। कुछ बैंक न्यूनतम बैलन्स न रख कर ब्याज दे देते थे। अतः, इस बात को रोकने के लिये रिजर्व बैंक के सन् १९४० के एक विधान से रिजर्व बैंक को यह अधिकार दे दिया गया है कि वह अपराधी बैंक को और अधिक जमा प्राप्त करने से रोक सकता है और उन कर्मचारियों को भी सजा दे सकता है जिनकी जानकारी में यह अपराध किया जाता है।

उनके अधिकार

सदस्यों बैंकों को कुछ अधिकार भी प्राप्त है और उनमे से मुख्य यह है कि उन्हे अच्छे बिलों की डिस्काउण्टिंग के रूप मे अथवा अच्छे साख-पत्रों की जमानत पर ऋण के रूप मे रिजर्व बैंक से आर्थिक सहायता भी प्राप्त हो सकती है। कौन से बिल अच्छे है और कौन से साख-पत्र अच्छे है यह बात स्पष्ट रूप से रिजर्व बैंक विधान की १७ वी धारा मे दी हुई है। रिजर्व बैंक की ऋण देने की नीति और जिस प्रकार की आर्थिक सहायता वह सदस्य बैंकों को दे सकता है वह सब उसके ७ दिसम्बर सन् १९३८ के एक स्मरण-पत्र मे दिये हुये है। उन्हे यहाँ पर भी बता देना उचित ही होगा। 'संसार के अन्य देशों मे जो नीति बरती जाती है उसी के अनुसार और इस देश मे बैंकिंग का उचित ढङ्ग से विकास करने के उद्देश्य से सदस्य बैंकों को उधार देने के समय रिजर्व बैंक केवल उन साख-पत्रों पर ही ध्यान नही देगा जिनके आधार पर ऋण माँगा जा रहा है बल्कि इन बातों पर भी ध्यान देगा कि प्रार्थी बैंक की लागते साधारणतः किस प्रकार की है, उसका व्यवसाय कैसे किया जाता है। उदाहरणार्थ वह जमा प्राप्त करने के लिये ब्याज की बहुत ऊँची दर तो नहीं देता, जब बाजार मे रुपये

की टान नहीं रहती तब वह रिजर्व बैंक से उधार तो नहीं लेता, अपनी शक्ति से अधिक व्यवसाय तो नही करता और चीजों पर तथा साख-पत्रों पर सट्टे के लिये ऋण तो अधिक नहीं देता अथवा बिना जमानती काम तो बहुत नही करता। इस सम्बन्ध मे इस बात का भी ध्यान रखना चाहिये कि रिजर्व बैंक केवल अल्पकालीन ऋण ही दे सकता है। फिर इस बात का विश्वास मिल जाने के लिये कि वह जो ऋण की सुविधा दे रहा है उसका दुरुपयोग तो न किया जायगा वह मनचाही कोई भी बात पूछ सकता है अथवा किसी प्रकार की कोई भी शर्त लगा सकता है और ऋण लेने वाले बैंक को यह बात बतानी पड़ेगी तथा शर्त पूरी करनी पड़ेगी। अन्तिम यह कि अन्य बैंकों की तरह रिजर्व बैंक भी अपने विवेक के अनुसार कोई कारण बताये बिना ही किसी बैंक के बिलों को डिस्काउण्ट करने की अथवा उसे साख-पत्रों पर ऋण देने की मनाही कर सकता है। किन्तु यदि सदस्य बैंक उचित ढङ्ग पर काम करते हैं तो आवश्यकता पड़ने पर उचित जमानत पर उन्हे रिजर्व बैंक से अवश्य ही अल्पकालीन आर्थिक सहायता मिल सकती है।'

उन्हे जो दूसरा अधिकार प्राप्त है वह रियायती दर पर इधर से उधर रुपया भेजने के सम्बन्ध का है। रिजर्व बैंक ने १ अक्टूबर सन् १९४० को रुपया भेजने की सुविधा नाम की जो योजना घोषित की थी उसके दूसरे परिशिष्ट के अनुसार कोई भी सदस्य बैंक रिजर्व बैंक के किसी भी दफ्तर, शाख अथवा एजेन्सी मे उसके किसी भी दफ्तर, शाख, उपशाख, इत्यादि का जो खाता है उसके बीच मे डाक से अथवा तार से ब्रिटिश भारत[1] और ब्रह्मा में निम्न प्रकार से रुपया भेज सकता है :—

(१) (अ) रिजर्व बैंक के दफ्तर और शाख में उसके जो खाते है उनके बीच मे कोई भी खर्च दिये बिना १०००० रु० अथवा उससे गुणित कोई भी रकम;

(ब) अपने किसी भी दफ्तर से अथवा शाख से अथवा उपशाख, इत्यादि से यदि वहाँ रिजर्व बैंक की कोई एजन्सी है तो उसके द्वारा रिजर्व बैंक के

---

[1]भारत

अपने मुख्य खाते में सप्ताह में केवल एक वार ५००० रु० अथवा उससे गुणित कोई भी रकम किसी भी खर्च के विना।

(स) मुख्य खाते ही को कोई भी रकम एक पैसा रु० सैकड़ा के खर्च पर किन्तु न्यूनतम खर्च १ रु० से कम नहीं मिलना चाहिये।

(द) रिजर्व बैंक मे अथवा उसकी एजन्सियों में जो दूसरे खाते हों उनके बीच मे।

५००० रु० तक १ आ० प्रतिशत व्यय पर न्यूनतम व्यय १ रु०।

५००० रु० से ऊपर दो पैसा प्रतिशत व्यय पर न्यूनतम व्यय ३ रु० २ आ०

(२) रिजर्व बैंक के खजानों के ऊपर अन्य व्यक्तियों के पक्ष में टी० टी० और ड्राफ्ट निम्न व्यय पर दिये जाते हैं :—

५००० रु० तक १ आ० प्रतिशत व्यय पर न्यूनतम व्यय १ रु०।

५००० रु० से ऊपर दो पैसा प्रतिशत व्यय पर न्यूनतम व्यय ३ रु० २ आ०

तार का व्यय इसके अतिरिक्त लिया जाता है।

ग़ैरसदस्य बैंकों के दायित्व

वैसे तो सन् १९३६ के भारतीय कम्पनी विधान मे जो नियम दिये हुये हैं उनका पालन सभी बैंकों को करना पड़ता है। किन्तु नियत रिपोर्ट देने और न्यूनतम बैलन्स रखने के सम्बन्ध में उनके जो दायित्व हैं उन्हे हमें यहाँ पर विशेष रूप से समझ लेना चाहिये। सदस्य बैंकों के इनके सम्बन्ध मे जो दायित्व हैं उन्हें तो हम अभी समझ ही चुके हैं। उन्हे अपनी रिपोर्ट रजिस्ट्रार के पास नहीं भेजनी पड़ती और उन्हे न्यूनतम बैलन्स भी अपने पास न रखकर रिजर्व बैंक के पास रखने पड़ते हैं। जहाँ तक ग़ैरसदस्य बैंकों का सम्बन्ध है, जो ग़ैरसदस्य बैंक ब्रिटिश भारत[1] में काम नहीं करते उनके ऊपर कोई भी प्रतिबन्ध नहीं है। जो ग़ैरसदस्य बैंक ब्रिटिश भारत[1] में

[1]भारत

काम करते हैं उनमे से भी जैसा कि पहिले कहा जा चुका है बहुत से सन् १९४३ के पहिले बैंक की परिभाषा में न आने के कारण किसी भी प्रतिबन्ध को नहीं मानते थे। किन्तु सन् १९४३ से जो संस्था भी 'बैंक' शब्द अपने नाम के साथ लगाती है उसी को इन प्रतिबन्धों को मानना पड़ता है। सन् १९४४ के अन्त मे ६१४ बैंक अपनी रिपोर्ट भेजते थे। सन् १९३८ के पहिले तक तो ये रिपोर्टें प्रान्तीय रजिस्ट्रारों के पास भेजी जाती थी। किन्तु उस वर्ष के फरवरी महीने से प्रत्येक रजिस्ट्रार को इन सब रिपोर्टों की एक लिपि रिज़र्व बैंक के पास भेजनी पड़ती है और बैंक रजिस्ट्रार के पास एक लिपि न भेजकर तीन लिपियाँ भेजते हैं। जैसा कि पहिले भी बताया जा चुका है वे अपने चालू जमा की और स्थायी जमा की कम से कम क्रमशः ५ प्रतिशत और १½ प्रतिशत नकदी अपने पास रखते है। यहाँ पर यह भी कह देना आवश्यक है कि इनकी रिपोर्टें मासिक होती है सदस्य बैंकों की तरह साप्ताहिक नहीं और वह प्रतिमास के अन्तिम शुक्रवार की होती हैं न कि प्रति सप्ताह के शुक्रवार की।

अधिकार

१ अक्टूबर, सन् १९४० से रिजर्व बैंक ने रुपया भेजने की जो योजना घोषित की है उसके तीसरे परिशिष्ट के अनुसार उन ग़ैर-सदस्य बैंकों को जिनके नाम रिजर्व बैंक की स्वीकृत तालिका मे दिये हुये है और जो उपयुक्त प्रान्तीय सरकारों की सम्मति से बनी है केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों द्वारा स्वीकृत रियायती दरों पर रुपया भेजने का अधिकार दिया गया है। सन् १९४७ के अन्त में ऐसे ७८ बैंक थे। जब कि जनता के लिये ५००० रु० तक भेजने के लिये २ आ० प्रति सैकड़ा दर है और ५००० से ऊपर के लिये १ आ० प्रति सैकड़ा दर है, तब इनके लिये यही क्रमशः, १ आ० प्रतिशत और २ पैसा प्रतिशत हैं। न्यूनतम व्यय सभी के लिये कुछ न कुछ निर्धारित है। स्वीकृत तालिका मे आने के लिये इन बैंकों को निम्न शर्तें पूरी करनी पड़ती हैं :—

(अ) इन्हे भारतीय कम्पनी विधान के अनुसार रजिस्टर्ड कम्पनियाँ होना चाहिये।

(ब) इन्हे भारतीय कम्पनी विधान मे दिये हुये नियमों के अनुसार ब्रिटिश भारत[1] मे व्यवसाय करना चाहिये।

(स) इनकी पूँजी इनके कोप को मिलाकर कम से कम ५०००० रु० होनी चाहिये।

ग़ैरसदस्य बैंकों को अपने सम्बन्ध की सभी बातों पर रिज़र्व बैंक की सम्मति भी प्राप्त हो सकती है।

१५ फरवरी सन् १९४५ से कोई भी ग़ैरसदस्य बैंक निम्न शर्तों के साथ रिज़र्व बैंक के यहाँ अपना हिसाब भी खोल सकता है :—

(१) उसे अपने व्यवसाय के विस्तार के अनुसार कम से कम कुछ बैलन्स अवश्य रखना चाहिये और यह १०००० रु० से कम तो होना ही नहीं चाहिये।

(२) यह खाता साधारण खाता नही है, अर्थात् इस पर चेकें नहीं काटी जा सकतीं। हाँ, इसे रुपया भेजने के लिये और बैंकों के अन्य पारस्परिक कामों के लिये प्रयोग में लाया जा सकता है।

प्रश्न

(१) सन् १९३६ और सन् १९४४ के भारतीय कम्पनी विधान मे बैंकिंग कम्पनियों के सम्बन्ध की कौन-कौन सी विशेष बातें दी हुई हैं? जब तक एक पृथक बैंकिंग विधान नहीं पास होता तब तक के लिये और कौन से नियम बना दिये गये हैं?

(२) सम्मिलित पूँजी के बैंकों का किस प्रकार वर्गीकरण किया गया है? सदस्य बैंकों के विषय में आप क्या जानते हैं?

(३) सम्मिलित पूँजी के भारतीय बैंकों की वर्तमान स्थिति क्या है? उनके कार्यों का एक विस्तृत वर्णन दीजिये और उनके सम्बन्ध की विशेषतायें बताइये।

(४) द्वितीय महायुद्ध का भारतीय बैंकिंग पर क्या प्रभाव पडा है? यह प्रभाव आपकी समझ से अच्छा हुआ है अथवा बुरा? इनके भविष्य के विषय मे आप क्या सोचते हैं?

(५) सम्मिलित पूँजी के भारतीय बैंकों की क्या कठिनाइयाँ हैं और उनके क्या दोष हैं? उनके सुधार के लिये अपने सुझाव रखिये।

---

[1] भारत

(६) सम्मिलित पूँजी के कुछ महत्वपूर्ण भारतीय बैंकों के विषय में टिप्पणियाँ लिखिये।

(७) सदस्य बैंकों के कौन-कौन से दायित्व और अधिकार हैं?

(८) रिजर्व बैंक ग़ैरसदस्य बैंकों से किस तरह से अपना सम्बन्ध रखता है? उसने उन्हे कौन-कौन सी सुविधायें दे रक्खी हैं?

अध्याय १७

इम्पीरियल बैंक आफ़ इण्डिया

जिन स्थितियों में इम्पीरियल बैंक स्थापित हुआ था और जिस तरह से यह बैंक रिज़र्व बैंक की संस्थापना के पहिले तक काम कर रहा था उनका अध्ययन तो हम १२ वें अध्याय में ही कर चुके हैं। किन्तु कुछ अन्य बातें भी ऐसी हैं जिन्हें हमे अब समझ लेना चाहिये, और उनमें मुख्य तो यह है कि यह बैंक स्वयं ही पूर्णरूप से केन्द्रीय बैंक क्यों नहीं बनाया गया और एक नया बैंक क्यों स्थापित किया गया। अतः, पहिले हम इसी बात का अध्ययन करेंगे और फिर अन्य बातों को लेंगे।

इम्पीरियल बैंक को पूर्णरूप से केन्द्रीय बैंक न बनाने के कारण

(१) प्रथम तो केन्द्रीय बैंक की राष्ट्रीय दृष्टि होनी चाहिये। ऐसा न होने से वह देश की आर्थिक स्थिति नहीं सुधार सकता और न वह उसमें राष्ट्रीय बैंकिंग का विकास ही कर सकता है। इम्पीरियल बैंक की कभी भी राष्ट्रीय दृष्टि नहीं रही। इसके विपरीत हिल्टन यंग कमीशन के सामने कुछ ऐसे उदाहरण रक्खे गये थे जिनसे यह साबित होता था कि इसने सरकारी साख-पत्रों के होते हुये भी कुछ भारतीय बैंकों को सहायता देने से इन्कार कर दिया था। एक ओर तो यह विदेशियों को ऋण देता था और दूसरी ओर भारतीयों को उसके लिये इन्कार कर देता था।

(२) भारतीय बैंकों को यह प्रतियोगिता की दृष्टि से देखता था। उन्हे प्रायः यह यहाँ की बैंकिंग का एक आवश्यक अङ्ग न समझ कर अपना शत्रु समझता था। अतः, यदि इसे केन्द्रीय बैंक बना भी दिया जाता तो भी इसकी नीति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हो पाता।

(३) इम्पीरियल बैंक की जो बहुत सी शाखायें थीं वह किसी केन्द्रीय बैंक के लिये अनावश्यक बोझ समझी जाती थीं, क्योंकि एक केन्द्रीय बैंक तो अपनी इनी-गिनी शाखाओं के द्वारा ही द्रव्य के बाजार को नियन्त्रण मे ला सकता है। केन्द्रीय बैंक तो जितना काम अपनी उपस्थिति से ही कर लेता है उतना काम करके नहीं करता। अन्तिम यह कि बहुत सी शाखाओं के होने से इसकी सारी शक्ति उन्हीं की व्यवस्था करने में खर्च हो जाती और वह देश की बैंकिंग प्रणाली को अपने नियन्त्रण मे न ला सकता।

(४) बैंक के संचालक मण्डल और व्यवस्थापकों में से अधिकांश के यूरोपीय होने के कारण, इसके देश की आवश्यकताओं को समझ सकने और उनके अनुसार काम करने की विशेषत: जब ऐसा करने से उनके अपने देश की हानि होती आशा नहीं की जा सकती थी।

(५) इसे केन्द्रीय बैंक बनाने के लिये इसके कार्यों मे बहुत अदला-बदली करनी पड़ती जो शायद इसके हिस्सेदार पसन्द न करते। अत:, उनके और राज्य के बीच मे मनमुटाव उत्पन्न हो जाता जो एक केन्द्रीय बैंक के प्रारम्भ के लिये अनुचित होता।

(६) इम्पीरियल बैंक तो एकमात्र लाभ कमाने के उद्देश्य से ही संस्थापित किया गया था किन्तु एक केन्द्रीय बैंक को तो प्राय: देश के हित में लाभ का बलिदान कर देना पड़ता है। अत:, यह कैसे हो सकता था। हम जानते है कि जब तेजी रोकनी होती है तब केन्द्रीय बैंक को ब्याज की दर बढ़ाकर ऋण देने से इन्कार कर देना पड़ता है। भला कोई व्यापारिक बैंक ऐसा कैसे कर सकता है। जब मन्दी रोकनी है तब इसका उल्टा करना पड़ता है। बाजार मे खुले ढङ्ग से काम करने मे भी यही कठिनाई है। केन्द्रीय बैंक को तेजी मे साख-पत्रों को कम मूल्य पर बेचना और मन्दी मे उन्हें अधिक मूल्य पर खरीदना पड़ता है।

(७) फ्रान्स मे तो फ्रान्स का केन्द्रीय बैंक केन्द्रीय बैंकिंग के कार्यों के साथ-साथ व्यापारिक बैंकिंग के कार्य भी करता है। किन्तु हर देश मे ऐसा नहीं किया जा सकता। सब देशों मे एक ही सी स्थितियाँ नहीं हैं। फ्रांस के निर्यात मे ऐसी वस्तुये बहुत कम है जिनके मूल्य बहुत जल्दी घटते-बढ़ते हैं। अत:, उनका निर्यात भी बहुत जल्दी नहीं घटता-बढ़ता। साथ ही उसका बहुत कुछ द्रव्य विदेशों में लगा

रहता है। अतः, उसकी अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति में जल्दी फर्क नहीं पड़ता। इसके विपरीत भारत के निर्यात में ऐसी वस्तुयें अधिक हैं जिनका मूल्य बहुत घटता-बढ़ता है, अतः, उनका निर्यात भी घटता-बढ़ता रहता है। फिर, उसके यहाँ विदेशी रुपया लगा हुआ है। (हाँ, अब स्थिति बदल गई है।) अतः, इम्पीरियल बैंक को केन्द्रीय बैंकिंग के कार्यों के साथ-साथ व्यापारिक बैंकों के कार्य करने की आज्ञा नहीं दी जा सकती थी। साथ ही इसके अन्य बैंकों से प्रतियोगिता करने का भी प्रश्न था। कुछ बैंक इसके विरोध में आवाज उठा ही रहे थे। यदि इससे इसके व्यापारिक बैंकिंग के कार्य करने की शक्ति छीने बिना इसे केन्द्रीय बैंक भी बना दिया जाता तो यह बड़ा शक्तिवान हो जाता और अपने कुछ प्रतियोगी बैंकों को तो समाप्त ही कर देता। यह तो उचित ही है कि जिसके पास सबका कोष हो उसे जनता से काम करने का अधिकार नहीं दिया जाना चाहिये नहीं तो वह दूसरों के द्रव्य से बहुत लाभ कमा सकता है। फिर यह बैंकों का बैंक कैसे बन सकता था। उनका प्रतियोगी होने के नाते यह उन्हें मदद ही कैसे कर सकता था और वही अपने संकट के समय इससे किसी प्रकार की सहायता पाने की आशा कैसे कर सकते थे। वह तो इसे अपना प्रतियोगी समझते थे और इसके अधिकारों को ईर्ष्या की दृष्टि से ही देखते। फिर यह बैंक करन्सी की व्यवस्था अपने हित मे करता न कि देश के हित में। अन्तिम यह कि बहुत बोझ हो जाने के कारण न तो यह केन्द्रीय बैंकिंग के कार्य और न व्यापारिक बैंकिंग के कार्य भली प्रकार से कर सकता।

(८) यद्यपि इसे रुपये की टान होने पर उसके ब्याज की दर को बहुत बढ़ने से रोकने के उद्देश्य से अपने बिलों और हुण्डियों की ज़मानत पर करन्सी विभाग से ४ करोड़ रुपया बैंक दर पर और न्यूनतम ६ प्रतिशत पर और इसके ऊपर ८ करोड रुपया ७ प्रतिशत पर उधार लेने का अधिकार प्राप्त था, किन्तु यह भिन्न-भिन्न समय पर भिन्न-भिन्न ब्याज की दर को एक सी करने में और तेजी के समय उसे अत्याधिक बढने से रोकने मे सफल नहीं हो सका। इसमें सन्देह नही कि करन्सी के अन्तिम नियन्त्रण को तो सरकार के हाथ मे रख-कर और ब्याज की दर के एक सीमा पर पहुँचने पर उसमे से कुछ ऋण प्राप्त कर सकने का अधिकार इम्पीरियल बैंक को देकर स्थिति को बहुत नहीं सम्भाला जा सकता था। किन्तु तो भी इम्पीरियल बैंक

ब्याज की दर के अन्तर में कुछ तो कमी कर ही सकता था लेकिन इसने राष्ट्रीय हित की अपेक्षा कृत अपने ही हित का अधिक ध्यान रखकर तेजी के समय की माँग से पूरा लाभ उठाया और करन्सी विभाग से करन्सी लेकर दर को ऊँचा उठने से नहीं रोका। यह एक उदाहरण है। सच तो यह है कि इसे जो केन्द्रीय काम मिले हुये थे उनके ही द्वारा इसने कभी ऐसी कोई बात नहीं की कि जिससे राष्ट्र का लाभ होता।

इससे व्यापारिक बैंकिंग के कामों को इससे छीन लेने के फल स्वरूप सम्भावित आशंकायें

उपर्युक्त विवरण से यह तो स्पष्ट ही हो गया है कि इम्पीरियल बैंक से उसके व्यापारिक बैंकिंग के कामों के करने के अधिकार को छीन लेने से स्थिति बहुत कुछ ठीक हो जाती। किन्तु इसका फल अन्य तरीकों से बहुत बुरा होता। ये निम्नाङ्कित है :—

(१) बहुत सी ऐसी जगहें है कि जहाँ पर इम्पीरियल बैंक ही की अकेली शाख है। अतः, यदि उससे उसके व्यापारिक बैंकों के काम करने का अधिकार ले लिया जाता तो वहाँ के लोगों को बैंकिग की सुविधा न रह जाती।

(२) जिन स्थानों मे इसकी शाख के साथ किसी अन्य बैंक की भी शाख है वहाँ पर इसके काम न करने से उस बैंक का एकाधिकार हो जाता जिससे वह लोगों से अधिक खर्चा लेता। इससे जनता की हानि ही होती।

(३) जनता का इम्पीरियल बैंक के ऊपर विश्वास है। लोगों ने अपनी बचत उसके यहाँ जमा कर रक्खी है। अतः, यदि उसे जमा प्राप्त करने के लिये मना कर दिया जाता और स्थायी जमा प्राप्त करने के लिये तो उसे अवश्य ही मना कर दिया जाता क्योंकि उस पर तो ब्याज दिया जाता है और इसके लिये अन्य बैंकों से प्रतियोगिता होने की आशंका रहती है तो स्थायी जमा तो अवश्य ही उसके यहाँ से निकल जाती। इस सम्बन्ध मे यह याद रखना चाहिये कि रिजर्व बैंक को भी स्थायी जमा लेने का अधिकार नहीं दिया गया है। अब जो लोग इम्पीरियल बैंक में स्थायी जमा रक्खे हुये हैं उनमे से बहुत से शायद किसी अन्य बैंक मे जमा रखते ही नहीं। उनका इसे छोड़कर

किसी पर विश्वास ही नहीं है। फिर, इसके चालू खातों की अधिकांश जमा भी निकल जाती क्योंकि यह तो प्रायः इसीलिये रक्खी जाती है कि इससे बैंकिंग की अन्य सुविधायें प्राप्त होती हैं। अतः, यदि इम्पीरियल बैंक वह सुविधायें न दे पाता तो उसके यहाँ से यह जमा भी निकल जाती। यदि इसकी बहुत सी शाखायें बन्द कर दी जातीं तो स्थिति और भी बिगड जाती और ऐसा होना सम्भव भी था क्योंकि इतनी अधिक शाखाओं के बोझ के साथ इसको केन्द्रीय बैंकिंग के काम दिये ही नही जा सकते थे। अतः, जिन लोगों को इम्पीरियल बैंक से जमा निकालनी पडती, शायद वह उसे और कहीं जमा न करते। इससे बैंकिंग की आदत कम हो जाती।

(४) इम्पीरियल बैंक की अपनी काम करने की प्रणाली से व्यापारिक बैंकिंग का स्तर ऊँचा हो गया है। यदि यह बैंक व्यापारिक बैंकिंग के काम करना बन्द कर देता तो शायद अन्य बैंक अपना स्तर इतना अच्छा न रख सकते। उनके सामने कोई आदर्श न रह जाता।

सन् १९३४ का इम्पीरियल बैंक (संशोधन) विधान

इम्पीरियल बैंक पूर्णरूप से केन्द्रीय बैंक नहीं बनाया गया वरन् उसके स्थान पर एक नया रिज़र्व बैंक खोल दिया गया। इससे इम्पीरियल बैंक विधान मे कुछ संशोधन करने पड़े जो सन् १९३४ के विधान से किये गये। इसके फलस्वरूप यह पूर्णरूप से व्यापारिक बैंक बन गया और इसके ऊपर के कुछ प्रतिबन्ध भी हटा लिये गये। १२ वें अध्याय मे यह बताया जा चुका है कि अपने विधान के अनुसार यह कुछ व्यवसाय नहीं कर सकता था। अतः, इस विधान के द्वारा इसे उनमे से कुछ व्यवसाय करने की आज्ञा दे दी गई। हॉ, सब प्रतिबन्ध तो नहीं हटाये जा सके। बात यह थी कि इसकी स्थिति को तो अच्छा रखना ही था। अन्य कारणों के साथ-साथ इसका एक विशेष कारण यह भी था कि इसे उन स्थानों के लिये जहॉ इसके दफ्तर थे और रिज़र्व बैंक के नहीं थे उसका अढतिया बनाया गया है। जो हो, उक्त विधान से इसे निम्न सुविधायें प्राप्त हो गई है :—

(१) इसके लन्दन के दफ्तर में इसे सब प्रकार के व्यवसाय करने की आज्ञा मिल गई है—इसके पहिले यह वहाँ पर केवल उन्हीं लोगों के हिसाब खोल सकता था जो इसके अथवा प्रेसीडैंसी

बैंको के भारतवर्ष मे ऐसा हिसाब खोलने की तारीख के पिछले तीन वर्षो मे ग्राहक रहे हों।

(२) अब यह लन्दन के अतिरिक्त अन्य बाहरी स्थानों में भी अपनी शाख खोल सकता है—इसके पहिले इसकी शाख बाहर केवल लन्दन ही मे थी। अन्य किसी स्थान मे यह उसे खोल ही नहीं सकता था। किन्तु अब यह ऐसा कर सकता है।

(३) देश में ही पहिले से अधिक स्वतन्त्रता के साथ व्यवसाय कर सकना—अब यह यहाँ पर पहिले से अधिक स्वतन्त्रता के साथ व्यवसाय कर सकता है। जब से रिजर्व बैंक खुल गया है तब से यह उसके हिस्सों पर भी ऋण दे सकता है। इसी प्रकार यह म्युनिस्पैल्टियों के ऋण-पत्रों पर भी ऋण दे सकता है। फिर यह देशी राजाओं के द्वारा निकाले हुये उन ऋण-पत्रों पर भी ऋण दे सकता है जिनको निकालने की स्वीकृति सपरिषद् गवर्नर जनरल ने दे दी है। इसी तरह से यह सीमित दायित्व वाली कम्पनियों के द्वारा निकाले हुये ऋण-पत्रों पर भी ऋण दे सकता है। जहाँ तक माल की गिरवी पर नकद साख देने का प्रश्न है वह तो यह पहिले भी दे सकता था। किन्तु अब यदि इसके यहाँ कोई ऐसा विशेष प्रस्ताव पास हो जाय और इसका केन्द्रीय मण्डल उसे मान ले तो यह केवल माल को अपने नाम पर करवा कर भी, चाहे वह कहीं ही क्यों न रक्खा हो, नकद शाख दे सकता है। इसके अतिरिक्त जब कि पहिले यह सभी ऋण अधिक-से-अधिक केवल छै ही महीनो के लिये दे सकता था अब यह कृषि सम्बन्धी कामों के लिये नौ महीनो तक के लिये ऋण दे सकता है। अन्तिम यह कि अब यह कुछ शर्तो के साथ अचल सम्पत्तियों को भी ऋण की जमानत के तौर पर स्वीकृत कर और रख सकता है।

(४) अपना काम करने के लिये भारतवर्ष से बाहर ऋण ले सकना—अब यह अपने काम के लिये भारतवर्ष के बाहर भी ऋण ले सकता है। इसके पहिले यह ऐसा नहीं कर सकता था।

पहिले की अपेक्षाकृत अब इस पर सरकार का भी बहुत कम नियन्त्रण रह गया है। एक तो यह कि अब इसके केन्द्रीय मण्डल मे सपरिषद् गवर्नर जनरल केवल अपने दो ही गैरसरकारी सञ्चालक

भेज सकता है। हाँ, एक अन्य अफसर भी रहता है किन्तु वह अपना मत नहीं दे सकता। दूसरे, इसके पुराने विधान का ५४ वाँ नियम भी हटा दिया गया है जिसके अर्थ यह है कि अब सपरिषद गवर्नर जनरल न तो इसको कोई आज्ञा दे सकता है न इससे कोई बात पूछ सकता है, न जिस रूप मे चाहे उस रूप से ही इससे इसकी सम्पत्ति और पाउने तथा दायित्व को छापने के लिये कह सकता है। हाँ, अब भी आवश्यकता पड़ने पर वह इसके यहाँ अपना आडीटर भेज सकता है और उससे इसके कामों की रिपोर्ट माँग सकता है।

इम्पीरियल बैंक की कार्यकारिणी

देश के भिन्न भिन्न भागों के हित की रक्षा के लिये और उन्हे उनके यहाँ की बैंकिंग का व्यवसाय करने की स्वतन्त्रता देने के लिये इसके तीन स्थानीय दफ्तर रक्खे गये हैं जो पहिले के तीनों प्रेसीडैन्सी बैंकों के मुख्य स्थानों मे हैं। फिर प्रत्येक स्थानीय दफ्तर का एक स्थानीय मण्डल भी है। इसके लिये प्रत्येक क्षेत्र के हिस्सेदारों के नाम के पृथक-पृथक रजिस्टर है। कहना न होगा कि जिस क्षेत्र के स्थानीय मण्डल के सदस्यों का चुनाव होता है उसी क्षेत्र के हिस्सेदार उस चुनाव मे भाग लेते है। प्रत्येक स्थानीय मण्डल मे एक तो उसका सभापति, एक उपसभापति, एक मन्त्री और कम से कम तीन सदस्य होते है। इस मण्डल को केन्द्रीय मण्डल के बनाये हुये उपनियमों के अनुसार अपने यहाँ की बैंकिंग का व्यवसाय चलाने का अधिकार है। साथ ही यह स्थानीय दफ्तरों मे रक्खे हुये शाख रजिस्टरों की जाँच करते है। उनकी अदला-बदली की और हिस्सों के हस्तान्तरित होने की स्वीकृति अथवा अस्वीकृति देते है और उनके प्रमाण-पत्र तैयार करते है।

फिर एक केन्द्रीय मण्डल है जिसके निम्न सञ्चालक होते है :—

(१) स्थानीय मण्डलों के सभापति, उपसभापति और मन्त्री—सब मिलाकर नौ सचालक;

(२) प्रत्येक स्थानीय मण्डल के सदस्यों मे से उन्हीं के द्वारा उन्हीं मे से चुना हुआ एक-एक सदस्य—३ संचालक,

(३) एक व्यवस्था संचालक (Managing Director)—इसे केन्द्रीय मण्डल स्वय ही मनचाही शर्तों पर अधिक-से-अधिक

पाँच वर्षों के लिये चुनता है। इसके बाद फिर भी यह प्रत्येक बार अधिक-से-अधिक पाँच वर्षों के लिये चुना जा सकता है।

(४) सपरिषद् गवर्नर जनरल द्वारा नियुक्त अधिक-से-अधिक ऐसे दो संचालक जो उसके यहाँ के अफसर न हों। ये प्रति वर्ष नियुक्त किये जाते है। हाँ, इनकी पुनर्नियुक्ति भी हो सकती है.

(५) केन्द्रीय मण्डल के द्वारा निर्वाचित एक उप-व्यवस्था सचालक (Deputy Managing Director);

(६) सपरिषद् गवर्नर जनरल द्वारा नियुक्त एक सरकारी अफसर।

(५) मे दिया हुआ उप-व्यवस्था संचालक, (१) मे दिये हुये मन्त्री और (६) मे दिया हुआ अफसर—ये लोग प्रत्येक बैठक मे सम्मिलित तो हो सकते है किन्तु अपने मत नहीं दे सकते। हाँ व्यवस्था संचालक की अनुपस्थिति मे उप-व्यवस्था संचालक भी मत दे सकता है।

केन्द्रीय मण्डल बैंक के सभी कामों पर दृष्टि रखता है। फिर उसकी जितनी भी शक्तियाँ है उन सब का यही प्रयोग करता है। सक्षेप में यह बैंक के उन सभी कामों को करता है जिन्हे विधान के द्वारा अथवा इसने स्वयं स्थानीय मण्डलों को नही सौंप दिया है। अपनी और स्थानीय मण्डलों की सुविधा के लिये इसने इन सब कामों के सम्बन्ध मे कुछ उपनियम भी बना लिये है।

समस्त हिस्सेदारो की साधारण तथा विशेष बैठकों को बुलाने के लिये भी विधान बने हुये है। इसी तरह से प्रत्येक क्षेत्र के हिस्सेदारों की बैठकों को भी बुलाने के लिये नियम है।

बैंक के करने योग्य व्यवसाय

बैंक निम्न व्यवसाय कर सकता है :—

(१) यह निम्न जमानतों के आधार पर ऋण और नक़द साख दे सकता है :—

(क) स्थानीय सरकार अथवा सीलोन की सरकार के अथवा अन्य सस्थाओं के स्टाक, फण्ड तथा ट्रस्टी सिक्योरिटियों के और रिजर्व बैंक के हिस्सो के आधार पर;

(ख) सरकार के द्वारा सहायता प्राप्त उन रेलों की सिक्यो-

रिटियों के आधार पर जिन्हे सपरिषद् गवर्नर जनरल ने लागत लगाने के योग्य मनोनीत कर दिया है उनके आधार पर;

(ग) उन ऋण-पत्रों, इत्यादि के आधार पर जिन्हे निम्न संस्थाओं ने निकाला हो :—

ब्रिटिश भारत[1] के किसी भी व्यवस्थापिका मण्डल के द्वारा पास किये गये विधान के अनुसार किसी भी संस्था के द्वारा निकाले हुये अथवा;

किसी ज़िला अथवा म्युनिस्पल बोर्ड अथवा कमेटी के द्वारा निकाले हुये अथवा;

किसी देशी रियासत के राजा के द्वारा निकाले हुये और सपरिषद गवर्नर जनरल के द्वारा स्वीकृत हुये अथवा;

किसी सीमित दायित्व वाली कम्पनी के द्वारा निकाले हुये किन्तु केन्द्रीय मण्डल के द्वारा निर्धारित शर्तों को पूरा करने पर;

(घ) गिरवीं रक्खे हुये माल के आधार पर अथवा केन्द्रीय मण्डल की स्वीकृति पर एक विशेप प्रस्ताव के द्वारा पास करा कर माल को अपने नाम करा कर उसके आधार पर अथवा उनके आधार पत्रों पर जमा करा कर अथवा उन पर बेचान करा कर उनके आधार पर,

(ङ) स्वीकृत किये हुये बिलों के आधार पर और पाने वाले धनियों के द्वारा बेचान किये गये प्रण-पत्रों के आधार पर और दो अथवा दो से अधिक व्यक्तियों के अथवा फर्मों के द्वारा लिखे हुये सयुक्त और पृथक प्रण पत्रों के आधार पर। दो व्यक्ति तभी पृथक-पृथक माने जॉयगे जब वह साझे से सम्बन्धित नही, और

(च) सीमित दायित्व वाली कम्पनियों के हिस्सों के आधार पर अथवा जब (क) से (घ) तक दी हुई जमानतें तो पहिले दी गई है और फिर अचल सम्पत्ति अथवा उसके सबन्ध के अधिकार-पत्र दिये गये है तब उनके आधार पर और यदि पहिले (ङ) मे दी हुई जमानत दी गई है तब केन्द्रीय

---

[1] भारत

मंडल के द्वारा स्वीकृत शर्तों पर ऊपर दी हुई जमानतों के आधार पर।

भारत सचिव[1] को वगैर जमानत के भी ऋण दिया जा सकता था।

(२) यदि किसी ऋण के सम्बन्ध मे कोई प्रण-पत्र, ऋण-पत्र, स्टाक (माल), रसीद, वाण्ड (Bond), वार्षिक-भत्ता (Annuity), स्टाक, हस्से सिक्योरिटियाँ अथवा माल अथवा माल सम्बन्धी अधिकार-पत्र वैंक के हाथ मे आ जाते है तो ऋण की वापिसी न होने पर वह उन्हे वेच और उनके मूल्य वसूल कर सकता है।

(३) वह कोर्ट आफ वार्ड्स को उनके हाथ मे अथवा उनकी व्यवस्था मे जो स्टेट हों उनके आधार पर उन्हे ऋण दे सकता है और उसे व्याज सहित वसूल कर सकता है। किन्तु ऐसे ऋण उस स्थान की स्थानीय सरकार की स्वीकृति पाने के बाद ही और कृषि के कामों के लिये तो नौ महीनों के लिये और अन्य कामों के लिये छः महीनों से अधिक के नहीं होने चाहिये।

(४) यह विनिमय के विलों को और दूसरी हस्तान्तरित होने वाली सिक्योरिटियों को लिख, स्वीकृति कर, भुना, क्रय और विक्रय कर सकता है।

(५) यह प्रथम मे (क) से (ग) तक मे दी हुई जमानतों मे अपनी लागत लगा सकता है और उन्हे वही पर दी हुई अन्य तरह की जमानतों मे वदल भी सकता है।

(६) यह आर्डर वैंक, पोस्ट विल और साख-पत्र (Letters of credit) अथवा यही सब देखनहार और मांग पर देय शर्त के अतिरिक्त वना, निकाल और चला सकता है।

(७) यह मुद्रा के रूप मे अथवा ऐसे ही सोने और चाँदी को खरीद और वेच सकता है।

(८) यह जमा प्राप्त कर सकता है और किसी भी शर्त पर हिसाव रख सकता है।

(९) यह प्लेट, जवाहिरात, अधिकार-पत्र अथवा अन्य मूल्यवान वस्तुओं को किसी भी शर्त पर धरोहर के रूप में रख सकता है।

---

[1] भारत सरकार

(१०) यदि कोई चल अथवा अचल सम्पत्ति इसके हाथ मे आ जाती है तो यह उसे बेच कर उसके मूल्य की वसूली कर सकता है। साथ ही यदि इसके पास इनके कोई अधिकार आ जाँय तो उन्हे भी यह ले, रख और हर प्रकार से प्रयोग में भी ला सकता है।

(११) यह कमीशन पर कोई भी अर्थ सम्बन्धी आढती काम कर सकता है और जमानत पर अथवा बिना जमानत के ही किसी प्रकार की क्षति पूर्ति का अथवा प्रतिभू (Surety-ship) का दायित्व ले सकता है।

(१२) यह किसी भी स्टेट की साधक (Executor) की, धरोहरी (Trustee) की अथवा किसी अन्य स्थिति में व्यवस्था कर सकता है। साथ ही यह किसी सार्वजनिक कम्पनी के साख-पत्रों और हिस्सों को कमीशन पर खरीद, बेच, हस्तान्तरित कर और अपने पास रख सकता है। यह उनके मूल्य, व्याज, लाभ की बँटनी को प्राप्त भी कर सकता है। अन्तिम, वह उपर्युक्त रकम को देश में अथवा बाहर कहीं भी सार्वजनिक अथवा निजू बिलों के द्वारा पहुँचा भी सकता है।

(१३) यह विदेशों मे देय विनिमय के बिलों को लिख और ऐसे ही साख-पत्रों को निकाल भी सकता है।

(१४) यह विदेशों मे देय विनिमय के बिलों को, चाहे वह किसी भी अवधि के ही क्यों न हों (किन्तु यदि वह कृषि के सम्बन्ध के है तो नौ महीनों से अधिक के बाद देय न हों और यदि अन्य किसी व्यवसाय के सम्बन्ध के है तो छ महीनों से अधिक के बाद देय न हों), बेच सकता है।

(१५) यह अपने व्यवसाय के लिये अपनी सम्पत्ति और अपने पाउने की जमानत पर अथवा बिना जमानत के ही द्रव्य उधार भी ले सकता है।

(१६) समय समय पर यह प्रेसीडेन्सी बैंकों के पेन्शन कोष में रकम डाल सकता है।

(१७) ऊपर जिन व्यवसायों के विषय मे कहा गया है उन्हे करने मे अन्य जिन कामों के करने की आवश्यकता प्रसङ्गवश आ जाय उन्हे भी यह बैंक कर सकता है।

जो काम यह नहीं कर सकता है

ऊपर जो काम दिये गये है उनके अतिरिक्त यह बैंक अन्य काम और विशेषत: निम्न काम नहीं कर सकता :—

(१) (३) और (४) मे जैसा दिया हुआ है उसके अनुसार यह छः महीनों अथवा नौ महीनों से अधिक के लिये ऋण नहीं दे सकता। साथ ही ये इसके स्वयम् के स्टाक और हिस्सों पर भी नहीं दिये जा सकते। इसी तरह से (३) मे जो दिया हुआ है उसके अतिरिक्त अचल सम्पत्ति अथवा उनके पत्रों की जमानतो पर भी ये नहीं दिये जा सकते।

(२) प्रत्येक व्यक्ति अथवा साझे को जितने तक का ऋण देने के लिये इसकी स्वीकृत तालिका मे अथवा बिलों को भुनाने के लिये लिखा हुआ है उससे अधिक का ऋण नहीं दिया अथवा बिल नहीं भुनाया जा सकता। हॉ, यह ऋण प्रथम मे (क) से (ध) तक दी गई जमानतों पर दिया जा सकता है।

(३) किसी व्यक्ति के अथवा साझे के ऐसे किसी अच्छा अधिकार देने वाले साख-पत्रों की जमानत पर न तो नकद साख दी जा सकती है न ऋण दिया जा सकता है, न उसे खरीदा अथवा भुनाया जा सकता है जो उसी शहर मे देय हो जहॉ वह भुनाया जा रहा है और जिसमे कम से कम ऐसे दो व्यक्ति अथवा साझों के पृथक पृथक दायित्व न हों जिनमे परस्पर साझे का सम्बन्ध नहीं है।

(४) ऐसे अच्छा अधिकार देने वाले साख-पत्रों की जमानत पर न तो नकद साख खाता खोला जा सकता है, न ऋण दिया जा सकता है, न उन्हे खरीदा जा सकता है और न उन्हे भुनाया जा सकता है जिनमे धरोहर की रकम नहीं लगाई जा सकती अथवा जो यदि कृषि की सहायता के लिये लिखे गये हैं तो नौ महीनों के बाद और जो किसी अन्य काम के लिये लिखे गये हों तो छः महीनों के बाद पकते हों।

रिज़र्व बैंक का इम्पीरियल बैंक से समझौता

रिजर्व बैंक विधान की ४५ वीं धारा मे रिजर्व बैंक और इम्पीरियल बैंक के बीच मे एक समझौते की बात लिखी हुई थी और उसके तीसरे परिशिष्ट मे वह शर्तें दी हुई थीं जिनका उसमे होना आवश्यक

था। अतः, यह समझौता किया गया और सपरिषद गवर्नर जनरल की स्वीकृति के बाद इस पर दोनों धनियों के हस्ताक्षर हुये। इसके अनुसार इम्पीरियल बैंक उन सब स्थानों में रिज़र्व बैंक का अकेला अढ़तिया नियुक्त किया गया जहाँ इम्पीरियल बैंक का दफ्तर तो था किन्तु रिज़र्व बैंक के बैंकिंग विभाग का कोई दफ्तर नहीं था। इम्पीरियल बैंक के रिज़र्व बैंक की ओर से उन कामों के करने के प्रति फलस्वरूप जिन्हे यह उन स्थानों पर पहिले ही से सपरिषद गवर्नर जनरल की ओर से करता आ रहा था रिज़र्व बैंक को इसे उस तमाम रकम पर जो यह उस खाते मे वर्ष भर मे पाता है अथवा देता है एक कमीशन देना पड़ता है। प्रारम्भ मे पहिले के दस वर्षो मे तो यह पहिले के २५० करोड़ रुपये पर तो १ आ० प्रतिशत था और बाकी रकम पर दो पैसा प्रतिशत था। इस अवधि के बीत जाने पर अगले पाँच वर्षों के लिये इस कमीशन का निश्चय इम्पीरियल बैंक के इस काम को करने मे जो कुछ वास्तविक व्यय हुआ था उसे जाँचने के बाद करने के लिये तै हुआ था। अतः, यह सन् १९४५ मे हुआ। उसके अनुसार कमीशन की दर प्रथम १५० करोड़ रुपये के लिये १ आ० प्रतिशत, दूसरे १५० करोड़ रु० के लिये २ पैसा प्रतिशत तथा ३०० करोड़ रु० के ऊपर ३०० करोड़ रु० के लिये एक पैसा प्रतिशत और शेष के लिये $\frac{1}{२८}$ प्रतिशत निश्चित हुआ था। साथ ही रिज़र्व बैंक ने इम्पीरियल बंक को उसके अपनी उतनी ही शाखाओं को खुली रहने देने के लिये जितनी रिज़र्व बैंक के खुलने के समय थी प्रथम पाँच वर्षों तक ९ लाख रुपये प्रति वर्ष, दूसरे पाँच वर्षों तक ६ लाख रु० प्रति वर्ष और तीसरे पाँच वर्षों तक ४ लाख रु० प्रति वर्ष देने का वायदा किया था। इम्पीरियल बैंक अपनी किसी ऐसी शाखा को बन्द करके, जो इस समझौते को करने के समय थी, कोई नयी शाखा नहीं खोल सकता। हाँ, रिज़र्व बैंक किसी भी जगह पर चाहे वहाँ उस समय तक इम्पीरियल बैंक उसके अढ़तिये का काम क्यों न करता रहा हो अपनी शाख जब चाहे तब खोल सकता है।

यह समझौता १५ वर्षो के लिये हुआ है। इसके बाद इसे कोई भी धनी ५ वर्षों की सूचना देकर समाप्त कर सकता है। साथ ही यह इस बात पर भी निर्भर है कि इम्पीरियल बैंक अपनी स्थिति बराबर अच्छी रक्खे। यदि रिज़र्व बैंक के केन्द्रीय मंडल के विचार मे किसी

समझ में यह आ जाता है कि वह ऐसा नहीं कर रहा है अथवा समझौते की शर्तों का पालन नहीं कर रहा है तब वह सपरिषद गवर्नर जनरल के पास जा सकता है और वह इम्पीरियल बैंक को इस समझौते के सम्बन्ध मे अथवा सरकारी द्रव्य की अथवा रिजर्व बैंक के नोट चलाने वाले विभाग के सम्पत्ति और पाउने की रक्षा के सम्बन्ध मे कोई भी आदेश दे सकता है और उसे न पालन करने पर समझौते को समाप्त कर सकता है।

इम्पीरियल बैंक से होने वाले लाभ

इम्पीरियल बैंक से अनेकों लाभ हुये है। वे निम्नाङ्कित हैं :—

(१) जब प्रेसीडैन्सी बैंकों को मिलाकर इम्पीरियल बैंक बना था तब प्रेसीडैन्सी बैंकों की कुल मिलाकर ५९ शाखाये थी। इम्पीरियल बैंक तथा भारत सचिव के बीच मे इस सम्बन्ध का जो समझौता हुआ था उसके अनुसार इम्पीरियल बैंक को प्रथम पाँच वर्षों के अन्दर १०० नयी शाखाओं की सस्थापना करने के लिये बाध्य किया गया था। कहना न होगा कि मार्च सन् १९२६ तक इसने अपने दायित्व को पूरा कर दिया था और कुल मिला कर १०२ नयी शाखाये खुल चुकी थीं। सन् १९४७ के अन्त मे इसके ४४४ दफ्तर थे। इसने बहुत से स्थानों मे जब अपने दफ्तर खोले थे तब वहाँ पर कोई भी आधुनिक बैंक नही था। हाँ, उसके बाद कही-कही अन्य बैंकों के भी दफ्तर खुल गये है। किन्तु अब भी लगभग १०० के ऐसी जगहे हैं जहाँ केवल इम्पीरियल बैंक के ही दफ्तर है। इसके यह अर्थ हैं कि इन स्थानों को केवल इम्पीरियल बैंक के ही होने के कारण बैंकिंग का लाभ मिल रहा है।

(२) इसमे जनता का विश्वास पैदा हो गया है। हम जानते हैं कि सम्मिलित पूँजी वाले बैंक बराबर फेल होते रहते हैं। अतः, लोगों का उन पर कोई विश्वास नही रह गया है। इम्पीरियल बैंक सन् १९३४ तक तो सरकार का भी बैंक था। अतः, लोग समझते थे कि यह फेल नही होगा। देश के प्रमुख बैंक अर्थात् रिजर्व बैंक के इसके अकेले अढतिये होने के कारण आज भी इसकी एक विशेष स्थिति है। इसके कारण इसमे द्रव्य जमा होता रहता था और है। फिर इसने कुछ बैंकों की तो उनके संकट के समय सहायता की ही है; अतः, इससे

इसने उन्हे फेल होने से भी बचाया है। इसका फल यह हुआ कि लोगों का उन सब पर भी कुछ न कुछ अधिक विश्वास तो अवश्य ही जमा। इससे इम्पीरियल और दूसरे बैंकों मे जमा बढ़ी। जिन स्थानों मे इसने अपनी शाखाये खोलीं उनमे बहुत कुछ जमा इसके यहाँ अवश्य आई। अतः, हम यह कह सकते हैं कि इम्पीरियल बैंक ने देश की पूँजी को चलायमान करके उसे अवश्य लाभ पहुँचाया है।

(३) जिन स्थानों मे इसने अपनी शाखाये खोली वहाँ के लोगों ने इससे ऋण भी पाया। इतना ही नही वहाँ ब्याज की दर भी बहुत कुछ कम हो गई। इसके अतिरिक्त जहाँ पर इसकी शाखायें नहीं हैं वहाँ पर भी उनके खुलने के डर के मारे अन्य बैंकों ने कम दर का ही ब्याज लिया। केवल देशी महाजनों ही ने नही वरन् आधुनिक बैंकों ने भी यही किया। चूँकि इम्पीरियल बैंक के पास पहिले सरकार का द्रव्य भी रहता था, अतः, वह उसे भी प्रयोग मे ला सकता था। जैसा कि हमें ज्ञात है इसे १२ करोड़ रु० की अतिरिक्त करन्सी प्राप्त कर लेने का अधिकार भी दे दिया गया था। इससे तेजी के समय ब्याज की दर अवश्य बहुत कुछ बढ़ने से तो रुक ही जाती थी।

(४) इसकी शाखाओं की बहुत अधिक सख्या होने के कारण यह द्रव्य भेजने की भी बहुत सुविधा दे सकता था। केवल यही नहीं वरन् अन्य बैंक भी इसी कारण इस काम मे अधिकाधिक सुविधा दे सकते थे। साथ ही द्रव्य भेजने का खर्च भी बहुत कम लिया जाता था।

(५) ऐसा सोचा गया था कि यह बिलों को अधिकाधिक सख्या मे डिस्काउण्ट करके उनका प्रयोग भी बढ़ा सकेगा। किन्तु यह नहीं हो सका। बात यह थी कि दूसरे बैंक इसे अपने बिलों के विवरण नहीं बताना चाहते थे। उनका यह ध्यान था कि यह उससे लाभ उठाकर उनकी प्रतियोगिता करेगा। जो हो, यह माल पर उधार देकर, बिलों को डिस्काउण्ट करके और माँग पर देय ड्राफ्टों और टी० टी० को खरीद करके कृषि की उपज के व्यापार में बड़ी सहायता करता है। इसने अपनी हुंडी की दर और बाजार के ब्याज के दर मे भी बहुत कुछ ,न्तर मिटा दिया है। इसी तरह से इसने बम्बई, कलकत्ता और मद्रास के बाजारों के ब्याज की दरों के अन्तर को भी बहुत कुछ कम कर दिया है।

(६) इसने प्रान्तीय और जिला सहकारी बैंकों से भी बहुत घना सम्बन्ध उत्पन्न कर लिया है और यह उन्हे जमा से अधिक निकालने, इत्यादि की भी सुविधा देता है।

(७) इसने अपनी बड़ी-बड़ी शाखाओ मे निकासग्रह भी स्थापित कर दिये थे जिससे बैंकों को इस सम्बन्ध की सुविधा प्राप्त हो सकी। इसके फलस्वरुप चेकों का प्रयोग भी बढा।

(८) यह सरकारी ऋण निकालता था और उसकी व्यवस्था करता था। अतः, जिन-जिन शहरों मे इसकी शाखाये थीं उन-उन शहरों के लोग सरकारी साख-पत्रों मे रुपया लगाने लगे।

(९) इसकी शाख लन्दन मे भी थी। अतः, इसके ग्राहको को संसार के सबसे मुख्य अन्तर्राष्ट्रीय बाजार से सम्बन्ध रखने का अवसर प्राप्त हो सका।

रिज़र्व बैंक की स्थापना का इसकी उपयोगिता पर प्रभाव

रिजर्व बैंक की स्थापना का इसकी उपयोगिता पर तनिक भी प्रभाव नही पड़ा। जैसा कि पहिले ही कहा जा चुका है जनता का अब भी इस पर पूर्ण विश्वास है। सच तो यह है कि इसके अब बहुत से बन्धनों से मुक्त हो जाने के कारण यह जनता के लिये और भी उपयोगी हो गया है। अब यह अधिक दिनों तक के लिये और बहुत सी जमानतो पर ऋण दे सकता है। फिर, अब यह विनिमय का व्यवसाय भी कर सकता है।

इंपीरियल बैंक तथा जनता

उपर्युक्त से यह तो स्पष्ट ही है कि इम्पीरियल बैंक जनता के लिये, अपने ग्राहकों के लिये, सम्मिलित पूँजी वाले और सहकारी बैंकों के लिये तथा सरकार के लिये बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुआ है। यदि हम प्रथम को अर्थात् साधारण जनता को ही पहिले ले ले तो बैंकिंग के व्यवसाय के बढ़ जाने से उसको भी बहुत लाभ हुआ है। हमे यह तो ज्ञात ही है कि इसने किस तरह से अपनी नयी-नयी शाखाये खोल कर और सरकार का बैंकर बन कर तथा जब से रिजर्व बैंक स्थापित हुआ है तब से उसका एकमात्र अढतिया बनकर और सबसे मुख्य तो सम्मिलित पूँजी वाले बैंकों को सहायता देकर साधारण जनता का

विश्वास अपने ऊपर जमा लिया है और उसमे बैंकिंग की आदत डाल दी है। इसके अतिरिक्त इसकी बहुत सी शाखाओं के होने के कारण इसको जो बहुत से कर्मचारियों की आवश्यकता पड़ी उससे देश के बहुत से लोग बैंकिग का काम सीख गये हैं। इस तरह से इस देश में बैंकिंग का धधा भी चल निकला है और उससे लोगों की जीविका का प्रश्न भी कुछ हल हो गया है।

इंपीरियल बैंक तथा उसके ग्राहक

सरकार की रकम के इसके पास होने के कारण और इसके उसे अपने प्रयोग मे लाने के कारण यह अपने ग्राहकों को अधिक ऋण देकर और उनसे कम व्याज लेकर उनको बराबर लाभ पहुँचा सकता था। फिर आवश्यकता पड़ने पर यह सरकार के करन्सी विभाग से अतिरिक्त करन्सी लेकर तेजी और मन्दी के समय की व्याज की दर को बहुत कुछ सम कर सकता था। इसके अतिरिक्त इसकी एक शाख लन्दन में है। इससे एक तो यह लाभ है कि इसके ग्राहकों का इसके द्वारा ससार के एक मुख्य द्रव्य के बाजार से सीधा सम्बन्ध स्थापित हो सकता है। दूसरे, यह अंग्रेज व्यापारियों की स्थिति के सम्बन्ध में स्वय पता लगा करके उसे अपने उन ग्राहकों को बता सकता है जो उनसे व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करना चाहते है। तीसरे, यह स्थानीय संस्थाओं के लिये लन्दन मे साख उत्पन्न कर सकता है और अपने भारतीय ग्राहकों की बचत को वहाँ लगा सकता है। चौथे और अन्तिम, अपनी बहुत सी शाखाओं के होने के कारण यह अपने ग्राहकों को बैंकिंग की अधिकाधिक सुविधाये दे सकता है।

इंपीरियल बैंक तथा सम्मिलत पूँजी वाले बैंक

इम्पीरियल बैक सम्मिलित पूँजी वाले बैंकों के बिलों को फिर से डिस्काउण्ट करके तथा उनकी अन्य प्रकार से सहायता करके उनके मित्र तथा सरक्षक का काम करने के उद्देश्य से स्थापित किया गया था। किन्तु इसमे यह बिल्कुल भी सफल नहीं हो सका। उनका प्रतियोगी होने के कारण यह उनके हृदय मे अपनी ओर से विश्वास नहीं जमा सकता और इसी कारणवश यह उपर्युक्त कामों मे सफल भी नही हो सका। सम्मिलित पूँजी वाले बैक इसलिये अपने बिल इससे नहीं डिस्काउण्ट कराते थे कि ऐसा करने से इसे उनके सम्बन्ध की

सब बातें मालूम हो जायँगी और इससे यह उनके काम छीन लेगा। साथ ही वह इससे अन्य प्रकार से भी ऋण लेने मे डरते थे। उन्हें यह आशंका थी कि यह जनता मे कही उन्हे बदनाम न कर दे। कभी-कभी तो इस पर उन बैंकों का पक्षपात करने का भी दोषारोपण किया जाता था जिनकी व्यवस्था विदेशियों के हाथ मे थी। किन्तु इसने अन्य बैंकों की भी कई बार सहायता की और इससे अवश्य ही उन्हे फेल होने से बचाया। अलायन्स बैंक आफ शिमला के फेल होते ही इसने उसकी समस्त जमा का ५० प्रतिशत उसी समय देकर उसके ग्राहकों की बडी ही मदद की। इसने उनकी अन्य प्रकार से भी सहायता पहुँचाई। जैसा कि पहिले भी बताया जा चुका है इसने उन्हे द्रव्य भेजने की और चेको के पारस्परिक निपटारे की भी सुविधाये दी। इसके अतिरिक्त इसने उनके सामने अपने काम करने के ढङ्ग को इतना ऊँचा रक्खा कि जो अन्य बैंकों के लिये आदर्श स्वरूप था और जिसे उनमे से कुछ ने तो अपनाने का भी प्रयत्न किया।

इम्पीरियल बैंक तथा सहकारी बैंक

जैसा कि पहले कहा जा चुका है इम्पीरियल बैंक सहकारी बैंकों को जमा से अधिक रकम निकालने की आज्ञा देकर तथा अन्य प्रकार से ऋण देकर उनकी सहायता करता है। उनसे इसका बहुत अच्छा सम्बन्ध रहा है।

इंपीरियल बैंक तथा सरकार

इम्पीरियल बैंक तथा भारत सचिव के बीच मे जैसे ही समझौता हो गया वैसे ही सरकार ने उन स्थानों पर अपने खजानों को बन्द कर दिया जिनमे इसके दफ्तर थे। फिर यह दफ्तर बराबर बढते गये। अतः, जैसे-जैसे यह बढ़े वैसे-वैसे ही सरकार के खजाने बन्द होते गये। इससे उसका बहुत कुछ व्यय बच गया। दूसरे, सरकार उन स्थानो के बीच मे हुण्डियाँ (Currency transfers) निकालने की झंझट से भी बच गई जिन स्थानों मे इसके दफ़्र थे। तीसरे, यह उसे अपने सभी दफ़्तरों मे उसकी आवश्यकता के अनुसार रुपये देने लगा। अन्तिम यह कि इसके उसके ऋण की व्यवस्था करने के कारण उसमे बहुत ही सुविधा होने लगी। छोटे-छोटे लोग भी उसमे रुपया लगाने लगे।

इंपीरियल बैंक तथा विदेशी बैंक

इम्पीरियल बैंक की संस्थापना से विदेशी बैंकों की तनिक भी हानि नही हुई। जैसा कि हम पहिले से ही जानते है सन् १९३४ के पहिले तो यह विनिमय का व्यवसाय कर ही नहीं सकता था, अतः, इसका उनसे प्रतियोगिता करने का प्रश्न ही नहीं उठ सकता था। किन्तु इसके बाद भी जब से इसे विनिमय का व्यवसाय करने की आज्ञा मिल गई है तब से भी इसने इस व्यवसाय को करना प्रारम्भ नही किया है। अतः, उनकी प्रतियोगिता नहीं की। फिर, इसके व्यवस्थापकों और उनके व्यवस्थापकों के बीच मे सदैव बहुत अच्छे सम्बन्ध रहते थे।

इम्पीरियल बैंक की वर्तमान स्थिति और उनके काम

इम्पीरियल बैंक अपनी संस्थापना के समय से ही बहुत ही उच्च तथा गौरवमय स्थिति मे है। सन् १९३४ तक तो यह सरकार का और बैंकों का बैंक था और इसके बाद से यह देश के प्रमुख बैंक अर्थात् रिजर्व बैंक का एकमात्र अढ़तिया है। इससे जनता का इस पर बड़ा विश्वास जम गया है और इसी से इसके यहाँ अन्य बैंको की अपेक्षाकृत बहुत ही अधिक जमा है। दफ्तरों की सख्या की दृष्टि से (सन् १९४७ मे ४४४), पूंजी की दृष्टि से (५६२,५०,०००रुपये) सुरक्षित कोष की दृष्टि से (६ करोड रुपये से अधिक), जमा की दृष्टि से (२४४'७२ करोड़ रुपये) और प्रत्येक दृष्टि से यह देश के बड़े से बड़े बैंको से भी यहाँ तक की स्वय प्रमुख बैंक से भी बडा है। यदि हम किसी एक वर्ग के सब बैंकों को भी एक साथ ले ले तो शायद यह उनमें से भी कुछ से बहुत बड़ा है।

सन् १९४५ के अन्त मे प्रत्येक वर्ग के बैंकों की प्राप्त पूँजी और सुरक्षित कोष, जमा, नकद कोष, लागत और ऋण मे जमा का अनुपात इत्यादि नीचे दिये हुये है जिनसे उन सबों के बीच मे इसकी तुलना की जा सकती है।

लाख रुपयों में

वर्ग	वर्ष	सं०	प्राप्त पूँजी और कोष	जमा	नकद कोष	नकद में जमा का प्रतिशत	लागत	लागत में जमा का प्रतिशत	ऋण	ऋण में जमा का प्रतिशत
(१) सदस्य बैंक										
(अ) इम्पीरियल बैंक	१९४५	१	११७०	२५१३७	४१६०	१६ ०	१५४१८	५९.४	७२९७	२८.१
(ब) विनिमय के बैंक	१९४५	१५	१८९५४	—	—	—	—	—	—	—
(स) अन्य सदस्य बैंक	१९४५	७५	३८७५	५४११५	१०५५९	१९.५	२७८५२	५१.५	२२०९१	४०.८
(२) गैरसदस्य बैंक										
(अ) एक लाख और पाँच लाख रु० के बीच के पूँजी और सुरक्षित कोष वाले बैंक	१९४५	२४२		९९५	९००६	३०९३	३३.६	२७६६	३०.०	४३७५	४७.५
(ब) ५०,००० और १ लाख रु० के बीच के पूँजी और सुरक्षित कोष वाले बैंक	१९४५	११४		८०	५४५	२०४	२७.४	१५३	२०.५	४६१	६१.९

इम्पीरियल बैंक आफ इण्डिया

(स) ५८,००० रु० के नीचे के पूँजी और सुरक्षित कोष वाले बैंक	१९४५	२४४	४९	४१९	१२२	२९·१	५०	११·९	२८२	६७·३
(३) सहकारी बैंक										
(अ) पाँच लाख और अधिक के पूँजी और सुरक्षित कोष वाले बैंक	१९४५	५०	६९५	३४९०	३१५	९·०	—	—	१९८३	५६·८
(ब) एक लाख और ५ लाख की पूँजी और सुरक्षित कोष वाले बैंक	१९४५	३१३	६६१	२३०२	३४२	१४·९	—	—	१३८४	६०·१

इसके अपरिमित साधनों के कारण सम्मिलित पूँजी वाले बैंक इसे अपना बहुत भयानक प्रतिद्वन्द्वी समझते हैं। इसने बहुत सी शाखाये खोल ली है और इससे वहाँ पर उनका एकाधिपत्य जाता रहा है। इसने मण्डियों में भी अपनी उपशाखाये खोल ली है और वहाँ पर यह कृपि के व्यापार की सहायता करने से भी उनका प्रतिद्वन्द्वी बन गया है। इसके पहिले यह केवल छ: महीनों तक के लिये ही ऋण देता था किन्तु जैसा कि हमको पहिले ही ज्ञात हो चुका है अब यह नौ महीनों के लिये भी ऋण दे सकता है। फिर, अब यह सब तरह की जमानतों पर ऋण देता है। उदाहरणार्थ, माल, अचल-सम्पत्ति, उनके अधिकार पत्र, सिक्योरिटियाँ, इत्यादि। यह जो व्याज लेता है उसकी दर भी अन्य बैंकों के व्याज की दर से कम है।

अब यह विनिमय का व्यवसाय भी कर सकता है। किन्तु अभी तक इसने इस काम को प्रारम्भ नहीं किया है। अत, इसकी विनिमय के बैंकों से कोई प्रतियोगिता नहीं पडी है। किन्तु यह उनसे बहुत अच्छी तरह से प्रतिद्वन्द्विता कर सकता है।

इसकी व्यवस्था बहुत कुछ गैरभारतीयों के हाथ में है। इसने भारतीयों को ऊँची-ऊँची जगहें बहुत कम दी है। इससे केवल इसका व्यय ही बहुत अधिक नहीं है वरन् यह भारतीयों की दृष्टि में गिर गया है। किन्तु जैसा कि पहिले भी कहा जा चुका है विश्वास पात्रता की दृष्टि से यह उनमें बहुत ही प्रिय है।

इंपीरियल बैंक की भविष्य के लिये नीति

इम्पीरियल बैंक की भविष्य के लिये यही नीति होनी चाहिये कि उसका दृष्टिकोण राष्ट्रीय हो। इसके कर्मचारियों को जनता की दृष्टि से यह निकाल देना चाहिये कि यह भारतीयों के प्रति उदासीन है। यदि ऊँचे-ऊँचे पदों को भारतीयों को दे दिया जाय तो शायद स्थिति बहुत कुछ सुधर जायगी और इधर सुधर भी रही है। इससे उन लोगों के लोगों से अधिक सम्बन्ध से आने से इसका व्यवसाय भी बढ़ जायगा। फिर, इससे इसके व्यय में भी कमी पड़ेगी। इसे भारतीय भाषाओं को भी प्रोत्साहन देना चाहिये। इसके अतिरिक्त इसे भारतीय बैंकों की व्यर्थ की प्रतिद्वन्द्विता नहीं करनी चाहिये। ऐसे अन्य बहुत से काम हैं जिन्हें यह कर सकता है। प्रथम तो अब जब कि इसे विनिमय

का काम करने की आज्ञा मिल गई है तब इसको इस काम को अवश्य करना चाहिये। जैसा कि आगे चलकर मालूम होगा विदेशी बैंक जिनके हाथ मे इसका एकाधिपत्य है देश के हित के विरुद्ध काम करते है। वे अपने अपने देशों के व्यवसायियों का पक्ष करते है और भारतीयों के हित की अपेक्षाकृत उन्हीं के हित का अधिक ध्यान रखते हैं। कुछ ऐसे भारतीय बैंकों की बहुत बड़ी आवश्यकता है जो उनके एकाधिपत्य को तोड़ सके और इम्पीरियल बैंक को छोड़कर कोई अन्य बैंक ऐसा कर नहीं सकता। इसे उद्योग-धन्धों की सहायता करने में भी बड़ी दिलचस्पी दिखानी चाहिये। भारतीय बैंकिंग में जो ऐसा काम करने वाले बैंकों की कमी है उसे यह बहुत ही अच्छी तरह से पूरी कर सकता है।

बैंक जो कुछ करता है उसी में बहुत कर सकता है। प्रथम तो इसे देशी महाजनों के बिलों को और उदारता से डिस्काउण्ट करके उनकी कमी को पूरा करना चाहिये। इसके लिये इसे अपने डिस्काउण्ट के दर को व्याज के दर से कुछ कम रखना पड़ेगा। दूसरे, इसे देशी महाजनों के प्रति अधिक उदार होना पडेगा। इसे बिलों और चेकों की वसूली के लिये उन पर उसी प्रकार विश्वास करना चाहिये जिस प्रकार यह दूसरे बैंकों पर करता है। जहाँ-जहाँ इसके स्वय के दफ्तर नही खुल सकते वहाँ-वहाँ यह उनसे साझा कर सकता है।[1]

प्रश्न

(१) इम्पीरियल बैंक पूर्णरूप से केन्द्रीय बैंक क्यों नहीं बनाया गया? इस सम्बन्ध में यह भी बताइये कि इससे इसके व्यापारिक बैंकों के काम करने के अधिकार को छीन लेने से किन-किन बातों का डर था।

(२) इम्पीरियल बैंक जो काम कर सकता है, इसके जो व्यवस्थापक मण्डल हैं उनकी रचना में तथा इसके कामो में सपरिषद् गवर्नर जनरल के हस्तक्षेप करने की शक्ति मे, इसके सन् १९३४ के विधान से कौन-कौन से परिवर्तन कर दिये गये है?

(३) इम्पीरियल बैंक के केन्द्रीय मण्डल की रचना कैसे होती है? इसके स्थानीय मण्डलों के विषय मे भी जो आप जानते हों उसके विषय में भी लिखिये।

---

[1] यह निश्चय किया जा चुका है कि इस बैंक को सरकार खरीद लेगी।

(४) अब इम्पीरियल बैंक किन-किन कामों को कर सकता है और किनको अब भी नहीं कर सकता ?

(५) इम्पीरियल बैंक और रिज़र्व बैंक में जो समझौता हुआ था उसमें कौन-कौन सी बातें थीं ? इस सम्बन्ध में आपको क्या कहना है ?

(६) इम्पीरियल बैंक की संस्थापना से कौन-कौन से लाभ हुये हैं ? रिजर्व बैंक की सस्थापना का इसकी उपयोगिता पर क्या प्रभाव पड़ा है ?

(७) इम्पीरियल बैंक जनता के लिये, अपने ग्राहकों के लिये, सम्मिलित पूँजी वाले बैंकों के लिये, सहकारी बैंको के लिये, सरकार के लिये और विदेशी बैंकों के लिये कहाँ तक उपयोगी सिद्ध हुआ है ?

(८) इम्पीरियल बैंक की वर्तमान स्थिति के विषय मे अपनी सम्मति दीजिये । भविष्य मे इसकी क्या नीति होनी चाहिये ?

अध्याय १८

विनिमय के बैंक

विनिमय के बैंकों के प्रधान दफ्तर भारतवर्ष के बाहर हैं। यद्यपि इनका विशेषण यह बतलाता है कि यह केवल विनिमय का ही काम करते हैं, किन्तु ऐसा नहीं है। विनिमय का व्यवसाय करने के अतिरिक्त ये साधारण व्यापारिक बैंकों के काम भी करते है। इसके यह अर्थ हुये कि ये माँग पर वापिस होने की शर्त पर रुपया उधार भी देते है, लागत लगाते हैं, अन्य प्रकार से ऋण देते हैं, व्यापारिक साख-पत्र निकालते है, जमा प्राप्त करते है और आढ़त के अन्य कार्य करते हैं। किन्तु विशेषत. ये विदेशी बिलों को खरीदते और डिस्काउण्ट करते हैं तथा विदेशी मुद्रायें देते है और यही एक ऐसी बात है जिससे यह देश के अन्य बैंकों से भिन्न है। भारतवर्ष के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की सहायता करने का काम इन्हीं के हाथ मे है। बात यह है कि प्रेसीडैन्सी बैंक इस काम को कर ही नहीं सकते थे। अत:, इन्हे इसमें विशिष्टता प्राप्त करने का बड़ा अच्छा अवसर मिल गया। फिर इम्पीरियल बैंक भी इसे सन् १९३४ तक नहीं कर

सकता था और जैसा कि हम जानते हैं आज तक भी वह ऐसा नहीं करता। जहाँ तक सम्मिलित पूँजी वाले बैंकों का प्रश्न है उनमें से तो कोई भी कुछ दिनों पहिले तक तो इसे कर ही नहीं सकता था। यह काम तभी किया जा सकता है जब इसके करने वाले के साधन बहुत अच्छे हों। हाँ, अब कुछ सम्मिलित पूँजी वाले बैंक अवश्य ऐसे है जो इसे कर सकते है किन्तु विनिमय के बैंक जो इसे बहुत दिनों से करते आ रहे है इससे ये उनकी बराबरी नहीं कर सकते। सेन्ट्रल बैंक ने कुछ वर्षों पहिले इसे करना प्रारम्भ किया था किन्तु वह इसमे कोई विशेष उन्नति नहीं कर सका। कुछ अन्य बैंकों ने भी इसे किया था किन्तु उन्हे भी कोई विशेष सफलता नहीं मिली। जिन स्थितियों में विनिमय के बैंक यहाँ खुले थे वह तो हमे पूर्णरूप से विदित ही हैं। अब, हमे उनकी वर्तमान अवस्था को, उनके कार्य करने के तरीकों को और उनमें जो दोष हैं उन्हे दूर करने के तरीकों को देखना है।

वर्तमान स्थिति

जैसा कि पहिले भी कहा जा चुका है इस देश में जो विदेशी बैंक काम कर रहे हैं उनकी संख्या सन् १९४७ मे १५ थी। उनके सब मिला कर ८० दफ्तर थे। इनमे से सबसे अधिक काम लायड्स बैंक के हाथ में था। इसके १८ दफ्तर थे। ग्रिन्डले बैंक के १४ दफ्तर थे। नेशनल बैंक आफ इण्डिया के ११ दफ्तर थे। चार्टर्ड बैंक आफ इण्डिया, आस्ट्रेलिया और चाइना के ९ दफ्तर थे। मर्केन्टाइल बैंक के ८ दफ्तर थे। इसके अतिरिक्त चार्टर्ड बैंक आफ इण्डिया, आस्ट्रेलिया और चाइना ने इलाहाबाद बैंक से सम्बन्धित होने के कारण जिसके ७५ दफ्तर थे यहाँ के बहुत कुछ काम को ले रखा था।

क्योंकि ये बैंक अपनी भारत की स्थिति के सम्बन्ध मे कोई अङ्क नहीं निकालते, अतः, इनकी यहाँ की पूँजी और सुरक्षित कोष के विषय मे कुछ नही कहा जा सकता। सम्मिलित पूँजी वाले बैंकों और इम्पीरियल बैंक के जमा की तुलना में इनकी जमा भी कम नहीं हैं। ये माँग पर देय जमा पर भी व्याज देते हैं। अतः, भारतीय बैंकों को भी ऐसा ही करना पड़ता है जिससे हम यह कह सकते है कि इस दोष का दायित्व इन्हीं के ऊपर है।

नकद में इनकी जमा का २८·५ प्रतिशत रहता है।

भारतवर्ष मे इनकी लागत का पता नही है। अतः, हम इस सम्बन्ध मे कुछ नही कह सकते।

उनके कार्य के तरीके

इसमे हमे केवल उनके यहाँ के विदेशी व्यापार को सहायता देने के तरीकों को देखना है। बात यह है कि इनके अन्य कामों के करने के तरीके तो वही है जो अन्य बैंकों के है। विदेशी व्यापार की सहायता मे दो काम आते है (१) भारतीय बन्दरगाहो से विदेशी बन्दरगाहों और विदेशी बन्दरगाहों से भारतीय बन्दरगाहों के बीच मे जो व्यापार होता है उसकी सहायता करना, और (२) भारतीय बन्दरगाहों से अन्दरूनी शहरों और अन्दरूनी शहरों से भारतीय बन्दरगाहों के बीच मे जो व्यापार होता है उसकी सहायता करना। प्रथम के सम्बन्ध का सारा काम और दूसरे के सम्बन्ध का कुछ काम इन्हीं बैंकों के हाथ मे है। जैसा कि पहिले भी कहा जा चुका है इनकी अन्दरूनी शहरो मे बहुत सी शाखायें है और इनसे यहाँ के कुछ बैंक भी सम्बन्धित है। अत., यह दूसरे प्रकार का काम उन्हीं से कराते है।

भारत और विदेशों के बीच के व्यापार के हिसाब का निपटारा बिलों से ही होता है। जब यहाँ से माल बाहर भेजा जाता है तब विदेश मे आयात करने वाले पर एक बिल लिखा जाता है अथवा जब वह अपनी साख लन्दन की बिल स्वीकृत करने वाली किसी कोठी मे अथवा वहाँ के किसी बैंक मे खोल लेता है तब यह बिल उस कोठी अथवा बैंक पर ही लिखा जाता है। फिर, इसे या तो यहाँ पर काम करने वाला कोई विदेशी बैंक खरीद लेता है, अथवा उससे इसे भुना लिया जाता है। ऐसे बिल की रकम प्रायः स्टर्लिङ्ग मे होती है। अतः, यह बैंक उसका मूल्य उस दिन के विनिमय की दर से यहाँ की करन्सी मे देते हैं। प्रायः यह बिल अधिकार पत्रों के साथ और ९० दिन के दर्शनी होते है। कभी-कभी बिल्कुल दर्शनी अथवा ९० दिनों से अधिक के दर्शनी बिल भी लिखे जाते है। फिर, प्राय· यह स्वीकृति पर अधिकार पत्र देने की शर्त के होते है, भुगतान पर अधिकार पत्र देने की शर्त के नही होते। बात यह है कि यहाँ पर

प्राय: सभी देशों के बैंक है जो अपने-अपने यहाँ के लोगों का अच्छा हवाला देते है जिससे वह स्वीकृति पर अधिकार पत्र देने की शर्त पर आयात कर सकते है। फिर, जब यह लोग किसी लन्दन की कोठी अथवा बैंक के यहाँ साख खोल लेते हैं तब तो हवाले की भी आवश्यकता नहीं रहती और स्वीकृति पर अधिकार पत्र देने की शर्त के ही बिल लिखे जाते है। अतः, जब न तो अच्छा हवाला मिलता है और न वह लन्दन की किसी कोठी अथवा बैंक मे साख ही खोल सकते है, तभी भुगतान पर अधिकार पत्र देने की शर्त के बिल लिखे जाते है; और ऐसा बहुत कम होता है। दर्शनी बिल की अपेक्षाकृत ३ महीनों की अवधि के बिलों की दर अधिक होती है। बात यह है कि उसमे उतने दिन का ब्याज भी सम्मिलित रहता है।

विदेशी बैंक खरीदे हुये अथवा डिस्काउण्ट किये हुये बिलों को माल के आयात करने वाले के अथवा जिसके यहाँ साख खुल जाती है उसके यहाँ भेज देते है और वहाँ पर उसकी स्वीकृति हो जाती है। इसके बाद अधिकारी बैंक इसे खुले बाजार मे डिस्काउण्ट करा सकते हैं और इस तरह से यहाँ पर उनकी शाख ने जितना रुपया दिया है उसके बराबर का स्टर्लिङ्ग उन्हे मिल जाता है। हाँ, यदि उन्हे द्रव्य की आवश्यकता नही होती अथवा वह उसे अधिक लाभ के कामों मे नहीं लगा सकते तो इन बिलों को अपने ही पास रखते है, भुनाते नही।

आयात की भी दो प्रकार से सहायता की जाती है। एक तो प्राय: भारतीयों के आयात करने पर और दूसरी विदेशियों के आयात करने पर होती है। पहिले मे विदेशी निर्यातकर्ता इस देश के आयातकर्ता पर ६० दिनों का दर्शनी बिल लिखकर उसे किसी ऐसे बैंक से डिस्काउण्ट करा लेते है जिसका काम भारत मे होता है। जो बैंक डिस्काउण्ट करते हैं उन्हे निर्यातकर्ता गिरवी पत्र (Letters of Hypothecation) भी दे देते है, जिससे वे इन बिलों के पूर्ण अधिकारी हो जाते है। फिर, यह उन्हे अपनी यहाँ की शाख के द्वारा यहाँ के आयातकर्ता के यहाँ भेजवा देते है जो उन पर अपनी स्वीकृति दे देते है, किन्तु उन्हे माल के अधिकार पत्र नहीं प्राप्त होते। बात यह है कि वह तो बिलों की शर्त के अनुसार केवल उनके भुगतान पर ही दिये जा सकते है। किन्तु उन्हे इन्हे प्राप्त करना तो आवश्यक ही रहता है, क्योंकि इनके बिना माल तो छुड़ाया नहीं जा सकता और

माल के न छुड़ाने पर क्षति (Demurrage) इत्यादि देनी पड़ती है। अतः, वह इन्हें बैंकों से धरोहर (Trust) पर ले लेते हैं, और माल पाने पर भी उन्हें धरोहर की तरह ही रखते है। इसके लिये ये बैंकों को धरोहर की रसीद (Trust Receipt) दे देते हैं। अतः, जब तक बिलों का भुगतान नहीं हो जाता तब तक यह माल बैंक का ही समझा जाता है। कहना न होगा कि इस सुविधा को दे करके बैंक आयात कर्ताओं से काफी लाभ उठा लेते है।

दूसरा तरीका प्रायः विदेशियों के सम्बन्ध मे प्रयोग मे लाया जाता है। बात यह है कि भारतीयों के लिये तो बहुत कम अच्छा हवाला दिया जाता है। अतः, वह लन्दन की किसी कोठी अथवा वहाँ के किसी बैंक के यहाँ साख भी बहुत कम खोल पाते है। जहाँ ऐसा हो जाता है वहाँ यह तरीका भारतीयों के लिये भी प्रयोग मे आता है। इस तरीके मे विदेशी निर्यातकर्ता लन्दन की उस कोठी अथवा वहाँ के उस बैंक के ऊपर बिल कर लेते हैं जिसके यहाँ यहाँ का आयातकर्ता साख खोल लेता है। यह साख किसी विनिमय के बैंक के यहाँ भी खोली जा सकती है। विदेशी निर्यातकर्ता के यहाँ जब इण्डेन्ट भेजा जाता है तभी इस साख के खोलने की सूचना भी उसके यहाँ भेज दी जाती है। ऊपर वाला धनी माल के सम्बन्ध के अधिकार पत्र पा जाने पर इस पर अपनी स्वीकृति दे देता है। अतः, निर्यातकर्ता अब इसे भुना भी सकता है। आयातकर्ता बिल के पकने की तारीख के पहिले बिल का मूल्य ऊपर वाले धनी के यहाँ भेज देता है जिससे वह उचित समय पर उसका भुगतान कर देता है।

यहाँ के आयात के सम्बन्ध के बिल प्रायः स्टर्लिङ्ग ही मे होते है। जब वह यहाँ के आयातकर्ता के ऊपर लिखे जाते है तब उनमे लिखने की तारीख से उनके धन के वहाँ पहुँचने की सम्भावित तारीख तक का ब्याज भी सम्मिलित कर लिया जाता है। यदि वह लन्दन की किसी कोठी के अथवा बैंक के ऊपर के होते है तब उन्हे वहीं पर वहाँ के डिस्काउण्ट की दर पर भी भुना लिया जाता है। कहना न होगा कि यह डिस्काउण्ट की दर प्रथम तरह के बिलों मे जो ब्याज सम्मिलित होता है उसकी दर की अपेक्षाकृत कम होती है। फिर डिस्काउण्ट तो केवल उसी अवधि के लिये लिये जाता है जो इनके पकने मे बाकी रहती है। इस सबसे यह स्पष्ट है कि गैरभारतीय

आयातकर्ता और ऐसे भारतीय आयातकर्ता भी जो लन्दन में साख खुलवा सकते हैं अन्य भारतीयों की अपेक्षाकृत बहुत लाभ में रहते हैं। इस सम्बन्ध मे यह भी है कि जिन भारतीयों की साख लन्दन मे खुल जाती है उन्हे साख खोलने वाले को साख के धन का १५ से २० प्रतिशत पहिले से दे देना पडता है। गैरभारतीयों को ऐसा नहीं करना पड़ता। अतः, इसका यह निष्कर्ष निकलता है कि भारतीय आयातकर्ता हर हालत मे गैरभारतीय आयातकर्ता की अपेक्षाकृत हानि ही में रहता है।

जैसा कि पहिले भी कहा जा चुका है, हमारे प्रायः सभी आयात और निर्यात के बिल स्टर्लिङ्ग मे लिखे जाते है। केवल चीन और जापान से जो व्यापार होता है उसके सम्बन्ध मे ही वह अन्य करन्सियों मे लिखे जाते हैं। चीन से व्यापार होने पर तो वे रुपयों में और जापान से व्यापार होने पर वे येन मे लिखे जाते है।

साधारणतया तो भारत के व्यापार की विषमता (Balance of trade) भारत ही के पक्ष मे रहती है। अतः, इन बैंकों के पास स्टर्लिङ्ग बच जाता है और उसे रिजर्व बैंक खरीद लेता है। वह इनके आधार पर यहाँ नोट निकालता है। जब कभी यहाँ के व्यापार की विषमता यहाँ के विपक्ष मे होती है तब विनिमय के बैंक रिजर्व बैंक से स्टर्लिङ्ग खरीद सकते है और रिजर्व बैंक स्टर्लिङ्ग सिक्योरिटियों को बेचकर उन्हे स्टर्लिङ्ग दे देते है। इससे नोट वापिस हो जाते है। इस सम्बन्ध मे यह याद रखना चाहिये कि रिजर्व बैंक को कोई भी बैंक १०००० अथवा उससे अधिक पाउण्ड जब चाहे तब दे सकता है और इतना ही जब चाहे तब उससे ले सकता है। इधर स्टर्लिङ्ग के स्थान पर अन्य करन्सियाँ भी दी-ली जा सकती है।

विदेशी बैंको के यहाँ के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की सहायता करने के तरीको में दोष

विदेशी बैंकों के यहाँ के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की सहायता करने के तरीको में जो दोष है वह तो ऊपर के वर्णन से स्पष्ट ही है :—

(१) हमारे निर्यात तथा आयात दोनों के बिल स्टर्लिङ्ग मे लिखे जाते है। अतः, उनका लन्दन के द्रव्य के बाजार में भुनाया जाना

आवश्यक हो जाता है। यदि बिल रुपयों मे लिखे जाने लगें तो यहाँ के द्रव्य के बाजार को अवश्य ही काफी प्रोत्साहन मिल जाय।

(२) भारतीय आयात कर्ताओं को प्राय: बिलों के भुगतान पर अधिकार-पत्र मिलने की शर्त पर आयात करना पड़ता है। यह इस कारण है कि विनिमय के बैंक उनका अच्छा हवाला नहीं देते। इससे उनकी जो हानि होती है उससे तो हम अवगत हो ही चुके है।

(३) जिन भारतीयों की लन्दन मे साख खुल जाती है उन्हे भी इसके लिये १५ से २० प्रतिशत तक की रकम पहिले से ही देनी पड़ती है। गैरभारतीय आयात कर्ताओं को ऐसा नही करना पडता।

(४) बिलों के साथ जो अधिकार-पत्र होते है उन्हे उनकी जाँच के लिये गैरभारतीयों के तो दफ्तरों मे भेज दिया जाता है किन्तु भारतीयों को इसके लिये बैंकों के दफ्तरों ही मे बुलाया जाता है।

(५) विदेशी बैंक यहाँ के आयात कर्ताओं को अपने-अपने यहाँ के जहाजों से माल मँगाने के लिये विवश करते है।

(६) बीमे के लिये भी वह उन्हें गैरभारतीय कम्पनियों ही के यहाँ बीमा कराने को कहते है।

(७) विनिमय के कन्ट्राक्टों के देर मे पूरा करने पर भारतीय आयात कर्ताओं को जुर्माना देना पड़ता है।

उपर्युक्त के अतिरिक्त इनमे कुछ अन्य दोष भी है :—

(१) यद्यपि ये लोग यहाँ पर बहुत दिनों से काम करते आ रहे हैं तो भी इन्होंने अभी तक ऊँचे-ऊँचे पदों पर भारतीयों की नियुक्ति नहीं की है।

(२) यहाँ के बैंकों ने जब-जब विनिमय का काम करना प्रारम्भ किया तब-तब इन लोगों ने उन्हें असफल बनाने का प्रयत्न किया।

(३) इन्होंने अपनी शाखाये देश के भीतरी शहरों मे भी खोल दी है जिससे यह भारतीय बैंकों से अन्य कामों मे भी होड़ करते है।

(४) इन्होंने सम्मिलित पूंजी वाले भारतीय बैंकों से भी अपना सम्बन्ध स्थापित कर लिया है जिससे ये उन्हें अपने लाभ के लिये काम में लाते है।

विनिमय के बैंकों को लाइसेन्स देने और उन पर अन्य प्रतिबन्ध लगाने का प्रश्न

इन बैंकों के ऊपर जो उपर्युक्त बातों का दोषारोपण किया जाता था उसके कारण इनको लाइसेन्स देने और इन पर अन्य प्रतिबन्ध लगाने का प्रश्न कई बार उठ चुका है। बैंकिंग विषयक अनुसन्धान करने वाली केन्द्रीय कमेटी ने इनके सम्बन्ध मे मुक्त द्वार नीति का बड़ा विरोध किया था। जरमनी, इटली, जापान, कनाडा, इत्यादि बहुत से देशों मे विदेशी बैंकों को लाइसेन्स देने का चलन है। अब जब रिजर्व बैंक है यही इन्हें लाइसेन्स दे सकता है। जो बैंक आज-कल काम कर रहे हैं उनके हित मे यह कहा जा सकता है कि उन्हें तो एक निश्चित अवधि के लाइसेन्स मिल ही जाने चाहियें और यदि रिजर्व बैंक को उनके विरोध मे कोई बात न सुनाई दे तो वह इनके लाइसेन्स को फिर बदल सकता है। लाइसेन्स की शर्तों मे एक शर्त यह होनी चाहिये कि यह यहाँ का हिसाब अलग रक्खे। इससे भारत के बैंकों मे उनकी क्या स्थिति है इस बात का भी पता लग जायगा। यह सुझाव भी रक्खा गया है कि विदेशी बैंकों के फेल होने पर भारतीय जमा करने वालों की सुरक्षा का ध्यान रक्खा जाय। किन्तु इनकी ऐसी स्थिति है कि इनके फेल होने का डर ही नही है। हाँ, जब कभी युद्ध छिड़ जाता है तब अवश्य कुछ डर रहता है। किन्तु जैसा कि हम जानते है ऐसे अवसरों पर ऐसे बैंको की सम्पत्ति देश के बाहर नही भेजी जा सकती। अतः, ऐसी कोई कठिनाई नही पड़ सकती। दूसरे, इन्हे देश के भीतरी शहरों में शाखाये खोलने को मना कर देना चाहिये। यदि ऐसा न किया जाय अथवा ऐसा करने पर भी यह सुझाव रक्खा गया है कि यहाँ पर यह जितनी जमा प्राप्त कर सकते है उस पर बन्धन लगा दिया जाय। ऐसा भी सुझाव रक्खा गया है कि कोई भी विदेशी बैंक किसी भी भारतीय बैंक को न खरीद सके। इनके ऊपर शाखाये न खोलने का जो प्रतिबन्ध लगाया जायगा उसे वह भारतीय बैंकों को खरीद कर तोड़ न सके इस बात को बचाने के लिये यह बहुत ही आवश्यक है। लाइसेन्स मे यह भी शर्त होनी चाहिये कि किसी शाख मे एक या दो से अधिक ग़ैरभारतीय नहीं होने चाहियें। अन्तिम बात यह है कि उनसे ये यहाँ पर जितना लाभ कमाते है उस सब पर आय

कर लेना चाहिये और उसको लगाने के लिये आय कर विभाग को इनके हिसाब की जाँच करने का पूरा अधिकार मिलना चाहिये।

यदि विदेशी बैंकों का लाइसेन्स देने और उनके व्यवसाय पर बन्धन लगाने का निश्चय न किया जाय तो भी उन्हें स्वयं नीचे लिखे सुधार कर लेने चाहियें जिससे वह भारतीयों मे अपने प्रति विश्वास पैदा कर सकें। देश के स्वतंत्र हो जाने के बाद ऐसा न करने पर वे चल ही नहीं सकते है।

विदेशी बैंकों के काम करने के सम्बन्ध में सुझाव

(१) इन्हे भारतीय आयात कर्ताओं के सम्बन्ध के वैसे ही हवाले देने चाहिये जैसे ये ग़ैरभारतीय आयात कर्ताओं के सम्बन्ध के देते है।

(२) इन्हें भारतीय आयात कर्ताओं को लन्दन की बिलों को स्वीकार करने वाली कोठियों और बैंकों के यहाँ उनसे १५ या २० प्रतिशत पेशगी दिलाये बिना ही शाख खोलने की व्यवस्था कर देना चाहिये और यदि ये ऐसा न कर सके तो इन्हें स्वयं ही उनके ऊपर के बिल स्वीकार कर लेना चाहिये।

(३) इन्हे बिलों के रुपयों मे लिखे जाने से कोई रुकावट नहीं डालनी चाहिये। रिजर्व बैंक की बैंक दर बहुत दिनों से तीन प्रतिशत है। अतः, यदि यह बिल रुपयों मे लिखे जाने लगें तो देश मे बिल बाजार अवश्य ही बन जायँ।

(४) इन्हे अपने यहाँ भारतीयों को ऊँचे-ऊँचे पद देने चाहिये। उससे न केवल इनका काम ही बढ़ जायगा बल्कि भारतीयों से अच्छा सम्बन्ध भी स्थापित हो जायगा।

(५) इन्हे भारतीय बैंकों के साथ सहयोग से काम करना चाहिये और भारतीय चीजों का बहिष्कार नही करना चाहिये। इन्हे भारतीय बीमा कम्पनियों के साथ समझौता कर लेना चाहिये। भारतीय जहाजों के भविष्य मे चलने की भी सम्भावना है। अतः, इन्हे उनकी भी सहायता करनी चाहिये।

भारतीयों के विनिमय के व्यवसाय करने के लिये सुझाव

चाहे विदेशी बैंकों को लाइसेन्स दिया जाय अथवा नहीं, चाहे उन पर कोई प्रतिबन्ध लगाया जाय अथवा नहीं, चाहे वह अपने

मे सुधार करें अथवा नहीं, भारतीयों को विनिमय का व्यवसाय अपने हाथ मे तो लेना ही पड़ेगा।

यद्यपि यहाँ पर बहुत से ब्रिटिश बैंक स्थापित हो चुके थे तो भी अमेरिका, जापान, फ्रान्स, डच इत्यादि के बैंक यहाँ पर स्थापित किये गये। इसका एकमात्र कारण यह है कि किसी देश के लोगों का उस देश के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे कितना हाथ रहेगा यह बस इस बात पर निर्भर हैं कि उनके बैंक उन देशों मे हैं अथवा नहीं जिनसे उनका व्यापार होता है। यह स्वाभाविक ही है कि किसी देश के बैंक ही उस देश के लोगों को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे सहायता पहुँचा सकते हैं। जर्मन और जापानियों का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार इसी तरह से बढ़ सका था। बैंकिंग सम्बन्धी अन्वेषण करने वाली केन्द्रीय कमेटी और उसकी सहायता को आये हुये विदेशी अनुभवी व्यक्तियों ने भी यही बात कही थी। हमारा जो व्यापारिक मिशन सन् १९४६ में चीन को गया था उसने यह कहा था कि वहाँ पर भारतीय बैंकों की बड़ी आवश्यकता है।

इसके अतिरिक्त अन्य लोगों ने अन्य सुझाव भी रक्खे हैं। उनमे से प्रथम तो यही था कि इम्पीरियल बैंक को यह व्यवसाय करना चाहिये। इस सम्बन्ध का उस पर जो प्रतिबन्ध लगा हुआ था उसका लोग बहुत विरोध करते थे।

प्रेसीडैन्सी बैंकों के ऊपर तो यह प्रतिबन्ध इसलिये लगाया था कि इस व्यवसाय मे उस समय बड़ी जोखिम थी किन्तु जब से देश मे विनिमयमान हो गया है तब से यह डर नहीं है। अतः, इस प्रतिबन्ध का रखना भी अनुचित था। जो हो सन् १९३४ मे इम्पीरियल बैंक के ऊपर से यह प्रतिबन्ध उठा लिया गया। जैसा कि बैंक के व्यवस्था शासक ने बैंकिग सम्बन्धी अन्वेषण करने वाली कमेटी के सामने कहा था इस काम को करने की शिक्षा का देना बहुत आसान था। किन्तु बैंक ने अभी तक ऐसा करना प्रारम्भ नहीं किया। कुछ लोग ऐसे है जो कहते हैं कि बैंक की नीति के भारतीय विरोधी होने के कारण उसके ऐसा करने से भी कोई लाभ नही होता, वह विदेशी बैंकों से मिल जायगा।

बैंकिंग सम्बन्धी अन्वेषण करने वाली केन्द्रीय कमेटी ने एक सरकारी विनिमय के बैंक की स्थापना करने की सिफारिश की थी।

किन्तु ऐसा करने के लिये तभी कहा गया था जब इम्पीरियल बैंक इस काम को न करे। सरकारी बैंक की पूँजी सम्मिलित पूँजी वाले भारतीय बैंकों के द्वारा खरीदी जाने की बात थी और उसकी कमी के सरकार द्वारा पूरी करने की बात थी। कुछ सदस्यों की यह राय थी कि सरकार को ही सब हिस्से लेने चाहिये। इसके अतिरिक्त वे इस बात के विरुद्ध थे कि इम्पीरियल बैंक से विनिमय के व्यवसाय को करने को कहा जाय क्योंकि उनका यह विचार था कि उसके हिस्सों के अधिकांश गैर भारतीयों के हाथों में होने के कारण वह भारतीयों के हित मे काम कर ही नहीं सकता है। वह सब हिस्सों के सरकार के द्वारा खरीदे जाने के लिये इसलिये कहते थे कि विनिमय के बैंकों ने ऐसी स्थिति पैदा कर दी है कि किसी भी भारतीय बैंक को इसमे सफलता प्राप्त करने के लिये यह आवश्यक है कि उसके साथ मे सरकार की पूरी सहायता हो। इस बैंक के ऊपर साधारण बैंकिंग का व्यवसाय करने की मनाही कर देने का भी सुझाव रक्खा गया था जिससे कि उसकी अन्य भारतीय बैंकों के किसी प्रकार की प्रतियोगिता न हो।

कुछ लोग सरकार के द्वारा विनिमय के बैंक के खोले जाने के पक्ष मे नही थे। कमेटी के एक सदस्य श्री सूबेदार ने इस काम को रिज़र्व बैंक के एक विभाग के द्वारा करवाने का सुझाव रक्खा था। उनके अनुसार इस व्यवसाय का हिसाब अलग रखने की और इसकी हानि को पूरा करने के लिये इसके एक अलग सुरक्षित कोष रखने की आवश्यकता थी। उनका यह विचार था कि सरकार विनिमय का बैंक न खोलेगी। फिर, वह किसी व्यवसाय को सरकार को देने के विरुद्ध थे। उनका विचार था कि रिजर्व बैंक इस काम को भली-भाँति कर सकता है।

बैंकिंग सम्बन्धी अन्वेषण करने वाली कमेटी का एक सुझाव और था कि इस व्यवसाय के करने के लिये एक ऐसा बैंक होना चाहिये जिसका कि नियन्त्रण भारतीयों के हाथ मे भी हो और उन देशों के लोगों के हाथों मे भी हो जिनसे उनका व्यापार है। वे कहते थे कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार भिन्न-भिन्न देशों के लोगों के बीच मे होता है। अत., इसकी सहायता करने वाले बैंक के लिये यह आवश्यक है कि उसके नियन्त्रण मे सब देशों के लोगों के प्रतिनिधियों का हाथ

हो। ऐसे बैंक की रुपयों की पूँजी भारतीयों की और अन्य करन्सियों की पूँजी विदेशियों की होती और इसका लाभ भी सभी में बँटता।

एक मत यह भी था कि जिन ब्रिटिश बैंकों के हाथ मे भारतवर्ष की विनिमय की बैंकिंग का काम है उन्हे अपनी रजिस्ट्री यहीं करा लेनी चाहिये और अपनी कुछ पूँजी रुपयों में कर लेनी चाहिये। साथ ही उन्हे यहाँ पर अपना एक प्रधान कार्यालय भी रखना चाहिये। इससे ब्रिटिश हिस्सेदारों का यह लाभ होता कि वह यहाँ के व्यवसाय का लाभ उठा सकते अन्यथा उन पर प्रतिबन्ध लग जायँगे और उनका व्यवसाय बन्द हो जायगा। इसमें इस बात की भी आवश्यकता थी कि आधे से अधिक हिस्से भारतीयों के हाथ मे आ जायँ। किन्तु ब्रिटेन के लोगों को यह योजना क्योंकर स्वीकृत हो सकती थी।

प्रश्न

(१) विदेशी बैंकों के हाथ में विनिमय के व्यवसाय का एकाधिपत्य क्यों है ? क्या उनको विनिमय के बैंक कहना न्याय संगत है ?

(२) विदेशी बैंकों का यहाँ के भीतरी व्यवसाय में क्या हाथ है और भारतीय बैंकिंग पर उनका क्या प्रभाव है ?

(३) भारत के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की आर्थिक सहायता कैसे की जाती है ? इस सम्बन्ध मे जो क्रम हो उसका विवरण दीजिये ?

(४) यहाँ के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को आर्थिक सहायता देने का जो व्यवसाय है उसमें क्या दोष है उसे समझाइये ?

(५) जो विदेशी बैंक यहाँ पर काम कर रहे हैं उनके विरुद्ध कौन सी शिकायते हैं ? उनके सुधार के लिये अपने सुझाव रखिये।

(६) विनिमय के बैंकों को लाइसेन्स देने और उन पर अन्य प्रतिबन्ध लगाने के विषय मे आपकी क्या राय है ? इस सम्बन्ध में अपने सुझाव रखिये। आपकी राय मे इन्हे आने को किस प्रकार से सुधारना चाहिये ?

(७) भारतीयों को विनिमय के काम मे कैसे भाग लेना चाहिये ? इस सम्बन्ध में आपको जो कहना हो कहिये। अन्य लोगों की भी इस सम्बन्ध मे जो राय हो वह बतलाइये।

अध्याय १९

रिज़र्व बैंक आफ़ इण्डिया

रिज़र्व बैंक आफ इण्डिया सन् १९३४ के अपने विधान के अनुसार १ अप्रैल सन् १९३५ को स्थापित किया गया था। यह हिस्सेदारों का बैंक है और इसकी पूँजी ५ करोड रु० है जो १०० सौ रुपये के ५ लाख हिस्सों मे बँटी हुई है। इसके सब हिस्से जनता के हाथ मे है केवल २२००० रुपये के हिस्से सरकार के हाथ मे है जिसे वह इसके केन्द्रीय मडल के सन्चालकों को उनकी न्यूनतम हिस्सों की योग्यता की प्राप्ति के लिये देती है। फिर, जब यह लोग सचालक नहीं रह जाते तब ये हिस्से फिर सरकार को दे दिये जाते है। बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली और मद्रास के हिस्सेदारों के पृथक-पृथक रजिस्टर है। प्रत्येक क्षेत्रफल का वर्णन प्रथम तालिका मे दिया हुआ है। निम्नलिखित लोगों को इसके हिस्से नही मिल सकते :—

(१) जो लोग भारत अथवा ब्रह्मा के निवासी नही है अथवा हिज मजेस्टी की भारतीय अथवा ब्रह्मी रिआया नही है अथवा भारत अथवा ब्रह्मा की किसी रियासत की रिआया नही है।

(२) जो लोग संयुक्त राज्य (U. K.) के अथवा हिज मजेस्टी की किसी ऐसी डोमिनियन के अधिवासी नही है जो किसी तरह से भी हिज मजेस्टी की भारतीय और ब्रह्मी रिआया के विरुद्ध कुछ करते हैं और साधारणतया भारतवर्ष अथवा ब्रह्मा मे नही रहते है तथा ब्रिटिश रिआया नही है।

(३) जो कम्पनियाँ सन् १९१३ के भारतीय कम्पनी विधान के अनुसार रजिस्टर्ड नहीं है अथवा जो समितियाँ सन् १९१२ के सहकारी समिति विधान के अनुसार अथवा सहकारी समितियों से सम्बन्धित किसी ऐसे अन्य विधान के अनुसार रजिस्टर्ड नही है जो ब्रिटिश भारत मे लागू है अथवा जो बैंक सदस्य बैंक नही है अथवा जो कारपोरेशन अथवा कम्पनियाँ महासभा (Parliament) के अथवा किसी अन्य ऐसे विधान के अनुसार नहीं बनी है जो हिज मजेस्टी की ऐसी डोमिनियनों में लागू है जिनकी सरकार भारतीयों और ब्रह्मियों के विरोध मे कोई कानून बनाये है अथवा नहीं बनाये

हैं और जिसकी ब्रिटिश भारत में अथवा ब्रह्मा में कोई शाख है अथवा नही है।

(४) जो कम्पनियाँ अथवा सहकारी समितियाँ कम्पनियों से अथवा सहकारी समितियों से सम्बन्धित विधान के अनुसार ब्रह्मा मे रजिस्टर्ड नहीं है अथवा जो ब्रह्म बैंक रिजर्व बैंक के सदस्य बैंक नहीं है।

बैंक की प्रत्येक साधारण बैठक मे अथवा चुनाव मे प्रत्येक हिस्सेदार का पाँच हिस्सों पर एक मत और अधिक से अधिक दस मत होने है। बैंक की पूँजी केन्द्रीय मण्डल की सिफारिश पर सपरिषद् गवर्नर जनरल की और केन्द्रीय व्यवस्थापक सभाओं की स्वीकृति पर घटाई अथवा बढाई जा सकती है। बैंक के हिसाब बन्द होने के छः सप्ताहों के अन्दर बैंक की साधारण वार्षिक बैठक होना आवश्यक है। इसमे वार्षिक हिसाब रक्खा जाता है। सन् १९३९ तक तो इसका हिसाब दिसम्बर के अन्त मे और तब से जून के अन्त मे बनता है। केन्द्रीय सरकार ने ४७ की धारा के अनुसार बैंक के बँटनी की अधिक से अधिक दर ३ प्रतिशत रक्खी है और इसको संस्थापना से अब तक यही दी जा रही है। लाभ का शेषांश सरकार ले लेती है।

व्यवस्था

बैंक के व्यवसाय की व्यवस्था एक केन्द्रीय मण्डल के हाथ मे हैं जिसमे निम्न सञ्चालक है :—

(१) एक शासक (Governor) और दूसरा उसका उपशासक (Deputy Governor) जिनकी नियुक्ति केन्द्रीय मण्डल की सिफारिश पर विचार करने के बाद सपरिषद गवर्नर जनरल करता है।

(२) चार संचालक जिनकी नियुक्ति सपरिषद गवर्नर जनरल करता है।

(३) आठ सञ्चालक जिनका निर्वाचन भिन्न-भिन्न रजिस्टरों मे दर्ज हिस्सेदार करते है—बम्बई, कलकत्ता, और दिल्ली प्रत्येक में से दो-दो और रगून तथा मद्रास प्रत्येक मे से एक-एक।

(४) एक सरकारी अफसर जिसको सपरिषद गवर्नर जनरल मनोनीत करता है।

फिर, प्रत्येक क्षेत्र मे एक स्थानीय मण्डल है जिसका काम केन्द्रीय मण्डल को उन बातों पर सम्मति देना है जो केन्द्रीय मण्डल उनके सामने रखता है। साथ ही केन्द्रीय मण्डल ने जो काम उन्हे करने के लिये दे रक्खे है उन्हे भी वह करते है। इनकी रचना निम्न प्रकार से होती है :—

(१) प्रत्येक रजिस्टर मे दर्ज हिस्सेदारों के द्वारा उन्ही में से पॉच सदस्य चुने जाते है।

(२) केन्द्रीय मण्डल प्रत्येक क्षेत्र में से वहॉ के स्थानीय मण्डल के लिये ऐसे तीन सदस्यों को नामजद करता है जो उन स्थानों और हितों का प्रतिनिधित्व करते हों जिनका प्रतिनिधित्व निर्वाचन से न हो सका हो। इनमे कृषि के और सहकारी बैंको के हित का विशेष-तौर पर ध्यान रक्खा जाता है।

केन्द्रीय मण्डल की बैठके साल मे कम से कम छः बार और प्रत्येक तिमाही मे कम से कम एक बार होनी आवश्यक है।

हिस्सों का बॅटवारा

विभिन्न क्षेत्रों के बीच मे प्रारम्भ मे निम्न भॉति से हिस्से बॉटे गये थे :—

पश्चिमी	(बम्बई रजिस्टर)	१४०,००,००० रु०
पूर्वीय	(कलकत्ता रजिस्टर)	१४५,००,००० रु०
उत्तरीय	(दिल्ली रजिस्टर)	११५,००,००० रु०
दक्षिणीय	(मद्रास रजिस्टर)	७०,००,००० रु०
ब्रह्मा	(रगून रजिस्टर)	३०,००,००० रु०

धनी और महत्वपूर्ण प्रान्तों मे अधिक पूँजी के हिस्से देकर सबों के बीच में एक प्रकार से आर्थिक न्याय करने का प्रयत्न किया गया था। फिर, बम्बई और कलकत्ते के महत्व की एक अन्य प्रकार से भी रक्षा की गई थी जो यह था कि यदि दिल्ली के क्षेत्र में कम हिस्से लिये जायॅ तो उनमे से ३५ लाख के हिस्से वे और ले सकते है। किन्तु इसकी आवश्यकता ही नही पडी। दिल्ली के क्षेत्र के सब हिस्से वहीं बॅट गये।

अधिक से अधिक लोगों को हिस्से देने का प्रयत्न किया गया था।

हाँ, किसी को पाँच हिस्सों से कम हिस्से नहीं दिये गये थे। किन्तु बाद मे यह हिस्से कुछ ही हाथों मे आ गये। अतः, इसको रोकने के लिये सन् १९४० मे यह पास किया गया कि २६ मार्च के बाद किसी भी हिस्सेदार के नाम से २०००० से अधिक के हिस्से रजिस्टर्ड नहीं किये जायेगे। जहाँ तक क्षेत्रों के बीच में वितरण का प्रश्न है बम्बई के क्षेत्र मे हिस्से बढ़ते जा रहे है।

इसके काम

इसके काम दो प्रकार के है—(१) केन्द्रीय और (२) साधारण

[१] केन्द्रीय

[१] भारतवर्ष में नोट निकालने का एकमात्र अधिकार— इस बैंक को भारतवर्ष मे नोट चलाने का एकमात्र अधिकार दिया गया है। कुछ दिनों पहिले यह ब्रह्मा मे भी नोट चलाता था। ब्रह्मा के अलग होने के बाद भी जून सन् १९४२ तक यह ऐसा करता रहा किन्तु इस समय जापानी युद्ध के कारण यह काम स्वय भारत सरकार ने अपने हाथ मे ले लिया। सन् १९४६ से ब्रह्मा की सरकार अपने नोट चलाने लगी है। इधर पाकिस्तान की सरकार ने भी अपने स्वयं के नोट निकालने प्रारम्भ कर दिये है। नोट चलाने के लिये इसका एक अलग विभाग है जिसके सम्पत्ति और पाउने बैंकिंग विभाग से अलग रक्खे जाते है। नोट के विभाग की सम्पत्ति सोने के सिक्कों और सोने मे, स्टर्लिङ्ग सिक्योरिटियों मे, रुपयों मे (जुलाई सन् १९४० से रुपयों के नोट भी सम्मिलित हैं), रुपये की सिक्योरिटियों मे और व्यापारिक बिलों मे रक्खी जाती है। इसका कम से कम ४० प्रतिशत सोने मे और स्टर्लिङ्ग सिक्योरिटियों मे रहना चाहिये और उसमे भी सोना कम से कम ४० करोड़ रुपये का रहना चाहिये। सोना २१ रु० ३ आ० १० पाई प्रति तोला के हिसाब से लगाया जाता है। स्टर्लिङ्ग सिक्योरिटियों मे (अ) इसके बैंक आफ इगलैण्ड के बैलन्स (ब) दो या दो से अधिक हस्ताक्षर वाले ऐसे विनिमय के बिल जो संयुक्तराज्यर मे लिखे और देय हों और जो अधिक से अधिक ९० दिन के अन्दर पकने वाले हों और (स) संयुक्तराज्य की पाँच वर्षों के अन्दर पकने वाली सिक्योरिटियाँ हो सकती है। सपरिषद गवर्नर जनरल की

स्वीकृति से ये पहि ले तो तीस दिन के लिये कम की जा सकती है और फिर इसी तरह से पन्द्रह-पन्द्रह दिन के लिये और भी कम की जा सकती है। किन्तु जो कुछ कमी हो उसके लिये बैंक को ढाई प्रतिशत तक की कमी के लिये सपरिषद् गवर्नर जनरल को बैंक दर से एक प्रतिशत ऊपर का कर देना पड़ता है और फिर प्रत्येक ढाई प्रतिशत कमी के लिये बैंक दर से डेढ़-डेढ़ रुपये प्रतिशत ऊपर का कर देना पड़ता है। किन्तु यह किसी स्थिति में भी छः प्रतिशत से कम नहीं हो सकता। शेष सम्पत्ति रुपयों में, भारत सरकार की रुपयों की सिक्योरिटियों में और देशी बिलों और ऋण-पत्रों में रहती है।

बैंक अभी तक चालीस प्रतिशत से अधिक सोने और स्टर्लिङ्ग सिक्योरिटियों में रखता है।

सदस्य बैंकों की नक़दी रखने का अधिकार—जैसा कि पहिले भी कहा जा चुका है कि प्रत्येक सदस्य बैंकों को इसके पास अपनी चालू जमा का कम से कम पाँच प्रतिशत और स्थायी जमा का दो प्रतिशत रखना पड़ता है। इसका उद्देश्य यह है कि यह आवश्यकता पड़ने पर उसे सदस्य बैंकों की सहायता के लिये काम में ला सके। इससे यह खुले बाज़ार की नीति अपना कर अर्थात् सरकारी सिक्योरिटियों और बिलों को सीधे ही खरीद और बेच कर सदस्य बैंकों की जमा को घटा-बढ़ा कर उनकी साख देने की नीति को भी प्रभावित कर सकता है। ऐसा बैंक दर नीति के द्वारा भी किया जा सकता है। किन्तु बैंक ने आज तक ऐसा नहीं किया है। २८ नवम्बर सन् १९३५ से बैंक दर ३ प्रतिशत चला आ रहा है। व्यापारिक बैंकों को उधार देने की जो इसकी नीति है उसका संकेत तो पहिले ही किया जा चुका है। अन्तिम यह कि यह कृषि सम्बन्धी साख भी उन्हीं शर्तों पर दे सकता है जिनका वर्णन कृषि सम्बन्धी साख के अध्याय में किया जा चुका है।

(३) रुपये का अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य स्थिर रखने के उद्देश्य से एक निश्चित दर पर स्टर्लिङ्ग का क्रय-विक्रय करने का दायित्व—प्रथम तो जो कोई इससे लन्दन की सुपुर्दगी के लिये तैयार स्टर्लिङ्ग माँगे और उसका क्रय मूल्य कानूनन ग्राह्य करन्सी में दे तो

उसे इसे प्रति रुपया कम-से-कम एक सिलिंग ५ ४९/६४ पे० देना अनिवार्य है दूसरे इसे प्रति रुपये अधिक-से-अधिक १ शि० ६ ३/१६ पें० के हिसाब से स्टर्लिङ्ग खरीदना भी पड़ता है। हाँ, प्रत्येक हालत मे कम-से-कम दस हजार पौं० का काम होना चाहिये। इधर इस पर सरकार की निश्चित शर्तों पर किसी भी करन्सी के क्रय-विक्रय का दायित्व रख दिया गया है। इसे सरकार की विनिमय की आवश्यकताओं को भी पूरा करना पड़ता है। अतः, इसके लिये पहिले तो यह प्रति सप्ताह स्टर्लिङ्ग के क्रय के लिये टेन्डर मँगाता था। किन्तु युद्धकाल से यह सीधे ही स्टर्लिङ्ग खरीदने लगा है।

(४) भारतवर्ष में सरकार का काम करने और उसके बैलन्स को बिना ब्याज के रखने का अधिकार—इसके लिये अप्रैल ५ सन् १९३५ को इसके और केन्द्रीय सरकार के बीच मे एक समझौता हुआ था। यह सरकार के हिसाब में रुपया प्राप्त करता है और जो उसका बैलन्स होता है उसमे से उसके हिसाब मे भुगतान देता है और उसके विनिमय के भेजने के और बैंकिंग के दूसरे काम कुछ चार्ज लिये बिना ही करता है। जिन स्थानों पर उसकी शाख अथवा आढ़त नही है उनमे सरकार के लगभग १३०० खजानों और उपखजानों के द्वारा यही काम होता है। यह सरकारी ऋण की भी व्यवस्था करता है और नये ऋण निकालता है। इसके लिये इसे प्रति करोड़ सरकारी ऋण पर २०० रुपया वार्षिक छमाही कमीशन मिलता है। अपने दफ्तरों, शाखाओं, आढ़तों, खजानों तथा उपखजानों में यह नोट विभाग का करन्सी चेस्ट रखता है। इनमे यह सरकार के काम के लिये और जनता का रुपया इधर-से-उधर भेजने के लिये काफी नोट और रुपया रखता है।

सरकारी ऋण दीर्घकालीन अथवा अल्पकालीन दोनों हो सकते है। रिजर्व बैंक करन्सी और फाइनेन्स की अपनी वार्षिक रिपोर्ट में इसका विस्तृत विवरण देता है। दीर्घकालीन ऋण जिन कागजों के रूप मे निकाले जाते है वे अनेकों प्रकार के होते है और उन सबको सरकारी सिक्योरिटियाँ कहते है।

अल्पकालीन ऋण ट्रेजरी बिलों के रूप मे निकाले जाते हैं और ये प्रायः तीन महीने की अवधि के होते है। दिल्ली को छोड़कर रिजर्व

बैंक के अन्य सभी दफ्तरों मे और बैंकिंग विभाग की शाखाओं में इनके क्रय की व्यवस्था टेण्डर पर अथवा बीच वाली दर पर की जाती है। टेण्डर माँगने का जब निश्चय हो जाता है तब टेण्डर माँगने की तारीख, टेण्डर के धन, उनकी अवधि और उनकी स्वीकृति हो जाने पर उनका रुपया जिस तारीख को देना पड़ेगा वह तारीख, इत्यादि यह सब एक विज्ञप्ति के द्वारा निकाल दिये जाते हैं और मुख्य-मुख्य बैंकों को, दलालों को तथा कोठियों को भेज दिये जाते हैं। टेण्डर में बिल की शर्तें, टेण्डर देने वाला जितने के बिल लेना चाहता है, प्रति बिल वह जितना रुपया, आना और पैसा प्रत्येक १०० रु० के लिये देना चाहता है, दिये रहते हैं। ट्रेजरी बिल केवल २५०००; ५००००; १ लाख, ५ लाख, १० लाख और ५० लाख रुपयों के होते हैं। जब बीच की दर पर ट्रेजरी बिल बेचने का निश्चय होता है तब प्राय: टेण्डर की स्वीकृति की विज्ञप्ति के साथ यह विज्ञप्ति भी दे दी जाती है।

यदि और थोड़े समय के लिये रुपयों की आवश्यकता होती है तो वह रिजर्व बैंक से वेज ऐन्ड मीन्स के रूप में (Wages & Means Advances) ले लिये जाते हैं।

१ अप्रैल, सन १९३७ को प्रान्तीय स्वराज्य के प्रादुर्भाव के साथ-साथ ही रिजर्व बैंक का भिन्न-भिन्न प्रान्तीय सरकारों के साथ एक समझौता हुआ था। उसी वर्ष भारतवर्ष और ब्रह्मा की सरकार के बीच में भी एक समझौता हुआ था। कुछ बातों को छोड़कर जैसे अन्तर्प्रान्तीय भुगतान के सम्बन्ध मे रुपया भेजने के और वेज ऐन्ड मीन्स के रूप में ऋण देने के सम्बन्ध में शेष सभी बातों मे यह समझौते वैसे ही थे जैसा केन्द्रीय सरकार के बीच का समझौता था। स्वतन्त्र प्रान्तों को जो अधिकार प्राप्त हैं उनके अनुसार उन्हे उसी प्रकार दीर्घकालीन तथा अल्पकालीन ऋण लेने का भी अधिकार है जिस प्रकार केन्द्रीय सरकार को है। हाँ, प्रान्तीय सरकारों को बैंक के पास एक कम-से-कम बैलन्स भी रखना पड़ता है जो उनके और बैंक के बीच मे समय-समय पर निश्चित होता रहता है। इसमे यदि कोई कमी हो जाती है तो वह वेज एन्ड मीन्स से पूरी की जाती है। एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में जब रुपया भेजा जाता है तब बैंक उसी दर से कमीशन लेता है जिस दर से वह कमीशन सहकारी समितियाँ और

बैंकों से लेता है। उसी प्रान्त के अन्दर रुपया भेजने के लिये कोई कमीशन नहीं लिया जाता।

यह बैंक भिन्न-भिन्न सरकारों को आर्थिक समस्याओं पर अपनी सम्मति भी देता है।

(५) कुछ साधारण कामों को करने का दायित्व—उपर्युक्त काम केन्द्रीय बैंकिंग के मुख्य काम है। इनके अतिरिक्त कुछ साधारण काम भी है जिन्हें यह बैंक करता है। इसमें निम्न काम हैं :—(१) भिन्न-भिन्न प्रकार की करन्सी देना, (२) रुपया भेजने की सुविधा देना, (३) निकासगृह की व्यवस्था करना, (४) आर्थिक मामलों में मन्त्रणा देना, (५) बैंकिंग के अङ्क एकत्रित करके उनको जनता के सम्मुख रखना, इत्यादि।

यदि हम पहिले (१) को अर्थात् भिन्न-भिन्न प्रकार की करन्सी देने को लें तो बैंक को नोट के लिये रुपये और रुपयों के लिये नोट देना आवश्यक है। जुलाई, सन् १९४० से रुपयों मे भारत सरकार के एक एक रुपये के नोट भी सम्मिलित हैं। इसे रेज़गारी भा निकालनी और वापिस लेनी पड़ती है। चूँकि रुपया, रुपये के नोट और रेज़गारी बनाने का अधिकार केवल सरकार को ही है, अतः, ऐसा नियम है कि सरकार बैंक की आवश्यकता के अनुसार नोटों के विनिमय में इन्हें दे और यदि यह उसके पास अधिक हों तो उससे वापिस ले ले।

अब यदि हम (२) अर्थात् रुपया भेजने की सुविधा को लें तो जैसा कि पहिले भी कहा जा चुका है इसके लिये यह अपने नोट चलाने के विभाग के दफ्तरों मे, शाखाओं मे, आढतों मे, खजानों मे तथा उपखजानों में करन्सी के बक्स रखता है और इसमें काफ़ी नोट और सिक्के रखता है जिससे सरकारी लेन देन हो सके और रुपया इधर से उधर भेजा जा सके। पहिली अक्टूबर सन् १९४० से इसने जनता का, सहकारी बैंकों का और समितियों का, सदस्य बैंकों का, कुछ ग़ैरसदस्य बैंकों का तथा देशी महाजनों का रुपया रियायती कमीशन लेकर इधर से उधर भेजने की एक योजना निकाली है। सहकारी बैंकों के लिये सदस्य बैंकों और ग़ैरसदस्य बैंकों के लिये कमीशन के जो दर है उन्हे तो हम पीछे देख ही चुके है। देशी महाजनों के लिये भी वही दर हैं जो ग़ैरसदस्य बैंकों के लिये हैं।

जनता के लिये निम्न दर हैं :—

५००० रु० तक		५००० रु० के ऊपर	
प्रतिशत दर	न्यूनतम चार्ज	प्रतिशत दर	न्यूनतम चार्ज
२ आ०	४ आ०	१ आ०	रु० ६—४—०
ड्राफ्ट, इत्यादि के लिये			
	रु० १—०—०		
टी० टी० के लिये			
(तार खर्च अलग)			

जहाँ तक (३) अर्थात् निकासगृह की व्यवस्था का प्रश्न है, उसे इसने कलकत्ते और कानपुर को छोड़कर उन सभी स्थानों में ले लिया है जहाँ इसके दफ्तर और शाखायें है। कलकत्ते मे इसकी व्यवस्था क्लिअरिङ्ग बैंकर्स असोसियेशन की साधारण कमेटी के द्वारा नियुक्त एक निरीक्षक के हाथ मे है और कानपुर मे यह इम्पीरियल बैंक के हाथ मे है। अन्य स्थानों मे भी जहाँ रिजर्व बैंक के दफ्तर अथवा शाखायें नहीं हैं उन स्थानों में भी यह काम इम्पीरियल बैंक ही के हाथ मे है। यद्यपि रिज़र्व बैंक को निकासगृहों के सम्बन्ध मे नियम बनाने के अधिकार प्राप्त है तो भी उसने उसकी आवश्यकता नहीं समझी है और सब निकासगृह अपने-अपने नियमों के अनुसार स्वतन्त्रतापूर्वक काम कर रहे है।

इसके बाद (४) अर्थात् आर्थिक मामलों पर मन्त्रणा देने का काम है। जैसा कि भिन्न-भिन्न स्थानों पर बताया जा चुका है, रिज़र्व बैंक भिन्न-भिन्न सरकारों को, सदस्य बैंकों और ग़ैरसदस्य बैंकों को, सरकारी समितियों और बैंकों को और भूमि-बन्धक संस्थाओं को आर्थिक मामलों पर मन्त्रणा देता है। संक्षेप में यह सबों को मन्त्रणा देने के लिये तैयार है।

अन्त मे (५) अर्थात् बैंकिंग सम्बन्धी अङ्क एकत्रित करने और उसे जनता के सम्मुख रखने का काम है। प्रथम तो यह अपने नोट विभाग और बैंकिंग विभाग का साप्ताहिक हिसाब केन्द्रीय सरकार के पास भेजता है और उनको पत्रों मे निकालता है। दूसरे, यह सदस्य बैंकों से प्राप्त सूचना को भी एक मे करके उनकी एक साप्ताहिक रिपोर्ट निकालता है। फिर, इसने अब करन्सी और अर्थ सम्बन्धी वार्षिक

रिपोर्ट तथा यहाँ के बैंकों की अङ्क सम्बन्धी तालिका निकालने का काम भी अपने हाथ मे ले लिया है। अन्तिम यह है कि यह अङ्कों का एक मासिक विवरण (Monthly statistical summary) और अपनी वार्षिक रिपोर्ट (Annual Report) भी निकालता है।

(२) साधारण बैंकिंग के काम

(१) बिना व्याज के जमा प्राप्त करना और उसे वसूल करना।

(२) भारतवर्ष मे ही लिखे हुये और देय **विनिमय के बिलों और प्रणपत्रों का क्रय, विक्रय तथा फिर से डिस्काउण्ट करना** :—ये (१) व्यापारिक लेन-देनों से (२) खेती के कामों से अथवा कृषि के विक्रय से और (३) भारत सरकार की अथवा किसी स्थानीय सरकार की अथवा किसी ऐसी रियासत की सिक्योरिटियों को जिन्हे सपरिषद् गवर्नर जनरल ने केन्द्रीय मण्डल की सिफारिश से स्वीकार किया है रखने से अथवा उनमें लेन-देन करने से उत्पन्न होते है। इनमे से प्रथम का क्रय, विक्रय और फिर से डिस्काउण्ट तो तभी किया जा सकता है जब उन पर दो या दो से अधिक ऐसे हस्ताक्षर हों जिनमे से एक किसी सदस्य बैंक का है; दूसरे का तब किया जा सकता है जब एक हस्ताक्षर किसी सदस्य बैंक का अथवा किसी प्रान्तीय सहकारी बैंक का है और तीसरे का तब किया जा सकता है जब केवल किसी सदस्य बैंक का ही हस्ताक्षर है। इनमे पकने की अवधि रियायती दिन छोड़ कर ९० दिन से अधिक की नहीं होनी चाहिये।

(३) (अ) सदस्य बैंकों से कम से कम एक लाख की बराबरी के स्टर्लिङ्ग खरीदना और बेचना। अब कोई भी करन्सी खरीदना और बेचना।

(ब) संयुक्तराज्य मे लिखे हुये अथवा उसके ऊपर किये हुये उन बिलों का क्रय-विक्रय और फिर से डिस्काउण्ट करना जो क्रय की तारीख से ९० दिनों के अन्दर पकने वाले हों। हाँ, यदि इनका क्रय-विक्रय और फिर से डिस्काउण्ट भारतवर्ष में किया जाता है तो वह सदस्य बैंक से होना चाहिये।

(स) सयुक्तराज्य के बैंकों के पास बैलन्स रखना।

(४) भारतवर्ष मे देशी राज्यों को, स्थानीय अधिकारियों को, सदस्य बैंकों को और प्रान्तीय सहकारी बैंकों की माँग पर देय अथवा अधिक से अधिक नव्वे दिन की अवधि पर देय ऋण देना। ये स्टाकों की, कोष (Funds) की और धरोहर की सिक्योरिटियों की जमानत पर (अचल सम्पत्ति की जमानत पर नहीं), सोने अथवा चाँदी पर अथवा उनके अधिकार-पत्रों पर, उसके द्वारा लिये जाने योग्य बिलों पर और किसी सदस्य बैंक के अथवा प्रान्तीय सहकारी बैंक के उन प्रण-पत्रों पर जो माल के ऐसे अधिकार-पत्रों के आधार स्वरूप हैं और जो नकद साख लेने के लिये अथवा वास्तविक व्यापार के लेन-देनों के सम्बन्ध मे जमा से अधिक रकम निकालने के लिये अथवा कृषि सम्बन्धी कामों अथवा कृषि की चीजों के विक्रय के लिये या तो उसको हस्तान्तरित कर दिये गये हैं अथवा उसके नाम कर दिये गये है अथवा उसके पास गिरवी रख दिये गये है उनकी जमानत पर ही दिये जा सकते है।

(५) सपरिषद गवर्नर जनरल को अथवा किसी ऐसी सरकार को ऋण देना जिनकी स्वय की प्रान्तीय आय है। किन्तु यह ऋण देने की तारीख से तीन महीनों के अन्दर वापिस हो जाना चाहिये।

(६) अपने दफ्तरों पर देय दर्शनी ड्राफ्ट देना, अथवा बैंक पोस्ट बिलों को निकालना।

(७) संयुक्त राज्य को ऐसी सरकारी सिक्योरिटियों का क्रय और विक्रय करना जो क्रय की तारीख से दस वर्षों के अन्दर पकने वाली हों।

(८) भारत सरकार की अथवा किसी स्थानीय सरकार की किसी भी अवधि की सिक्योरिटियों को अथवा ब्रिटिश भारत के किसी ऐसे अधिकारी अथवा भारतवर्ष की किसी ऐसी देशी रियासत की सिक्योरिटियों को खरीदना और वेचना जिन्हे केन्द्रीय मण्डल की सिफारिश पर सपरिषद गवर्नर जनरल ने इस योग्य स्वीकार कर लिया है। यदि उपर्युक्त अधिकारी किसी सिक्योरिटी के मूलधन और व्याज के भुगतान का दायित्व ले लेते है तो यह उन्हे भी खरीद और वेच सकता है। इन सब सिक्योरिटियों का सम्मिलित मूल्य किसी एक समय पर बैंक के हिस्सों की पूँजी, सुरक्षित कोष और उसके बैंकिंग विभाग के जमा

के दायित्व के ३/४ से अधिक नहीं हो सकता। जो सिक्योरिटियाँ एक वर्ष के बाद पकने वाली है वह पूँजी तथा सुरक्षित कोष और बैंकिंग विभाग के जमा के दायित्व से २/३ से अधिक और जो सिक्योरिटियाँ दस वर्ष के बाद पकने वाली है वह पूँजी तथा सुरक्षित कोप और बैंकिग विभाग के जमा के दायित्व से १/२ से अधिक की नहीं हो सकती है।

(९) द्रव्य को, सिक्योरिटियों को, तथा अन्य बहुमूल्य वस्तुओं को रखना तथा उनके मूल्य को व्याज, इत्यादि के सहित वसूल करना।

(१०) यदि बैंक के हाथ मे कोई चल अथवा अचल सम्पत्ति उसके पाउने के सम्बन्ध मे आ जाय तो उसे बेचना और उसका मूल्य वसूल करना।

(११) सपरिषद भारत सचिव, सपरिषद गवर्नर जनरल, अथवा किसी स्थानीय सरकार अथवा अधिकारी अथवा भारतवर्ष की देशी रियासत की तरफ से सोने अथवा चाँदी को खरीदने और बेचने के लिये, बिलों को, सिक्योरिटियों को अथवा किसी कम्पनी के हिस्सों को खरीदने, बेचने हस्तान्तरित करने अथवा सुरक्षित रखने के लिये, किसी सिक्योरिटियों के मूलधन, व्याज अथवा लाभ की बँटनी को वसूल करने के लिये, और वसूल की हुई रकम को उसके मालिक की आज्ञानुसार भारत मे अथवा कही भी बिलों से भेजने के लिये तथा सरकारी ऋण की व्यवस्था करने के लिये अढतिये के तौर पर काम करना।

(१२) सोने के सिक्के और सोने को खरीदना और बेचना।

(१३) किसी अन्य देश के केन्द्रीय बैंकों के यहाँ अथवा सब केन्द्रीय बैंकों के द्वारा सृजित किसी अन्तर्राष्टीय बैक के यहाँ एकाउण्ट खोलना, उनसे आढ़त के सम्बन्ध स्थापित करना, उनके अढ़तिया का काम करना और अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के हिस्से खरीदना।

(१४) एक महीने के अन्दर के लिये ऋण लेना और उसके लिये जमानत देना। यह ऋण भारतवर्ष मे केवल किसी सदस्य बैंक से अपनी पूँजी की रकम तक का और बाहर किसी केन्द्रीय बैंक से किसी भी रकम तक का लिया जा सकता है।

(१५) जैसा पहिले ही कहा जा चुका है उसी के अनुसार बैंक नोट बनाना और चलाना।

(१६) कोई ऐसे काम करना जो कि इसके उपर्युक्त कामों के सम्बन्ध मे होने चाहिये।

उपर्युक्त से यह स्पष्ट है कि यह बैंक जनता से इस तरह से काम नही कर सकता कि जिससे उसकी और किसी सदस्य बैंक की प्रतियोगिता हो सके। हाँ, वह ऐसा तभी कर सकता है जब उसके केन्द्रीय मण्डल की अथवा किसी ऐसे अधिकारी की सम्मति मे जिसे केन्द्रीय मण्डल ने अपनी शक्ति दे दी है देश के व्यापार, व्यवसाय, उद्योग-धन्धों और कृपि के हित मे साख का नियन्त्रण करने के लिये ऐसा करना आवश्यक है। इसे कुछ काम करने की मनाही भी कर दी गई है।

यह बैंक जो काम नहीं कर सकता

(१) यह बैंक व्यापार नही कर सकता और न किसी व्यवसायिक, औद्योगिक तथा किसी अन्य प्रकार की संस्था मे कोई सीधा हित ही उत्पन्न कर सकता है। यदि किसी ऋण की वसूली मे यह उसके पास आ जाय तो इसे उन्हे शीघ्र ही बेच देना चाहिये।

(२) यह अपने हिस्से अथवा किसी दूसरे बैंक के अथवा किसी कम्पनी के हिस्से न तो खरीद सकता है और उनकी जमानत पर ऋण ही दे सकता है।

(३) यह अचल सम्पत्ति के और उसके अधिकार-पत्रों के रेहन पर अथवा उनकी किसी अन्य प्रकार की जमानत पर न तो ऋण ही दे सकता है और केवल अपने काम के लिये छोड़कर न किसी अचल सम्पत्ति को खरीद ही सकता है।

(४) मॉग पर वापिस होने की शर्त के अतिरिक्त यह न तो ऋण दे सकता है, न बिल कर सकता है अथवा स्वीकार कर सकता है और न चालू खातों पर ब्याज ही दे सकता है।

बैंक का संगठन

जैसा कि प्रारम्भ मे ही कहा जा चुका है यह बैंक १ अप्रैल, सन् १९३५ को संस्थापित हुआ था। हाँ, इसके विधान को तो गवर्नर जनरल की स्वीकृति ६ मार्च, सन् १९३४ ही को प्राप्त हो चुकी थी, किंतु सस्थापना के पहिले बहुत कुछ काम करना था, इसी से इतनी देर लगी। १० दिसम्बर सन् १९३४ को सपरिषद गवर्नर जनरल ने इसके

प्रथम शासक और उपशासक नियुक्त किये और तीन दिन बाद संचालकों का केन्द्रीय मण्डल बना। कहना न होगा कि यह प्रथम केन्द्रीय मडल भी सपरिषद गवर्नर जनरल ने ही बनाया था। फिर, इसके हिस्से निकाले गये और इसके साथ ही अन्य प्रारम्भिक कार्य किये गये। इसमे इसके दफ्तर और शाखाओं के लिये उपयुक्त इमारतों की व्यवस्था की गई और सरकार के केन्द्रीय विभाग से तथा इम्पीरियल बैंक से इसके लिये कुछ कर्मचारी लिये गये। फिर, इसके और सरकार के और इम्पीरियल बैंक के बीच में वह समझौते हुये जिनके विषय में पहिले ही बताया जा चुका है और कार्य करने के लिये नियम बनाये गये। इनमें बैंक के साधारण नियम थे, चुनाव के नियम थे, हिस्सेदारों की बैठकों के लिये नियम थे, सदस्य बैंकों के लिये, नोटों की वापिसी के लिये, खर्च के लिये और कर्मचारियों के लिये नियम थे। जिस दिन यह संस्थापित हुआ उसी दिन से इसने नोटों का, सुरक्षित कोष रखने का, स्टर्लिङ्ग क्रय का, और सिक्योरिटियों की व्यवस्था का काम करन्सी कन्ट्रोलर से ले लिया और सरकार के भिन्न हिसाब रखने का, सरकारी ऋण का और निकासग्रह का काम इम्पीरियल बैंक से ले लिया। ४ जुलाई, सन् १९३५ को बैंक की पहिली दर घोषित की गई और दूसरे दिन सदस्य बैंकों ने अपना जमा का आवश्यक अङ्ग इसके पास भेजा। हाँ, बैंक के अपने नोट पहिले-पहिल सन् १९३८ ही मे निकल सके।

बैंक का मुख्य दफ्तर जिसे केन्द्रीय दफ्तर भी कहा जाता है अब स्थायी रूप से बम्बई मे ही है। हाँ, मंत्री का विभाग शासक के साथ-साथ कलकत्ते और बम्बई दोनों मे अदलता-बदलता रहता है। इस विभाग का संबंध मण्डल की और कमेटी की साधारण वार्षिक बैठकों से रहता है। यह केन्द्रीय सरकार से करन्सी और विनिमय के, भिन्न-भिन्न सरकारों के ऋण और ट्रेजरी बिलों के निकालने के और उनकी व्यवस्था के और वेज और मीन्स के ऋण के सम्बन्ध के प्रश्नों पर लिखा पढी करता है। इसके अन्य विभाग मुख्य अकाउण्टेण्ट का विभाग, कृषि सम्बन्धी साख का विभाग और विनिमय के नियन्त्रण के विभाग है और इनमे से प्रत्येक के उपविभाग हैं। कृषि सम्बन्धी साख के उपविभागों का और कृषि सम्बन्धी साख उपविभाग के कामों का वर्णन तो पहिले ही किया जा चुका है। बैंकिग विभाग सदस्य तथा

ग़ैरसदस्य बैंकों की समस्त समस्याओं की व्यवस्था करता है, बैंकों और सरकार को आर्थिक समस्याओं पर सम्मति देता है और आवश्यकता पड़ने पर इनके सम्बन्ध की रिपोर्टें तैयार करता है। अङ्क और आविष्कार विभाग भिन्न-भिन्न अङ्क एकत्रित करके छपाता है। यह भिन्न-भिन्न समस्यायों पर आविष्कार भी करता है। अब, केवल मुख्य अकाउण्टेण्ट का उपविभाग और विनिमय नियन्त्रण विभाग रह गये।

मुख्य अकाउण्टेण्ट का उपविभाग नोट के विभाग का हिसाब रखता है और उसका निरीक्षण करता है। यह बैंक के व्यय की व्यवस्था भी करता है, नोटों की वापिसी की अपीलें सुनता है, रुपया इधर-से-उधर भेजता है और बैंक की अन्य सब प्रकार की व्यवस्था करता है। विनिमय नियन्त्रण विभाग युद्धकाल में बना था और भारत रक्षा विधान के अनुसार बैंक को जो मुद्राओं, सोना, चाँदी, सिक्योरिटियों और विदेशी विनिमय का नियन्त्रण करने का काम दिया गया था उसे करता है। इधर इसके लिये एक पृथक नियम बन गया है।

बैंक के दूसरे दफ्तर और शाख या तो बैंकिंग विभाग के दफ्तर अथवा शाख है या नोट विभाग के शाख है। बैंकिंग विभाग के वर्तमान दफ्तर बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली, मद्रास, और रंगून में है तथा शाख कानपुर, कराँची और लाहौर में है। इसी तरह से नोट विभाग की शाख बम्बई, कलकत्ता, कानपुर, कराँची,[1] लाहौर,[2] मद्रास, और रंगून[3] मे हैं। अप्रैल सन् १९३६ से इसका एक दफ्तर लन्दन में भी है जो भारत सरकार के रुपये के उस ऋण की व्यवस्था करता है जो लन्दन मे है और यहाँ के वहाँ के हाई कमिश्नर का हिसाब रखता है। इम्पीरियल बैंक उन सब स्थानों मे जहाँ उसके दफ्तर तो हैं, किन्तु रिजर्व बैंक के दफ्तर नहीं हैं रिजर्व बैंक का अढ़तिया है। जैसा कि पहिले भी कहा जा चुका है सन् १९४७ मे इम्पीरियल बैंक के ४४४ दफ्तर थे। इसके अतिरिक्त लगभग १३०० सरकारी खजानें तथा उपखजाने थे जहाँ इसके करन्सी चेस्ट थे।

[1-2] कराँची और लाहौर मे १ जुलाई से पाकिस्तान रिजर्व बैंक खुल गया है।

[3] इधर यह रगून में नोट नहीं निकालता है।

बैंक की सफलतायें

यह बैंक बड़ी-बड़ी आशाओं को लेकर स्थापित किया गया था। अतः हमें यहाँ पर इस बात को भी देख लेना चाहिये कि वह सब आशायें पूरी हुई अथवा नहीं। प्रथम तो इसे नोट निकालने का एकाधिकार केवल इसीलिये दिया गया था कि जिससे इसका देश की नकदी और साख पर पूरा नियन्त्रण हो। हमें यह तो ज्ञात ही है कि इम्पीरियल बैंक इसमे इसी कारणवश सफल नहीं हो सका था कि उसे यह एकाधिकार नहीं दिया गया था। किसी देश में उसकी द्रव्य प्रणाली का नियन्त्रण तभी हो सकता है जब उसकी क्रय शक्ति पर भी नियन्त्रण हो। अब, क्योंकि कुछ देशों में तो यह क्रय शक्ति केवल नोटों अथवा नोट और सिक्कों की ही होती है। अतः, नियन्त्रणकर्ता का इनके निकालने पर भी पूरा अधिकार होना चाहिये। बस, भारतवर्ष इसी तरह का देश है। हाँ, जहाँ तक नोटों और सिक्कों के तुलनात्मक महत्व का प्रश्न है वह यह है कि इधर कुछ दिनों से नोटों का चलन तो बढ रहा है और सिक्कों का घट रहा है। अतः, यह कहा जा सकता है कि आजकल यहाँ पर नोटों का चलन सिक्कों के चलन की अपेक्षाकृत बहुत अधिक है। अतः, नियन्त्रणकर्ता का नोटों पर अवश्य नियन्त्रण होना चाहिये। जहाँ तक जमा की करन्सी (Cheques) के नियन्त्रण का प्रश्न है वहाँ तक इसकी भी व्यवस्था की जा रही है। किन्तु इतना सब होते हुये भी यह कहा जा सकता है कि बैंक ने इस सम्बन्ध मे जिस नीति का अनुसरण किया है वह देश के बहुत हित मे नहीं रही है। इसके स्वयं के लिये यह बहुत भाग्य की ही बात समझनी चाहिये कि यह ऐसे समय मे स्थापित किया गया था जब मन्दी का समय बीत चुका था। यदि सन् १९२७ का बिल पास हो जाता तो सन् १९२८ मे बैंक स्थापित हो जाता और शायद इसने भी सरकार की ही तरह मुक्त द्वार नीति का पालन करते हुये उस समय के संकट को असहाय की दृष्टि से देखा होता और उसकी बुराई अपने ऊपर ली होती। किन्तु सन् १९३५ मे भी यहाँ की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी और सन् १९३६-३७ मे इस सम्बन्ध मे काफी वाद-विवाद था जिसमे अधिकांश सम्मति रुपये के मूल्य को घटाने (Devaluation) के पक्ष मे थी।

सन् १९३८ मे भी स्थिति बहुत अच्छी नही थी और विनिमय की बहुत माँग थी जिससे हमारा स्टर्लिङ्ग कोष कम होता गया। किन्तु रिजर्व बैंक ने उस ओर तनिक भी ध्यान नही दिया। द्रव्य की स्थिरता के सम्बन्ध मे युद्धकाल में जो स्थिति रही है उसके विषय मे भी कुछ कहना व्यर्थ ही है। करन्सी के पृष्ठ पर गिरे हुये मूल्य का स्टर्लिङ्ग रखकर इसने जो ब्रिटेन के युद्ध व्यय का बोझ भारतवर्ष के ऊपर डाल कर मुद्रा-प्रसार किया था वह तो किसी से छिपा ही नहीं है। वास्तव मे इसने अपने करन्सी के कोष के ऐसे रूप को एकत्रित होने दिया जिसकी अन्तर्राष्ट्रीय क्रय शक्ति समाप्त हो चुकी थी। इसके विपरीत केन्द्रीय बैंकिंग का तो यह सिद्धान्त है कि उसे अपना सम्पूर्ण कोष द्रवित स्थिति में ही रखना चाहिये। फिर, जहाँ तक विधान ने ही नोटों के सम्बन्ध के कोष के विषय मे नियम बना रक्खे है उसमे रुपये के विनिमय का मूल्य स्थिर रखने का अधिक ध्यान दिया गया है। नोटों के भुगतान का उतना विचार नही रक्खा गया है। शायद ऐसा मान लिया गया है कि यहाँ की जनता का उन पर पूरा विश्वास है। किन्तु यह सत्य नहीं है। वास्तव मे बात तो यह है कि उसका उन पर विश्वास न होने के कारण ही यहाँ पर लोगों मे सोने, चाँदी को रखने का अधिक चाव है। इससे यहाँ की बैंकिंग प्रणाली की यथेष्ट उन्नति नहीं हो पाई है। फिर, नोटों के और बैंकिंग के विभागों के अलग-अलग होने से भी कोई विशेष लाभ नही हुआ है। यह तो केवल अंग्रेज़ी प्रणाली की ही नकल है जिसे सन् १८४४ से जब यह वहाँ पर अपनाई गई थी इधर ब्रिटिश साम्राज्य के बाहर किसी देश ने भी अपनाने की कोई आवश्यकता नही समझी है। वास्तव मे अब करन्सी सिद्धान्त और बैंकिंग सिद्धान्त की कोई लड़ाई है ही नहीं।

जहाँ तक जमा की करन्सी के नियन्त्रण का प्रश्न है यह कहा जा सकता है कि इस सम्बन्ध की केन्द्रीय बैंक की शक्ति एक तो इस बात पर निर्भर है कि बैंक अपनी नीति से इस पर कितना प्रभाव डाल सकते है और दूसरे उन पर केन्द्रीय बैंक का कितना प्रभाव पड़ता है। अब, यह तो हमे ज्ञात ही है कि हमारे यहाँ बैंकों का जमा की करन्सी निर्धारित करने मे तनिक भी प्रभाव नही है वास्तव मे यह साख की उत्पत्ति पर निर्भर रहता है। यहाँ पर बाजार प्रायः बैंकों से ऋण नही लेता। अतः, साख की उत्पत्ति का प्रश्न ही नही उठता और फिर

जमा की करन्सी के निर्धारित होने का प्रश्न भी नहीं उठता। जहाँ तक रिजर्व बैंक और सदस्य बैंकों के सम्बन्ध का प्रश्न है उस पर इस समय कुछ भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि रिजर्व बैंक के उत्पत्ति के समय से ही यहाँ के द्रव्य के बाजार की स्थिति अच्छी रही है और द्रव्य काफी रहा है। परीक्षा का समय तो भविष्य में आने वाला है और जब वह आवेगा तो क्या होगा यह देखना है। हाँ, बैंक के पास इसके लिये उपयुक्त हथियार है जैसे बैंक दर नीति और बाजार में सीधे काम करना, इत्यादि।

इसे प्रत्येक बैंक के ऊपर अच्छी नीति को काम में लाने का दबाव डालना चाहिये और यह इसने अपने सात दिसम्बर १९३८ के उस स्मरण पत्र के द्वारा किया है जो सदस्य बैंकों को डिस्काउण्ट और ऋण देने के सम्बन्ध में निकाला गया था और जिसमे यह कहा गया था कि जब बैंक उन्हें ऋण देगा तो केवल इसी बात का ध्यान नहीं रक्खेगा कि वह कैसी जमानत दे रहे है बल्कि इस बात को भी देखेगा कि प्रार्थी बैंक के लागत कैसे हैं, उसके काम कैसे होते है, उदाहरण के लिये वह जमा प्राप्त करने के लिये अधिक ब्याज तो नहीं देता है, साधारण स्थिति में भी जब बाजार में काफी रुपया रहता है तब उससे ऋण तो नहीं लेता है, और वह अपनी स्थिति से अधिक व्यवसाय तो नही करता है और माल और साख-पत्रों के सट्टे के लिये साख तो नहीं देता है अथवा बहुत अधिक बिना जमानती व्यवसाय तो नहीं करता है। इससे स्थिति तो बहुत कुछ सुधर गई है। फिर, यह जब चाहे तब किसी भी बैंक से कोई भी सूचना माँग सकता है और उसका निरीक्षण कर सकता है। इधर इसने गैरसदस्य बैंकों से भी कुछ सूचना लेना प्रारम्भ कर दिया है और कुछ से तो इसका सीधा सम्बन्ध भी हो गया है।

इस बैंक से यह भी आशा की जाती थी कि यह देशी महाजनों को भी अपने नियन्त्रण मे ले आवेगा और कृषि के अर्थ की मशीनरी का सुधार कर लेगा। साथ ही इससे यह भी आशा की जाती थी कि यह कृषि के और अपने कामों के बीच में निकट सम्बन्ध स्थापित करने के लिये कुछ सुझाव रक्खेगा। वास्तव मे ५५ वीं धारा से इसे ऐसा करने के लिये आवश्यक कर दिया गया था। किन्तु जैसा कि पहिले भी कहा जा चुका है इसने इस ओर सिवाय अपनी

प्रारम्भिक और वैधानिक रिपोर्टों को देने के अतिरिक्त कुछ भी नहीं किया है।

इसके खुलने के पहिले तेजी और मन्दी के समय के ब्याज के दरों मे बड़ा अन्तर रहता था। यह तो पहिले ही बताया जा चुका है कि इम्पीरियल बैंक को इस बात का अधिकार होते हुये भी कि वह सरकार के करन्सी विभाग से आवश्यकता पड़ने पर १२ करोड़ रु० की करन्सी निकलवा ले वह इस अन्तर को दूर नहीं कर सका। किन्तु यह बैंक अवश्य इसमे बहुत कुछ सफलता प्राप्त कर सका है। इसका बैंक दर नवम्बर सन् १९३५ से ही ३ प्रतिशत रहा है और यह तेजी के समय की करन्सी की सारी माँग को अपने बैंकिंग विभाग की नोटों की सम्पत्ति को कम करके पूरी कर लेता है। यह ऐसा कहाँ तक करता है इस बात का पता उसके नोटो की अधिक से अधिक और कम से कम रकम के बीच की अन्तर का पता लगाकर मालूम किया जा सकता है। वास्तव मे यह उस १२ करोड़ रुपये से अधिक रहता है जितने का अन्तर इन दोनों समयों मे मन्दी के पहिले के काल में अर्थात् सन् १९२१-२९ के बीच में इम्पीरियल बैंक की नकदी के बैलन्स मे हो जाया करता था।

यह बैंक बैंकों के फेल होने को रोकने के उद्देश्य से भी स्थापित किया गया है। ऐसी आशा की जाती है कि यह आवश्यकता पड़ने पर उन बैंकों की रक्षा करेगा जो हमेशा अपनी स्थिति अच्छी रखते हैं। इसके पास जो केन्द्रित कोप हैं और नोट निकालने के अधिकार हैं उनसे यह ऐसा बहुत आसानी के साथ कर सकता है। किन्तु इसने त्रांवकोर नेशनल एण्ड क्विलन बैंक के सम्बन्ध मे जिसके ऊपर सन् १९३८ मे सकट पड़ा था ऐसा नहीं किया और वह फेल हो गया। उसके फेल होने के कुछ दिन पहिले उसने इससे आर्थिक सहायता माँगी थी और इसने उसे यह देने से इसलिये अस्वीकृत कर दिया था कि यह इसके पहिले उसके हिसाब-किताब, इत्यादि का निरीक्षण करना चाहता था। इसमे सन्देह नहीं कि यह केवल उसके बड़े-बड़े ऋणों की ही जॉच करता। किन्तु जैसा कि उक्त बैंक की तरफ से कहा गया था और वह ठीक ही था ऐसा करने से उसकी बदनामी हो जाती जिससे और भी बुराई पैदा हो जाती। यहाँ पर यह कह देना भी आवश्यक है कि अब तो बैंक जब चाहे तब किसी बैंक की भी जॉच

कर सकता है। फिर, इसने उसे इसलिये भी ऋण नहीं दिया कि इस बात का भी निश्चय नहीं था कि उसके कौन से पाउंड ब्रिटिश भारत के लेनदारों के ऋण के भुगतान में और कौन से देशी रियासत के लेनदारों के ऋण के भुगतान से काम में आ सकेंगे। हॉ, अब तो स्थिति बहुत ही बदल गयी है। उन रियासतों के बैंक भी इसके नियन्त्रण मे आ गये है जो भारत के यूनियन मे सम्मिलित हो गई हैं।

फिर, जैसा कि पहिले भी कहा जा चुका है इस बैंक ने युद्धकाल मे इस तरह से काम किया था कि ब्रिटेन का बाहरी व्यय भारत से पूरा होता रहा और यहाँ पर मुद्रा प्रसार होता रहा जिससे यहाँ के लोगों को बड़ी कठिनाइयाँ उठानी पड़ी। इसके अतिरिक्त इसने डालर कोष का प्रयोग भी इस तरह किया कि जिससे यहाँ के लोगों की बड़ी हानि हुई। फिर, इसने ब्रिटिश साम्राज्य के और सयुक्तराष्ट्र अमेरिका के सोने के मुनाफाखोरों का अढ़तिया बन कर यहाँ पर सोना बहुत ऊँचे दामों पर बेचा। सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि यह सरकारी आज्ञा को बड़ी अच्छी तरह से मानता रहा। इसने उसे अच्छी सलाह नही दी और यदि वह दी भी तो मानी नहीं गई। वास्तव मे ऐसा नहीं होना चाहिये था। सरकार का अढ़तिया तो कोई भी बन सकता है, इम्पीरियल बैंक ही यह काम करता आ रहा था।

बैंक दर नीति

साख के नियन्त्रण के लिये यहाँ पर बैंक दर नीति का अस्त्र केवल इम्पीरियल बैंक के खुलने पर ही पहिले-पहिल उसको दिया गया था। किन्तु कई कारणों से यह बहुत उपयोगी नही सिद्ध हो सका। प्रथम तो जैसा कि पहिले भी कहा जा चुका है इम्पीरियल बैंक स्वयं ही इसे साख नियन्त्रण के लिये काम मे नहीं लाना चाहता था वह तो लाभ कमाने का उद्देश्य ही सामने रखता था और इसी से यदि अपनी बैंक दर मे कुछ हेर-फेर करता था तो इसी दृष्टि से करता था। फिर, इस नीति का प्रभाव तभी पड़ता है जब बैंक केन्द्रीय बैंक के ऊपर साख उत्पन्न करने के लिये निर्भर रहते है। किन्तु जैसा कि पहिले भी कहा जा चुका है यहाँ यह बात नही थी। यहाँ के बैंक तो इम्पीरियल बैंक से बहुत कम ऋण लेते थे क्योंकि न तो वह इसको अपने बिलों को ही देना चाहते थे और न इससे वैसे ही ऋण लेना

चाहते थे। बिलों से इसे उनके ग्राहकों का नाम मालूम हो जाता था और ऐसा होने से इसके उन ग्राहकों का व्यवसाय अपने हाथ मे ले लेने की आशंका रहती थी। जहाँ तक ऋण का प्रश्न था, ऐसा करने से उन्हें इस बात की अशंका रहती थी कि कही यह उन्हे बदनाम न कर दे। फिर, यह उनमे से बहुतों को तो संकट के समय सहायता भी नहीं करता था। अन्तिम बात यह कि यहाँ पर बाजार सी बैंकों से बहुत सहायता नहीं लेते थे। जहाँ तक होता था वह स्वयं अपनी आवश्यकता पूरी कर लेते थे। फिर, इनमे से प्रत्येक के ब्याज की दर उसकी अपनी स्थिति के अनुसार रहती थी और उसमे भी चलन का बड़ा हाथ रहता था। द्रव्य की माँग और पूर्ति का बहुत कम प्रभाव पड़ता था। इंगलिस्तान मे जैसा कि ७ वे अध्याय मे बताया जा चुका है बैंक दर और ब्याज की अन्य दरों का बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध रहता है किन्तु भारतवर्ष मे न तो यह पहिले ही था और न अब ही है।

फिर, हम यह भी देख चुके है कि विदेशों मे बैंक दर वह दर है जिस पर केन्द्रीय बैंक प्रथम श्रेणी की जमानतों पर ऋण देते है अथवा प्रथम श्रेणी के बिलों को डिस्काउण्ट करते हैं। किन्तु इम्पीरियल का दर केवल प्रथम प्रकार का ही दर था। हुण्डियों को डिस्काउण्ट करने के लिये एक दूसरा दर था जिसे डिस्काउण्ट दर कहते थे। अब, यह दर कभी-कभी तो बैंक दर से ऊँचा और कभी-कभी नीचा रहता था। बैंक दर सप्ताह मे एक बार निर्धारित होता था और प्राय: उसके बीच मे बदलता नहीं था, किन्तु हुण्डी दर बाजार की दैनिक स्थिति के अनुसार अदलता-बदलता रहता था।

हाँ, रिजर्व बैंक का बैंक दर अवश्य ऐसा है जिस पर वह प्रथम श्रेणी की जमानतों पर ऋण देने के लिये तैयार रहता है और साथ ही प्रथम श्रेणी के बिलों को भी डिस्काउण्ट करता है। यह अवश्य ही अन्य देशों के बैंक दर की तरह है, किन्तु यहाँ स्थिति भिन्न है। जैसा कि हमे ज्ञात है हमारे यहाँ बिल तथा हुण्डियाँ बहुत नही चलतीं। अत:, उन्हे चलाने के लिये यह आवश्यक है कि डिस्काउण्ट की दर ब्याज की दर से भिन्न हो और कुछ कम भी हो। कहना न होगा कि यह प्रचलित प्रथा के विपरीत होगा किन्तु देश के लिये लाभप्रद होने के कारण अवश्य ही माना जाना चाहिये।

जब रिजर्व बैंक खुला था, यह सोचा गया था, कि कई कारणों से

इसका वैक दर इम्पीरियल बैंक के वैक दर की अपेक्षाकृत अधिक प्रभावशाली होगा। प्रथम तो सदस्य वैंकों को इसके पास अपनी स्थायी तथा चालू जमा का क्रमश: कम से कम ५ प्रतिशत तथा २ प्रतिशत अवश्य वैलन्स के रूप मे रखना पड़ता है और यदि वह ऐसा नहीं कर पाते है तो उन्हे कमी पर वैक दर से कुछ अधिक दर के हिसाब से व्याज देना पड़ता है। इससे यह सोचा गया था कि वैक वैक दर से नीची दर पर ऋण नही देंगे और साथ ही इससे ऊंची दर पर जमा नही प्राप्त करेंगे। फिर इन वैकों को इससे अपने विलों को भुनाने मे जरा भी सकोच नहीं हो सकता क्योंकि इसके उनके ग्राहकों के नाम जान लेने से उनकी प्रतियोगिता करने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसके अतिरिक्त वैकों को जब कोई ऋण न मिले तब उन्हे इससे ऋण मिलने की आशा रहती है और यह ऐसा इसलिये कर भी सकता है कि एक तो इसके पास वहुत से कोप केन्द्रित रहते है और दूसरे यह अपने नोट चलाता है। किन्तु इसमें एक वड़ा दोप है अर्थात् देशी महाजन इसके नियन्त्रण मे नहीं हैं। वही तो यहाँ के व्यापार, उद्योग-धन्धों और व्यवसाय, इत्यादि को आर्थिक सहायता देते है। अत:, जो केन्द्रीय वैंक साख पर नियन्त्रण रखना चाहता है उसे इन्हे अवश्य अपने नियन्त्रण मे रखना चाहिये।

साख का नियन्त्रण करने की किसी केन्द्रीय वैक की शक्ति दो वातों पर निर्भर रहती है—एक तो यह कि वाजार वाले कहाँ तक अपने स्वय के साधनों पर और कहाँ तक वैकों के साधनों पर निर्भर रहते है और दूसरे यह कि वैक कहाँ तक अपने ऊपर और कहाँ तक केन्द्रीय वैक के ऊपर निर्भर रहते हैं। यहाँ पर वैक भी साख की उत्पत्ति के लिये केन्द्रीय वैक के ऊपर वहुत निर्भर नही रहते। उन्हें अपनी जमा का एक वहुत थोड़ा अश इसके पास जमा करना पड़ता है। अत:, वह यह आसानी से कर सकते हैं। इसकी संस्थापना के समय से ही द्रव्य के वाजार की स्थिति अच्छी रही है। अत:, वे साख के लिये प्राय: इसके पास नहीं आये हैं। जैसा कि पहिले भी कहा जा चुका है कि वैक दर प्रभावशाली अस्त्र होगा अथवा नहीं इस वात की जाँच का समय अभी नहीं आया है। किन्तु तब तक इसके सव दोप दूर हो जाने चाहियें।

खुले बाज़ार में काम करने की नीति

रिजर्व बैंक खुले बाजार में भी काम कर सकता है, अर्थात् देश के व्यापार, व्यवसाय, उद्योग-धन्धों और कृषि के हित में साख नियन्त्रण करने के उद्देश्य से आवश्यकता पड़ने पर बाजार मे प्रत्यक्ष रूप से काम कर सकता है। किन्तु ऐसा करने की आवश्यक्ता अभी तक नहीं पड़ी है। जो हो, हमे इसके संबन्ध के नियमों को भली-भाँति समझ लेना चाहिये ताकि हमे यह मालूम हो सके कि इसका यह अधिकार अपने उद्देश्य तक पहुँचने मे कहाँ तक सफल हो सकता है।

खुले बाजार मे काम करने की नीति का प्रभाव इस बात पर निर्भर रहता है कि केन्द्रीय बैंक इस काम के लिये कितने साधन एकत्रित कर सकता है, कितनी और किस तरह की सम्पत्ति वह रख सकता है और जिस बाजार मे काम करना है उसका कैसा संगठन है।

रिजर्व बैंक के पास जो साधन हैं वह (१) पूँजी और सुरक्षित कोप के, (२) सरकार की नकदी के, (३) सदस्य बैंकों की नकदी के, (४) बिलों की वसूली और द्रव्य को इधर से उधर भेजने के लिये जिस सीमा तक इसका प्रयोग किया जाता है उनके और (५) नोटों के चलाने के हैं। जहाँ तक (१) पूँजी और सुरक्षित कोष का सम्बन्ध है हमे यह तो मालूम ही है कि वह १० करोड़ रुपया है। इम्पीरियल बैंक की पूँजी और सुरक्षित कोप इससे अधिक है। हाँ, इसकी पूँजी और कोष भी आवश्यकता पड़ने पर बढाई जा सकती है। जहाँ तक (२) सरकारी नकदी का प्रश्न है वह तो प्रत्येक वर्ष मे, माह मे, दिन को बदलती रहती है। उसके पूर्ण धन और समय का खुले बाजार मे काम करने की शक्ति पर बड़ा भारी प्रभाव पड़ सकता है। जहाँ तक (३) सदस्य बैंकों की नकदी का प्रश्न है वह भी बराबर बदलती रहती है। प्रायः बैंकों को जितनी नकदी इसके पास रखनी चाहिये उससे अधिक वे इसके यहाँ नकदी रखते हैं। किन्तु ऐसा भी होता था कि बैंक कम नकदी रखकर जुर्माना देकर काम चला लेते थे। अतः, इधर ऐसे नियम भी बन चुके हैं कि यह बैंक जब चाहे तब ऐसे बैंकों को अधिक जमा लेने से रोक दे। जहाँ तक (४) का अर्थात् इस बात का प्रश्न है कि बिलों की वसूली तथा द्रव्य को

इधर से उधर भेजने के लिये इसका कहाँ तक प्रयोग किया जाता है यह तो पहिले ही बताया जा चुका है कि बैंक ने इधर द्रव्य भेजने की बड़ी सुविधायें दे दी हैं। किन्तु बिलों के प्रयोग की आदत को बढाने का अब भी प्रश्न है। प्राय: द्रव्य टी० टी० से भेजा जाता है; दर्शनी ड्राफ्ट कम प्रयोग में आते हैं। वास्तव में दर्शनी ड्राफ्टों से ही द्रव्य भेजे जाने पर ही बैंक की खुले बाजार में काम करने की शक्ति निर्भर है और इस समय इस मद में इसके पास उतना द्रव्य नहीं रहता है जितना कि इस काम में सहायता पहुँचा सकता है। जहाँ तक (५) अर्थात् नोटों को निकालने का प्रश्न है उसके सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि इसके विधान में इसको काफी लोचप्रद बना दिया गया है।

बैंक के पास जो सम्पत्ति रह सकती है वह निम्नाङ्कित हैं:—(१) संयुक्त राज्य की सरकार के वह साख-पत्र जो क्रय के दस वर्षों के अन्दर पकने वाले हों (यह कितने रुपयों के ही रक्खे जा सकते हैं) और (२) भारत सरकार अथवा प्रान्तीय सरकारों के कभी भी पकने वाले साख-पत्र अथवा किसी स्थानीय अधिकारी के अथवा देशी रियासत के ऐसे ही साख-पत्र (इनका मूल्य इसकी पूँजी, सुरक्षित कोष और जमा के $\frac{3}{4}$ के बराबर रह सकता है)। हाँ, इनमें से १ वर्ष के बाद पकने वाले और दस वर्षों के भीतर पकने वाले साख-पत्रों का मूल्य इसकी पूँजी और सुरक्षित कोष तथा इसकी जमा के क्रमश: $\frac{1}{5}$ और $\frac{1}{5}$ के बराबर रह सकता है।

इससे यह स्पष्ट है कि दीर्घकालीन (१० वर्षों से अधिक के) साख-पत्र, अल्पकालीन (१ वर्ष और १० वर्षों के बीच के) साख-पत्रों से कम मूल्य के रह सकते हैं। बात यह है कि दीर्घकालीन साख-पत्रों का मूल्य कम घटता-बढता है, अत: वे अधिक द्रवित होते हैं।

बैंक के पास जितने के साख-पत्र रहते हैं अथवा बाजार में मिल पाते हैं उतनी ही करन्सी का परिमाण घट-बढ़ सकता है। इस युद्ध में करन्सी इसीलिये बढ पाई है कि स्टर्लिङ्ग और रुपयों दोनों के साख-पत्र प्राप्त थे। इसी तरह से इन्हें बाजार में बेचकर मुद्रा संकुचन भी किया जा सकता है।

अब, हमें उस बाजार के विषय में समझना है जिसमें बैंक काम कर सकता है। यहाँ के मुख्य स्टाक एक्सचेञ्ज बम्बई और कलकत्ते के

है। किन्तु इनके कुल सदस्यों की संख्या लन्दन और न्यूयार्क के स्टाक एक्सचेञ्जों के सदस्यों की संख्या की तुलना मे कुछ नहीं है, अतः, इनमे काम करने का उतना प्रभाव नही पड सकता है। हाँ, यह अवश्य है कि बैंक की बहुत कुछ सम्पत्ति के स्टर्लिङ्ग साख-पत्रों मे होने के कारण जिनमें विदेशों मे भी काम किया जा सकता है कुछ कठिनाई कम हो जाती है।

बैलन्स शीट

रिजर्व बैंक की बैलन्स शीट दो भागों मे विभक्त रहती है—(१) नोट के विभाग मे और (२) बैंकिंग के विभाग मे। यह साप्ताहिक होती है। नीचे एक नमूना दिया हुआ है:—

रिजर्व बैंक आफ इण्डिया

(अ) जुलाई ९, १९४८

नोट विभाग

(००० छोड़ करके)

दायित्व	रु०	पावने	रु०
निकाले हुये नोट :—		सोना	४२,७१,९१
बाहर	१२६९,८८,२२	स्टर्लिङ्ग साख-पत्र	११००,८०,४७
बैंकिंग विभाग में	२९,६४,७३		११४३,५२,३८
		रुपये—	
		भारतवर्ष के	४१,८५,७६
		रुपयों के साख-पत्र	११४,१४,८१
		देशी बिल, इत्यादि	
	१२९९,५२,९५		१२९९,५२,९५

सोने और स्टर्लिङ्ग साख-पत्रों का सम्पूर्ण दायित्व से अनुपात
८७ ९९५ प्रतिशत

बैंकिंग विभाग

(००० छोड़ करके)

	रु०		रु०
पूँजी	५००००	नोट	२९,६४,७३
सुरक्षित कोष	५००००	रुपये	३,८८
जमा—		रेजगारी	१,१०
(अ) केन्द्रीय सरकार की		क्रय किये हुये और डिस्काउण्ट	
	२१४,५१,६७	किये हुये बिल—	
(ब) अन्य सरकारों की		(अ) देशी	१५,००
	१९,१५,८९	(ब) विदेशी	...
(स) बैंकों की	७९,५९,७४	(स) सरकारी ट्रेजरी बिल्स	
(द) अन्य	४७,८२,६०		१,६२,५९
देय बिल्स	३,९४,०२	विदेशों मे बैलन्स	३०१,४०,४०
अन्य दायित्व	१४,५९,१४	सरकार के ऋण	१०,००
		अन्य ऋण	....
		लागत	५०,८६,५२
		दूसरी सम्पति	४,९९,१५
	३८८,८३,०७		३८८,८३,०७

प्रश्न

(१) रिजर्व बैंक के हिस्से कौन लोग नहीं खरीद सकते ? क्या इस सम्बन्ध मे किसी अन्य प्रतिबन्ध की आवश्यकता है ?

(२) रिजर्व बैंक के केन्द्रीय और स्थानीय मडलो की रचना पर एक छोटी सी टिप्पणी लिखिये ।

(३) रिजर्व बैंक विधान के दोष बताइये और यह बतलाइये कि इस सम्बन्ध मे क्या करना चाहिये।

(४) रिज़र्व बैंक के केन्द्रीय और व्यापारिक बैंकिंग के कामो का एक संक्षिप्त वर्णन दीजिये। यह कौन से विशेष काम नहीं कर सकता है?

(५) रिज़र्व बैंक की स्थापना के पहिले कौन-कौन से प्रारम्भिक काम करने पड़े थे। इसके दफ्तरों और विभागो के संगठन के विषय में आप जो कुछ जानते हो बताइये?

(६) रिज़र्व बैंक ने अब तक क्या-क्या किया है? आपकी समझ मे अब उसको क्या करना चाहिये?

(७) आपकी समझ मे रिजर्व बैंक को साख के नियन्त्रण के लिये जो अधिकार दिये गये हैं वह काफी हैं या नहीं? इस सम्बन्ध में आपके क्या सुझाव हैं?

(८) रिजर्व बैंक की एक कल्पित बैलन्स शीट बनाइये और उसके प्रत्येक मद को समझाइये?

अध्याय २०

दोष और उन्हें दूर करने के उपाय

पिछले अध्यायों मे भारतीय बैंकिंग के क्रमिक विकास का दिग्दर्शन कराया गया है। अब, इस अध्याय मे हम उसके दोषों का और उन्हे दूर करने के उपायों का अध्ययन करेंगे।

एक अच्छे संगठित द्रव्य के बाज़ार की कमी—हमे यह तो ज्ञात ही है कि भारतवर्ष के द्रव्य के बाजार मे निम्न संस्थाये हैं:—रिजर्व बैंक आफ इण्डिया, इम्पीरियल बैंक आफ इण्डिया, सम्मिलित पूँजी के भारतीय बैंक, विनिमय के विदेशी बैंक, साख-सम्बन्धी सहकारी सस्थायें, भूमि-बंधक बैंक, ऋण के दफ्तर, निधि, चिट फन्ड, और ऋणदाताओं से लेकर अनेकों प्रकार के देशी महाजन जिन्हें बैंकर्स भी कहते है। इनके अतिरिक्त कुछ दिनों पहिले तक सरकार भी काफी भाग लेती थी। निसंदेह उसकी नीति तो अब रिजर्व बैंक

के हाथ मे है, किन्तु आज भी उसके डाकघर है जो कि बैंकिंग का काफी काम करते है। वह बचत और लागत के लिये जो कुछ करते है उसका अध्ययन तो हम कर चुके हैं। उनके अतिरिक्त वे द्रव्य को इधर से उधर भेजने की और बी० पी० से इसकी वसूली करने की सुविधा भी देते हैं।

रिजर्व बैंक की संस्थापना के पहिले इन सब के बीच मे किसी प्रकार की साम्यता नहीं थी।

उन्हें एक नेता की भी आवश्यकता थी। रिजर्व बैंक की संस्थापना से यह कठिनाइयाँ तो कुछ अशों तक दूर हो गई है। हमे मालूम है कि ग़ैरसदस्य बैंकों के ऊपर इसका कोई विशेष नियन्त्रण नहीं है। इसके अतिरिक्त ऋण के दफ्तर चिट फंड, निधि और ऋणदाताओं के सहित बहुत से देशी महाजन है जिनके ऊपर इसका बिल्कुल भी नियन्त्रण नही है। संक्षेप मे हम यह कह सकते है कि द्रव्य का भारतीय बाज़ार दो संगठनों को मिलाकर बना है—एक आधुनिक बैंकों का और दूसरा देशी महाजनों का, और इनमे से आधुनिक बंकों का संगठन कुछ को छोड़कर रिज़र्व बैंक के नियन्त्रण में है किन्तु देशी महाजन बिल्कुल स्वतन्त्रतापूर्वक काम करते है। जहाँ तक इनकी पारस्परिक साम्यता का प्रश्न है वह भी आदर्शरूप मे नहीं है।

इन दोषों को दूर करने के लिये पहिले ही कुछ सुझाव रक्खे जा चुके है। इसमे देशी महाजनों को रिजर्व बैंक से सम्बन्धित करना, रिज़र्व बैंक का ग़ैरसदस्य बैंकों के ऊपर नियन्त्रण बढाना और भिन्न-भिन्न वर्गों में साम्यता उत्पन्न करना सम्मिलित है।

बिल के बाज़ार का न होना

यहाँ के द्रव्य के बाजार का एक अन्य दोष बिल के बाज़ार का न होना है। इसके निम्न कारण है।

(१) भारतवर्ष के बैंक सरकारी साखपत्रों मे लागत लगाना अधिक पसन्द करते हैं। रिजर्व बैंक की सस्थापना के पहिले उन्हें इस बात का विश्वास ही नहीं था कि इम्पीरियल बैंक उनकी हुण्डियों को डिस्कांउण्ट कर देगा। उसने उनका कोई स्तर तो नहीं रक्खा था और किसी भी हुन्डी को स्तर के अनुसार नही है कह करके

डिस्काउण्ट करने से इनकार कर देता था। फिर, बैंक स्वयं भी उससे हुण्डियों को डिस्काउण्ट कराने के स्थान पर सरकारी साख-पत्रों के अधिकार पर ऋण लेना अधिक पसन्द करते थे क्योंकि हुण्डियों के भुनाने में उन्हें इस बात का डर रहता था कि इम्पीरियल बैंक उनके ग्राहकों का नाम जान जाने के बाद उनके प्रतिद्वन्दी होने के नाते कहीं लाभ न उठा ले। इसके अतिरिक्त यदि इम्पीरियल बैंक सरकारी साख-पत्रों के आधार पर ऋण देने को मना कर देता था अथवा वही इसके लिये इम्पीरियल बैंक के पास नहीं जाना चाहते थे तो इन्हें बाजार में बेचा जा सकता था। हाँ, रिजर्व बैंक की संस्थापना से अब यह सब कठिनाइयाँ दूर हो गई हैं, किन्तु पुरानी प्रथा तो चल ही रही है। ऐसा विशेषत: इसलिये है कि रिजर्व बैंक ऋण देने में और बिलों को डिस्काउण्ट करने में एक ही दर चार्ज करता है। जैसा कि पहिले भी कहा जा चुका है ऋण देने में डिस्काउण्ट करने की अपेक्षाकृत कुछ ऊँची दर चार्ज करने से डिस्काउण्ट करने का काम बढ़ जायगा। बैंक दर यहाँ पर केवल डिस्काउण्ट की दर होनी चाहिये।

सरकारी साख-पत्रों की लोकप्रियता का एक अन्य कारण उनके द्वारा काफी ऊँची आय का मिलना भी था। किन्तु अब ऐसा नहीं है।

(२) माल के अधिकार पत्रों के चालू न होने के कारण यहाँ पर व्यापारिक बिलों और सहायक बिलों के बीच में भेद करना असम्भव सा हो जाता है। इसके लिये गोदाम होने चाहिये और गोदामों की रसीदों को हस्तान्तरित करके माल की बिक्री होनी चाहिये जिससे उनके सम्बन्ध के जो बिल हों उनके सुबूत के लिये यही गोदामों की रसीदें रहें। ऐसा करने से व्यापारिक बिलों और सहायता के लिये किये गये बिलों में भेद किया जा सकेगा।

(३) नकद साख की प्रणाली के चालू होने से भी बिलों की कमी रहती है। हम यह तो जानते ही हैं कि ऋण का यह रूप भी बैंक और ऋण लेने वालों दोनों की दृष्टि में अच्छा है। किन्तु बिलों के और अधिक लाभ हैं, अतः, उन्हें नकद साख की अपेक्षा अधिक उपयोग में लाना चाहिये।

(४) पहिले यह बिल इसलिये भी पसन्द नहीं किये जाते थे कि इन पर स्टाम्प ड्यूटी बहुत लगती थी किन्तु इधर तो यह दोष दूर कर दिया गया है।

(५) बिल तो विदेशी है। अतः, उनमें विदेशी भाषा का प्रयोग होने के कारण वह यहाँ पर अधिक लोकप्रिय हो ही नहीं सकते। बात यह है कि हमारे यहाँ विदेशी भाषा जानने वाले लोग तो बहुत कम हैं। किन्तु हुण्डी तो यहाँ पर बहुत दिनों से चालू है। हाँ, इसकी इबारत इतनी कठिन है कि उसे याद रखना कुछ मुश्किल अवश्य है। उसे कुछ सादी बना देना चाहिये। फिर, इनके सम्बन्ध में अच्छा अधिकार देने वाले पुर्जों का विधान अवश्य लागू है किन्तु स्थानीय चलन का भी अधिक महत्व है। अतः, उनके भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न होने के कारण उनका सबका एकीकरण हो जाना आवश्यक है।

(६) विदेशी व्यापार के कारण जो बिल उत्पन्न होते हैं वह प्रायः स्टर्लिङ्ग मे होते हैं। यदि वह यहाँ की करन्सी मे हो तो यहाँ पर एक बिल का बाज़ार बन जाय।

(७) यहाँ पर इंगलिस्तान की तरह पर बिलों पर स्वीकृति देने वाली कोठियाँ नही है। बैंक भी अपने ग्राहकों की ओर से बिल नहीं स्वीकार करते। यदि यह व्यवसाय बढाया जाय तो भी यहाँ पर बिल का बाज़ार अवश्य बन जाय।

(८) अन्य देशों में कृषि के सम्बन्ध मे भी बिलों का प्रयोग होता है। इन्हे सम्भावित बिल (Anticipatory bills) कहते हैं, और यह अमेरिका में बहुत प्रयोग में लाये जाते हैं। अतः, यह यहाँ भी प्रयोग मे आ सकते है। सहकारी गोदाम समितियाँ भी स्थापित की जा सकती हैं जो कृषकों को उनका सदस्य होने पर उपज के ऊपर ऋण दे सकती है। इसके लिये वे समितियाँ उन पर (कृषकों पर) बिल कर सकती हैं। फिर, ये समितियाँ उन्हे जिले की सहकारी संस्था से और वे उन्हे सम्मिलित पूँजी वाले बैंकों से अथवा रिज़र्व बैंक से भुना सकती है। जिस तरह से सहकारी समितियाँ बिलों का प्रयोग कर सकती है उसी तरह से ऋण देने वाले महाजन भी उनका प्रयोग कर सकते है।

करन्सी की इकाई पर अविश्वास

भारतीयों का अपनी करन्सी की इकाई पर विश्वास नहीं है। जहाँ तक हो सकता है वह अपनी बचत को सोने, चाँदी तथा भूमि की सम्पत्ति मे रखते है। इसके कई कारण है। प्रथम तो उनका यह अनुभव है कि यहाँ की करन्सी का मूल्य मनमाना कर दिया जाता है। देश के अन्दर तो यह परिवर्तित हो ही नहीं सकती और इसका मूल्य दिन पर दिन गिरता ही जाता है। फिर, यहाँ के भूमिपति बडी मान-मर्यादा की दृष्टि से देखे जाते थे। इनका बड़ा प्रभाव है। हमारी स्त्रियों को भी गहनों का बड़ा शौक है। इसका एक आर्थिक कारण भी है। हमारे यहाँ विधवाओं को केवल उनके स्त्री धन को छोड़कर जिसमे केवल उनका गहना ही रहता है और किसी धन पर अधिकार नही है। बैंक बैलन्स और सब साख-पत्र मर्दों के ही होते है स्त्रियों को उनका उत्तराधिकार नही मिलता।

बैंकों पर अविश्वास

बैंकों पर अविश्वास स्थाई और अस्थाई दोनों हो सकता है। पश्चिमीय देशों मे भी अविश्वास है किन्तु वह केवल संकटकाल के ही समय रहता है। भारतवर्ष मे वह स्थाई भी है और ऐसे समय मे भी हो जाता है। हाँ, इसमे सन्देह नहीं कि संकटकाल के लिये जो रक्षा के उपाय किये जाते है उनसे दैनिक रक्षा और दैनिक रक्षा के लिये जो उपाय किये जाते है उनसे सकटकाल के समय की रक्षा होती है। किन्तु सुविधा के विचार से इनका अध्ययन अलग-अलग ही किया जाना चाहिये।

स्थाई अविश्वास तो बैंकों के लगातार फेल होने से उत्पन्न हो जाता है। कोई भी ऐसा वर्ष नही होता जब कुछ बैंक फेल न होते हों। किन्तु इनका यहाँ पर उतना अधिक महत्व नही है जितना उन देशों मे है जहाँ की बैंकिग की प्रणाली बहुत उन्नत अवस्था को पहुँच चुकी है अथवा बैंकिग अथवा कम्पनी के विधान अधिक सख्त है। सन् १९३६ के भारतीय कम्पनी विधान के सशोधन के पहिले बैंक शब्द की कोई ऐसी परिभाषा नही थी कि वह केवल अच्छी संस्थाओं के नाम के साथ भी लग सकता। अतः, बहुत सी सन्देह

युक्त संस्थाये बैंक ही कही जाती थीं और उनके फेल होने से बैंक का ही फेल होना समझा जाता था। तब से बैंक की परिभाषा बन गई है और उसकी पूँजी कम से कम पचास हजार रुपया होनी चाहिये। इसके अतिरिक्त उनका इतना ही सुरक्षित कोष भी होना चाहिये। किन्तु पुराने बैंक वैसे ही चल रहे हैं। इधर जो बैंक फेल हुये है उनकी जाँच करने पर हमे यह ज्ञात होता है कि उनमे से अधिकांश इसी तरह के बैंक थे। अतः, भविष्य मे कम बैंक फेल होंगे इस सम्बन्ध में दो अन्य बातें भी हैं। एक तो प्रायः नये बैंक ही फेल होते हैं। यदि कोई बैंक बहुत दिनों तक चल जाता है तो यही उसके अच्छे प्रबन्ध का प्रमाण हो जाता है। दूसरे, यह कि प्रायः थोड़े ही पूँजी के बैंक फेल होते हैं और जब ऐसी आशा की जाती है कि सभी बैंकों की पूँजी और उनका सुरक्षित कोष एक लाख से कम न होगा तो उनका फेल होना भी कम हो जायगा।

अब हम यह देखेंगे कि प्रायः बैंक क्यों फेल हुये जिससे कि इसको रोके जाने के लिये उपाय मिल जायँ।

एक तो बैंक प्रायः कानून के ढीले होने के कारण, जनता की अज्ञानता के कारण और बुरे-तथा बेईमान प्रबन्धकों के कारण फेल हुये हैं। इसके जो बैंक शिकार हुये है उनमें पूना बैंक, पूना; अमृतसर नेशनल बैंक, अमृतसर; हिन्दुस्तान बैंक, मुलतान; शिवराम अय्यर बैंक, मद्रास; पायनियर बैंक, बम्बई और क्रेडिट बैंक आफ इंडिया जो क्रमशः १९२४, १९२३, १९१४, १९३२, १९१६ और १९१३ में फेल हुये थे विशेष तौर पर उल्लेखनीय हैं। क्रेडिट बैंक आफ इंडिया के व्यवस्थापक ने अपनी नियुक्ति के समय संचालकों से अपनी बैंकिंग और अकाउण्टैन्सी की अनभिज्ञता दिखलाते हुये एक मजबूत कमेटी बनाने की माँग रक्खी थी। बैंक के फेल होने तक भी जैसा कि उसने स्वयं कहा था उसने कुछ भी नहीं सीखा था।

इस कमी को कानूनन दूर किया जा सकता है जिसकी आवश्यकता यहाँ पर सन् १९१३-१४ के सकटकाल के समय से ही प्रतीत होने लगी थी। किन्तु यह केवल १९३६ मे ही अशतः पूरी हो सकी। इसमे इस बात का ध्यान रक्खा गया है कि जनता बैंकों के अज्ञान तथा बेईमान संस्थापकों से बच सके। यदि सचालक अथवा व्यवस्थापक और आडीटर गलत बात कहते है तो कई परिस्थितियों मे वह जुर्म करते

है। फिर, उनके ऊपर द्रव्य के गलत उपयोग का, गलत तरीके पर रोक-रखने का और अमानत में खयानत करने का जिसमे किसी काम को करके अथवा न करके कर्तव्य विमूढ होने का अपराध भी सम्मिलित है अपराध लग सकता है। गलत हिसाव रखने पर भी सजा देने का नियम रक्खा गया है।

दूसरे, बहुत से बैंक इसलिये भी फेल हुये है कि उन्होंने वैंकिंग के कोष से उद्योग-धन्धों को भी आर्थिक सहायता दी थी। इनमे से लाहौर के पिउपिल बैंक और अमृतसर बैंक और टाटा इन्डस्ट्रियल बैंक के नाम जो क्रमशः सन् १९१३, १९१४ और १९२३ मे फेल हुये थे विशेष उल्लेखनीय है। वस्तुत', भारतवर्ष मे लोग जर्मनी और जापान के तरीके पर सम्मिलित बैंकों के पक्ष मे है, किन्तु यहाँ पर यह इसलिये सम्भव नहीं है कि यहाँ की वैंकिंग की प्रणाली अंग्रेजी बैंकिंग प्रणाली के सदृश्य विकसित हुई है और उसकी यह विशेषता है कि व्यापारिक बैंकिंग और औद्योगिक वैंकिंग अलग-अलग ही रहे।

तीसरे, बहुत से वैंक इस कारण भी फेल हुये हैं कि उनके अफसरों ने सट्टेबाजी मे भाग लिया था। ऊपर के कुछ बैंक इसलिये भी फेल हुये थे किन्तु इण्डियन स्पेशी बैंक के सन् १९१४ मे फेल होने का यही एक कारण था। बैंक के प्रारम्भ से ही इस बात की खबर थी कि बैंक सट्टेबाजी मे फँसा हुआ था किन्तु यह कहा जाता था कि यह गलत है और छिपाया जाता था। श्री चुन्नीलाल सरैय्या जो बैंक के व्यवस्था सचालक थे और जिनका नाम इससे सम्बन्धित था, बहुत ही चतुर व्यक्ति थे। वह ऊपरी सजावट मे होशियार थे और वर्ष के अन्त में अच्छी बैलन्स शीट दिखला देते थे। किन्तु अन्त में एक साधारण हिस्सेदार ने जिससे इनकी वैयक्तिक शत्रुता कही जाती थी इसके भंग करने की प्रार्थना हाईकोर्ट मे दी। पहिले तो हिस्सेदारों और सचालकों ने इसका विरोध किया और सब ठीक मालूम पड़ने लगा किन्तु फिर श्री चुन्नीलाल का यकायक हृदय की गति रुक जाने से देहान्त हो गया और शेष सचालकों ने स्वेच्छा से बैंक की इतिक्रिया करने के लिये प्रार्थना-पत्र भेज दिया। बाद की जॉच से आरोप ठीक ही निकला।

चौथे और अन्तिम, प्रायः बैंक इस कारण भी फेल हुये है कि

जनता का मत किसी न किसी समय उनके विरुद्ध हो गया। उन्हे तो अभाग्य का शिकार ही समझना चाहिये। इनमें से एक तो मेरठ का बैंक आफ अपर इण्डिया था जिसकी रजिस्ट्री सन् १८६३ में हुई थी। यह सन् १९१४ तक बराबर उन्नति दिखलाता रहा किन्तु उस वर्ष यकायक फेल हो गया। इसके जमा करने वालों और हिस्सेदारों दोनों को पूरा रुपया मिला। दूसरा, शिमला का अलायंस बैंक था। सन् १८७४ में संस्थापित होकर यह सन् १९२३ तक काम करता रहा। किन्तु उस वर्ष फेल हो गया। इसको तो इस कारणवश बुरे दिन देखने पड़े कि बोल्टन ब्रदर्स ने जो इसके लन्दन के अढ़तिया थे इसके १५० लाख रुपये जो उनके ऊपर चाहिये थे नहीं दिये। इसके एक दूसरे ऋणी अर्थात् पंजाब के ट्रस्ट आफ इण्डिया की स्थिति भी अच्छी नहीं थी। बैंक के संचालकों ने अपनी सन् १९२२ की रिपोर्ट में यह बात साफ कह दी थी। अस्तु, बोल्टन ब्रदर्स वाली खबर फैलते ही जमा निकलनी प्रारम्भ हो गई और बैंक फेल हो गया, इस सम्बन्ध मे त्रावनकोर नेशनल क्विलन बैंक का भी फेल होना उल्लेखनीय है। इसने सन् १९३८ में भुगतान देना बन्द कर दिया। भुगतान के समय इसकी स्थिति वैसी ही थी जैसी उस समय थी जब दो वर्ष पहिले त्रावनकोर नेशनल बैंक और क्विलन बैंक दोनों एक हुये थे। इन दोनों बैंकों का पहिले का इतिहास बहुत ही उज्ज्वल था। फिर, रिजर्व बैंक की सस्थापना के बाद इसका इस प्रकार फेल होना कुछ ठीक नहीं था और विशेषतः इसलिये कि यह उसका एक सदस्य बैंक था। रिजर्व बैंक ने इसकी सहायता क्यों नहीं की यह तो पहिले ही बताया जा चुका है। इधर ज्वाला बैंक भी फेल हो गया है। इसे सरकार ने जमा प्राप्त करने की मनाही कर दी थी। अतः, जनता का इस पर से विश्वास उठ गया और वह जमा निकालने लगी और बैंक फेल हो गया।

अब, हम फिर बैंकों के प्रति स्थायी अविश्वास के कारणों की ओर आते हैं। उनके लगातार फेल होने के साथ-साथ इसके अन्य कारण भी हैं। एक तो एक अच्छे बैंकिंग विधान के न होने से भी बड़ी हानि होती है। अच्छे बैंकिंग विधान से जनता का कई प्रकार से विश्वास बढ़ जाता है। प्रथम तो इनके कारण अच्छी व्यवस्था रहती है और शक्ति के साथ-साथ उसके दुरुपयोग की कम सम्भावना

होती है। इस सम्बन्ध मे इधर सन् १९३६ का कम्पनी विधान पास करके जो कुछ भी किया गया था उसका उल्लेख पहिले ही किया जा चुका है। दूसरे, इससे हिसाब की ठीक विज्ञप्ति भी हो जाती है। भारतीय कम्पनी विधान मे बैलन्स शीट का एक रूप दिया हुआ है जिसके अनुसार सब कम्पनियों को अपनी बैलन्स शीट बनानी पड़ती है। हाँ, बैंकों को कुछ विशेष बाते दिखानी पड़ती है। किन्तु यह असन्तोषजनक ही है। उनके लिये तो बैलन्स शीट का एक प्रथक रूप ही होना चाहिये। ऊपर जिस विधान का उल्लेख किया गया है उसने भी ऐसा न किया। हाँ, पुरानी बैलन्स शीट मे कुछ सुधार अवश्य कर दिये। जब बैलन्स शीट मे कुछ सूचनायें नही रहती तो उसके कई प्रभाव पड़ते हैं। प्रथम तो जो बैंक अच्छे है उनकी अच्छी स्थिति का पता नहीं लगता। दूसरे, बुरे बैंको के सम्बन्ध मे अनभिज्ञ जनता को कुछ नही मालूम हो पाता। तीसरे, उपयुक्त अंक नही प्राप्त हो पाते। चौथे और अन्तिम यह कि अन्तिम लेखों के सम्बन्ध मे कोई सदृश्यता न होने से तुलना करने मे कठिनाई पडती है। उपर्युक्त के अलावा बैंकिग के कानून का यह ध्येय होता है कि उन्हे जब कठिनाइयाँ पड़ें तब उन्हें वह दूर कर दें। वे जमा करने वालों की रक्षा करते है और यह कई प्रकार से हो सकती है। ऐसा इसलिये ही नहीं किया जाता कि इन लोगों की रक्षा का अधिकार अन्य व्यापारियों के लेनदारों की रक्षा के अधिकार से अधिक है बल्कि इसलिये कि किसी बैंक के फेल होने से अन्य व्यापारियों पर भी बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है।

संकट के समय जो अविश्वास पैदा हो जाता है, उसे दूर करने के लिये बहुत से सुझाव रक्खे जा चुके है। प्रथम तो सरकार को उस समय बैंकों की सहायता करनी चाहिये। किन्तु भारत की सरकार इस सम्बन्ध मे बराबर हिचकिचाती रहती थी। इसका मुख्य कारण यही था कि वह विदेशी थी। सन् १९१३-१४ के बैंकिंग के संकटकाल मे यद्यपि जनता बहुत कुछ कहती रही, किन्तु इसने कुछ भी न किया। हाँ, उस समय वाइसराय ने यह अवश्य कहा था कि यदि कुछ करने की आवश्यकता पड़ी तो वह कुछ ही बैंकों के सम्बन्ध मे की जायगी और उसी समय के लिये होगी। सन् १९२३ मे जब अलायन्स बैंक ने भुगतान करना बन्द कर दिया तब उसने इम्पीरियल बैंक को इस

बात का आदेश दिया कि वह उसका काम अपने हाथ में ले ले और उसके चालू खातों और बचत के खातों पर ५० प्रतिशत फौरन दे दें और इस तरह से उसके एक प्रधान कर्मचारी ने जो दस वर्ष पूर्व कहा था उसे पूरा किया। जिन कारणों से यह किया गया था वह भी बड़े मार्के के थे। पहिले तो अर्थ सचिव ने यह कहा था कि यह इसलिये किया गया था कि अंग्रेजी और भारतीय द्रव्य के बाजारों मे उस समय जो अच्छी स्थिति थी वह वैसी ही बनी रहे जिससे सरकार को ऋण लेने मे सुविधा रहे और साथ ही उसके अच्छे बजट के कारण जो अच्छा प्रभाव पड़ा था वह भी बना रहे। किन्तु बैंक के चालू और स्थायी खातों की जमा केवल ७ करोड़ रु० थी। अतः, इतने के हित को बचाकर उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति करने की बात बड़ी विचित्र थी। अतः, इस बात को समझ कर फिर उन्होंने यह कहा कि यह इसलिये किया गया था कि यह भारतीय अर्थ और बैंकिंग के हित के लिये बहुत ही आवश्यक था और इससे अन्य अच्छे बैंकों को जो असुविधा होती वह रुक गई। अतः इस तरह से अनजाने मे उन्होंने सरकार की जिम्मेदारी बढ़ा दी। किन्तु यहाँ के लोगों ने दूसरी ही बात सोची। उनका यह ध्यान था कि यह अलायन्स बैंक के अधिकांश ग्राहकों के अंग्रेज होने के कारण उनके हित की रक्षा के लिये किया जा रहा था। इस बात की परीक्षा का समय सन् १९३८ मे त्रावनकोर बैंक के फेल होने के समय आया किन्तु उस सम्बन्ध में उसने कुछ नही किया। हाँ, यह कहा जा सकता है कि उस समय तक स्थिति बहुत कुछ बदल गई थी। प्रान्तीय सरकारों के अधिकार बढ़ाये जा चुके थे। अतः, इस संबध की जिम्मेदारी उनकी हो गई थी। इस संबन्ध मे मद्रास सरकार ने जो कुछ किया वह प्रशसनीय था। त्रावनकोर बैंक की अधिकाश शाखायें उसी प्रान्त मे थीं। अतः, जो कुछ किया गया वह स्वाभाविक ही था। जब बैंक के ऊपर सकट आया तभी मद्रास सरकार ने रिज़र्व बैंक से सम्मति ली और इससे जाँच कराने के लिये कहा गया। किन्तु वह समय जाँच का नही था। फिर, प्रधान मन्त्री ने जनता से शान्त रहने की अपील की और कहा कि वह अफवाहों मे विश्वास न करे। उन्होंने यह भी घोषित किया की अन्य बैंकों की भी जाँच की जायगी और कोई गड़-बड़ी नही होगी। इसके दो महीने बाद उन्होंने यह विज्ञप्ति निकाली

कि वहाँ के सदस्य बैंकों की स्थिति बहुत अच्छी है और जिन लोगों ने रिज़र्व बैंक से सहायता ली थी उन्होंने भी उसको वापिस कर दिया है और यदि आवश्यकता पड़ेगी तो रिज़र्व बैंक फिर उनकी सहायता करेगा। यह सचमुच बड़े मार्के की बात थी। किन्तु जब कोई ऐसा बैंक है कि जिसकी शाखाये सारे भारतवर्ष मे फैली हुई है तब तो केन्द्रीय सरकार को उठना पड़ेगा। सन् १९४६ मे बंगाल मे जब बैंकों के ऊपर सकट पड़ा तब इस संबन्ध मे रिज़र्व बैंक और भारत सरकार ने जो कुछ किया उसका संकेत तो पहिले ही किया जा चुका है।

इसके अतिरिक्त जैसा कि हम कह चुके है केन्द्रीय बैंक भी बहुत कुछ स्थिति का सुधार कर सकता है। अब वह कहाँ तक ऐसा कर सकता है इसके विषय मे भी पहिले ही बताया जा चुका है। पहिले हमारे देश मे कोई केन्द्रीय बैंक नही था। किन्तु यह कमी रिज़र्व बैंक की संस्थापना से दूर हो गई है। हाँ, जैसा कि पिछले अध्याय मे बताया जा चुका है इस बैंक ने सन् १९३८ मे त्रावनकोर नेशनल एण्ड किलन बैंक की कुछ भी सहायता नही की। जो हो, हम आशा करते है कि भविष्य में यह अधिक सतर्कता से काम लेगा।

तीसरे, पत्रों और जनता की सम्मति का भी बडा प्रभाव पड़ता है। सन् १९३१ के संयुक्त राज्य के आर्थिक संकट के समय उन्होंने वहाँ के जमा करने वालों मे एक देश प्रेम की लहर पैदा करके उनमे जो शांत विश्वास पैदा कर दिया था वह बहुत ही प्रशसनीय था। किन्तु इसके विपरीत सयुक्तराष्ट्र अमेरिका मे इगलैण्ड के सकट के बाद जब सकट पड़ा तब वहाँ के पत्रों और जनता ने इसके विपरीत किया। भारतवर्ष मे भी यही बात होती है। क्रिस्तानी और अँग्रेजी पत्र यहाँ के सम्मिलित पूँजी वाले बैंकों के विषय मे बराबर झूठी अफवाहे उडाते रहे है। एक समय था जब वह पंजाब के मुख्य बैंक संस्थापक लाला हरकिशनलाल के विरुद्ध ऐसा किया करते थे। फिर, जनता यहाँ आसानी से घबड़वाई जा सकती है। सेन्ट्रल बैंक के शत्रुओं के द्वारा उडाई अफवाहों के कारण उस पर बराबर आक्रमण होते रहे किन्तु वह उनको बराबर सम्भालता रहा।

अन्तिम बात यह है कि बैंक स्वयं इस सम्बन्ध मे बहुत कुछ कर सकते है। उन्हे गम्भीर परिस्थिति के कारणों से बराबर अपनी रक्षा का उपाय करते रहना चाहिये और उसके प्रभाव को कम कर

देना चाहिये। यह वह अपने सम्बन्ध में अधिक प्रकाशन करके कर सकते है। वे जमा करने वालों के प्रतिनिधियों को अपने संचालक मंडल में लेकर उनमें विश्वास की मात्रा पैदा कर सकते हैं। चुनाव करने का अधिकार उन्हीं लोगों को दिया जा सकता है जिनका एक औसतन न्यूनतम बैलन्स रहता है और ऐसे लोगों की सूची दो या तीन वर्षों मे दुहराई जा सकती है।

अन्य प्रकार की बैंकिंग की कमी

यहाँ के सम्मिलित पूँजी वाले बैंक केवल व्यापारिक बैंकिग करने के लिये ही संस्थापित किये गये हैं। हाँ, औद्योगिक बैंकिंग का काम करने के लिये भी कुछ बैंक सस्थापित किये गये हैं किन्तु उन्हे कोई विशेप सफलता नहीं मिल पाई है। कृपि के अर्थ की कठिनाइयों को दूर करने के लिये सहकारिता निकाली गई है किन्तु इस सिद्धान्त को उद्योग-धन्धों के लिये अर्थ देने के लिये नहीं अपनाया गया है। भारतीय बैंकों ने विनिमय के व्यवसाय को बिल्कुल छोड़ रक्खा है। अतः, उनके इसको अपनाने की बहुत आवश्यकता है। सत्तेप में यह कहा जा सकता है कि व्यापारिक बैंकिंग और कृपि बैंकिंग के व्यवसाय के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार के बैंकिंग के व्यवसाय पर तनिक भी ध्यान नही दिया गया है।

अंग्रेज़ी प्रणाली की पूरी नकल

हमारी बैंकिंग अँग्रेजी प्रणाली की पूरी नकल है जिसके फल-स्वरूप सादगी के भारतीय आदर्श को पूरी तरह से ठुकरा दिया गया है। इसके फल-स्वरूप जो कठिनाइयाँ उत्पन्न हो गई हैं उनका तो अध्ययन हम कर ही चुके है। यही कारण है कि इस देश में बैंकिग गाँवों में नहीं फैल सकी है।

विदेशी भाषा का प्रयोग

यहाँ पर बैंक अँग्रेजी भापा का प्रयोग करते है। हम जानते कि यहाॅ के लोग पढे-लिखे ही नही हैं, अग्रेजी जानने की वात तो दूर रही। अतः, वे उनसे काम नही कर पाते। अँग्रेजी भापा के प्रयोग के कारण अग्रेजी जानने वाले लोगों की नियुक्ति की आवश्यकता पड़ती है और उनकी सख्या वहुत कम होने के कारण उनके चुनाव मे वड़ी कठिनाई पड़ती है।

विदेशियों का प्रभाव

भारतीय बैंकिंग पर विदेशियों का प्रभाव है और उनकी वास्तविक सहानुभूति भारतीयों से नहीं है। उनका उद्देश्य तो यहाँ लाभ कमाना है और यहाँ के लोगों को चूसना है। यह लोग न तो यहाँ विश्वास ही उत्पन्न कर सके है और न यहाँ की समस्याओं को ही सुलभा सके है। फिर, यह यहाँ के लोगों के साथ कोई निकटतम सम्बन्ध भी नही स्थापित कर सके है। ऐसा करना हर दृष्टि से आवश्यक है।

लोगों की कम आय

यहाँ की बैंकिंग की स्थिति इसलिये भी अच्छी नही है कि यहाँ के लोगों की आय बहुत कम है। उसकी धीमी उन्नति का कारण जितनी यहाँ की ग़रीबी है उतनी अन्य कोई बात नहीं है। जो लोग आयकर देते है उनकी संख्या और आय की औसत, जमा करने वालों की संख्या, और औसत जमा की जॉच करने पर यहाँ के उस क्षेत्र की संकीर्णता का अनुमान किया जा सकता है जिसमे बैंकों को काम करना है। बहुत से सुशिक्षित लोग और उच्चतम समाज मे रहने वालों के भी बैंको मे हिसाब केवल इसीलिये नहीं है कि वह उनमे न्यूनतम बैलन्स नही रख सकते। फिर, ऐसा भी है कि यह बैंक न्यूनतम बैलन्स रखने का ऐसा नियम क्यों रखते हैं जिससे बहुत से लोग उनसे लाभ नहीं उठा पाते है। किन्तु ऐसा इसलिये किया जाता है कि इससे उन सिद्धान्तों का पालन होता है जिनका पालन होना बैंकिंग की सफलता के विचार से बहुत ही आवश्यक है। बैंक इसीलिये न्यून बैलन्स निश्चित करते है कि उनके सदस्यों का एक न्यूनतम स्तर हो और उससे उनको इतना लाभ भी हो सके कि वह उन्हे रखने का अपना खर्च पूरा कर ले।

बैंकिंग में शिक्षा की कमी

बैंकिंग के सिद्धान्तो और प्रयोगों की शिक्षा पाये हुये भारतीयों की भी बहुत कमी है। १९ वीं शताब्दी के अन्त तक व्यवसाय तथा बैंकिग की शिक्षा का तो यहाँ पर पूर्णरूप से अभाव ही था। इधर कुछ वर्षो से अवश्य इसकी व्यवस्था हो गई है किन्तु अभी तक जितनी सुविधाये दी जा चुकी है लोग उनसे भी पूरा लाभ नहीं उठा

रहे हैं। इसमें सफलता मिलने के लिये बैंकों और विश्वविद्यालयों में एक प्रकार के सहयोग की बड़ी आवश्यकता है।

बैंकिंग के विधान की आवश्यकता

भारतवर्ष मे बैंकिग के एक पृथक विधान की भी बहुत आवश्यकता है। यहाँ का कम्पनी विधान ही यहाँ के बैंकों के ऊपर लागू है। इसमे सदेह नहीं कि अब इसमे बैंकिंग के सम्बन्ध की बहुत सी धारायें सम्मिलित कर दी गई है, किन्तु यह यथेष्ट नहीं है। रिजर्व बैंक ने एक पृथक बैंकिंग विधान बनाने के सम्बन्ध में प्रस्ताव रक्खे हैं और इस सम्बन्ध का एक बिल भी यहाँ की वैधानिक सभा के सामने है। आशा है कि इस सम्बन्ध का एक पृथक विधान बन जायगा।

बैंकों के संगठन की आवश्यकता

बैंकों का सगठन बहुत ही आवश्यक है। इसके उद्देश्य बैंकिंग के भिन्न-भिन्न वर्गों में अच्छे सम्बन्ध स्थापित करना, उनकी समस्याओं को सुलझाने के लिये उनके एकत्रित होने का प्रबन्ध करना, पारस्परिक प्रतिद्वन्दता कम करना, लेक्चरों और पढ़ाई का प्रबन्ध करके बैंक के कर्मचारियों को शिक्षा देना, पुस्तकालयों और वाचनालयों को रखना और पत्रिकाये, इत्यादि निकाल कर बैंकिंग सम्बन्धी साहित्य निकालना है। पश्चिमीय देशों मे इन्होंने अपने काम करने के ढंग में बड़ी उन्नति की है और लोगों मे सदाचार पैदा कर दिया है। ये आकस्मिक भय दूर करने मे बहुत ही सफल होते हैं। अतः इसलिये भी इनकी इस देश में बहुत ही आवश्यकता है।

प्रश्न

(१) भारतवर्ष की बैंकिग की प्रणाली में कौन-कौन से दोष हैं? इन्हे दूर करने के लिये उपाय बतलाइये।

(२) भारतवर्ष मे बिल क्यों नही चालू है? उन्हे अधिक चालू बनाने के लिये कौन से उपाय हैं?

(३) इस देश मे बैंको के फेल होने के कौन-कौन से कारण हैं? क्या इधर कुछ हालत सुधर गई है?

(४) देश की बैंकिग की प्रणाली मे जनता का विश्वास उत्पन्न करने के लिये कौन-कौन से उपाय है? क्या इधर इस सम्बन्ध में कुछ किया गया है?

परिशिष्ट 'अ'

बैंक की परिभाषा

Section 277 F of Indian Companies Act (1936)

A 'banking company' means a company which carries on as its principal business the accepting of deposits of money on current account or otherwise, subject to withdrawal by cheque, draft or order, notwithstanding that it engages in addition in any one or more of the following forms of business, namely

(1) the borrowing, raising or taking up of money, the lending or advancing of money either upon or without security, the drawing making, accepting, discounting, buying, selling, collecting and dealing in bills of exchange, hundis, promissory notes, coupons, drafts, bills of lading, railway receipts, warrants, debentures, certificates, scrips and other instruments, and securities whether transferable or negotiable or not, the granting and issuing of letters of credit, travellers cheques and circular notes, the buying, selling and dealing in bullion and specie, the buying and selling of foreign exchange including foreign bank notes, the acquiring, holding, issuing on commission, underwriting, dealing in stock, funds, shares, debentures, debenture stock bonds, obligations, securities and investment of all kinds, the purchasing and selling of bonds, scrips or other forms of securities on behalf of constituents or others; the negotiating of loans and advances, the receiving of all kinds of bonds, scrips or valuables on deposits or for safe custody or otherwise, the collecting and transmitting of money and securities,

(2) acting as agents for governments or local authorities or for any other person or persons, the carrying on of agency business of any description other than the business of a managing agent, including the power to act as attorneys and to give discharges and receipts,

(3) contracting for public and private loans and negotiating and issuing the same,

(4) the promoting, effecting, insuring, guaranteeing, underwriting, participating in managing and carrying out of any issue, public or private, of State, Municipal or other loans of shares, stock, debentures, or debenture stocks of any company, corporation or association and the lending of money for the purpose of any such issue,

(5) carrying on and transacting every kind of guarantee and indemnity business,

(6) promoting or financing or assisting in promoting or financing any business undertaking or industry, either existing or new, and developing or forming the same either through the instrumentality of syndicates or otherwise,

(7) acquisition by purchase, lease, exchange, hire or otherwise of any property immovable or movable and any rights or privileges which the company may think necessary or convenient to acquire or the acquisition of which in the opinion of the company is likely to facilitate the realisation of any securities held by the company or to prevent or diminish any apprehended loss or liability,

(8) managing, selling and realizing all property movable and immovable which may come into the possession of the company in satisfaction or part satisfaction of any of its claims;

(9) acquiring and holding and generally dealing with any property movable or immovable which may form part of the security for any loans or advance or which may be connected with any such security,

(10) undertaking and executing trusts,

(11) undertaking the administration of estates as executor, trustee or otherwise

(12) taking or otherwise acquiring and holding shares in any other company having objects similar to those of the company,

(13) establishing and suppor ing or aiding in the establishment and support of associations, institutions, funds, trusts and conveniences calculated to benefit employees of the company or the dependents or connexions of such persons, granting pensions and allowances and making payments towards insurance: subscribing to or guaranteeing moneys for charitable or benevolent objects or for any exhibition or for any public, general or useful object;

(14) the acquisition, construction, maintenance and alteration of any building or works necessary or convenient for the purposes of the company,

(15) selling, improving, managing, developing, exchanging, leasing, mortgaging, disposing of or turning into account or otherwise dealing with all or any part of the property and rights of the company;

(16) acquiring and undertaking the whole or any part of the business of any person or company, when such business is of a nature enumerated or described in this section,

(17) doing all such other things as are incidental or conducive to the promotion or advancement of the business of the company

---

परिशिष्ट 'ब'

इण्डीजेनस बैंकरों को रिज़र्व बैंक से सम्बन्धित करने के लिये योजना

The Reserve Bank of India addressed in May, 1937 to the Scheduled Banks and Shroff's Association a letter containing the following conditions which must be fulfilled by the indigenous bankers wishing to be linked directly with it:—

(i) They must confine their business to banking proper as defined by the Indian Companies Act. Any other business that they might be conducting should be wound up within a reasonable time.

(ii) They must maintain proper books of account, and have them audited by registered accountants. The Reserve Bank will have the right to inspect the accounts and call for any information necessary to determine the financial status of the banker

(iii) They must file with the Reserve Bank the periodical statements prescribed for scheduled banks. They must also, in the interest of their depositors, publish the returns prescribed for banking companies by the Companies Act and be liable to the same penalties for non-compliance.

(iv) The Reserve Bank will have the right of regulating the business of the bankers on banking lines, when necessary

(v) During a period of five years from the date of their registration as private bankers in the books of the Reserve Bank, they will be entitled to open an account at any of the offices of the Reserve Bank, and be otherwise subject to the same conditions as the scheduled banks except that during such period they will not be required to furnish the compulsory deposit set out in Section 42 of the Reserve Bank Act, unless any of their weekly statements discloses that their demand and time liabilities are five times more in excess of their capital in the business.

(vi) If an indigenous banker does not incorporate himself under the Companies Act, his liabilities in respect of his banking commitments will be unlimited He should, therefore, state the amount of capital he has available for banking business (Bankers with a capital of less than two lakhs need not apply)

(vii) When required they will have to indicate—

(a) The names and the extent of interest of their business partners if any, and

(b) If any of the bankers is a member of a Hindu joint family, the names and interests of the co-sharers In both the cases statements will be required from the co-sharers who are prepared to take their full share in the business and its liabilities

(*viii*) This scheme will be a tentative one for a term of five years, but before the end of this period the Reserve Bank will frame proposals for legislation, if it thinks fit, further to co-ordinate or regulate the position of the private bankers It is likely that such legislation would take the form of a separate Bank Act as suggested by the Banking Enquiry Committee or otherwise to standardise and co-ordinate the status of these registered private bankers on lines in consonance with the scheduled banks.

(*ix*) (*a*) If they satisfy the above conditions, they will have the privilege of rediscount with the Reserve Bank against eligible paper, the right to secure advances against government paper, and remittance facilities similar to those for scheduled banks

(*b*) If the Reserve Bank decides to take action on the lines here indicated, legislation will be necessary and the indigenous bankers will then be called upon to make an application in the manner which may then be prescribed

---